सामंत वीजगुप्त

लेखक—

वनकाम सुनील

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
नवम्बर—१९५६
मूल्य ४॥)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुज़फ्फर खाँ, आगरा।

किसी चित्र को देखा, आँखें उसे देखती ही रह गईं। पर चित्र के अपरूप सौन्दर्य्य में भी जैसे कुछ खटक उठा; किसी रेखा को देखकर मुख से सहसा निकल पड़ा, "उफ ! यहाँ कैसे चूक गया कलाकार !"

× × × ×

पाप और पुण्य की समस्या नई नहीं है; समाधान भी नवीन नहीं कहा जा सकता। एक ओर श्री भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' है, दूसरी ओर मेरा यह 'सामन्त बीजगुप्त'। और चूँकि मानव जीवन तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों में एक विशिष्ट तीव्र आग्रह है, मैं भी यह कुछ लेकर प्रस्तुत हुआ हूँ।

महाशिवरात्रि २०१२ वि०
आगरा।

[signature]

परिचय

सूनसान राजमार्ग, अँधेरी रात्रि, प्रकाश-स्तम्भों के शिखर पर चमकने वाले आलोक के सीमित घेरे—धरती पर जैसे चँदवों की पंक्ति बनी थी। एक स्त्री गंगातट की ओर चली जा रही थी। मन्द वायु से उसका उत्तरीय लहराता, प्रकाश में आने पर उसकी फरफराहट दीख जाती, लग उठता जैसे वह उस स्त्री-हृदय के वैकल्य का प्रदर्शन करता हो। उसके हाथ लटकते न थे, जैसे उनके सहारे, अंक में कुछ भरे ले जा रही थी। धीरे-धीरे मार्ग के दोनों ओर खड़े हुए गृह, उच्च अट्टालिकायें पीछे रह गईं। देव-मन्दिरों के बीच में होकर राह आगे चली। उसी पर वह स्त्री भी बढ़ी। आगे जाकर दूर तक गंगा के प्रवाह में नीलपटी पर टँके तारों की झलमलाहट दिखाई देती थी, और अन्धकार में छिपा हुआ उसका तट भयानक लग रहा था। किन्तु उस स्त्री को जैसे कोई भय नहीं, वह उसी निर्जन, निस्तब्ध प्रदेश पर पैर बढ़ाती गई।

एक स्थल पर जाकर वह रुकी। उसने देखा—एक ओर गंगा का प्रवाह है; वह जहाँ खड़ी थी, वहीं नीचे उसकी विकराल दह है; दूसरी ओर अश्वत्थ का एक विशाल वृक्ष। उसके पल्लवों की फड़फड़ाहट शब्द करती थी; उसी से आकृष्ट होकर वह उसी वृक्ष के नीचे पहुँची, अपने अंक-भार को धरती पर गिरे हुए पल्लवों को समेट कर उसने रख दिया। और उसने एक दीर्घश्वास खींची; फिर वह वहाँ क्षण-मात्र को भी न रुककर गंगा-दह के ऊपर जा खड़ी हुई। उसने भागीरथी को कर जोड़कर प्रणाम किया। आँखें बन्द करलीं। सहसा तभी उसे कुछ शब्द सुनाई पड़ा, लगा जैसे कोई नौका खेई जा रही हो; उसकी आँखें खुल गईं, गंगा-वक्ष पर देखा—एक विशाल नौका संयान-पथ पर बढ़ रही थी। वह कुछ द्विविधा में पड़ी-सी दीख पड़ी। क्या करे?

वह उस नौका को आगे बढ़ जाने देने तक के लिये वहाँ से हट गई।

उसी समय आकाश में चन्द्रोदय हुआ था, चारों ओर प्रकृति पर मन्द आभा फैल उठी थी। नौका-कक्ष के ऊपर लेटे हुए एक तरुण व्यक्ति ने, जिसकी आँखों में नींद नहीं थी, तट पर सहसा आकर खड़ी हुई और फिर हट गई स्त्री मूर्त्ति को देख लिया। उसने ऊपर से झुककर डाँड़ चलाने वाले माँझियों से मन्द स्वर में कहा, "नौका तट से लगाओ।"

आज्ञा पालन हुई। नौका कुछ दूर चलकर किनारे से लगी। वह युवक नौका त्याग कर स्थल पर आया। तभी वह स्त्री उसे पुनः दह के ऊपर दिखाई पड़ी। वह गंगा में गिर पड़ना चाहती थी। यह देखकर वह उसकी ओर दौड़ते हुए चिल्लाया, "ठहरो कल्याणी!"

स्वर तीव्र था, वायुमण्डल में फैल गया। वह स्त्री रुकी।

शीघ्रता से वह पुरुष भी दौड़कर पास आया। स्त्री बोली, "क्या इस अभागिन से आपको कोई कार्य है?"

स्वर रूखा था। वह व्यक्ति जहाँ था, वहीं ठिठक गया। उसने कहा, "इस प्रकार मृत्यु का आलिंगन करने को सचेष्ट मनुष्य से भला किसे काम नहीं होगा देवि? क्या इस प्रकार अपने जीवन को नष्ट कर देने का अधिकार तुम्हें है?"

"किसको क्या अधिकार है, क्या नहीं, मैंने अब तक के जीवन में यह सब कुछ देख लिया है। मुझ अभागिन को अब इस पर कुछ भी विचारने की इच्छा नहीं भद्र! आप पधारिये। इस अन्तिम समय में मैं किसी से कोई दुर्वचन नहीं कहना चाहती।"

और वह एक पग आगे बढ़ी।

उस पुरुष ने एक पग भी आगे नहीं बढ़ाया। वह जहाँ खड़ा था, वहीं से उसने कहा, "दुर्वचन क्यों कहोगी देवि? उससे क्या हृदय को शान्ति मिलती है? और वह भी परिचित और अपरिचित का भेद त्याग कर!"

स्त्री ने पुरुष की ओर मुँह नहीं फेरा; दह में भी नहीं कूदी। यों ही खड़ी रहकर कहा, "हाँ। क्योंकि मुझ से अपरिचित लोगों ने भी क्या नहीं कहा? मेरी कैसी भर्त्सना नहीं की? मुझ पर कौन सा कलंक उन्होंने नहीं

लगाया ? तुम नहीं जानते कि मैं क्या हूँ और यदि जानते भी हो तो इस समय सम्भवतः पहचान नहीं पा रहे। मैं, एक गर्हित कर्म, जिसमें गृहस्थ पुण्य समझ कर लीन रहते हैं, करने वाली पापिन हूँ।"

पुरुष हँस दिया—एक सरल भाव से सहसा मुख पर छा जाने वाली हँसी। स्त्री व्यथित थी। उसने तीव्र कण्ठ से कहा, "हँसते हो तुम।" फिर क्षणमात्र में शान्त भाव में आकर बोली, "हँसो। मैं जानती हूँ कि मैंने कोई पाप नहीं किया। कुमारी थी; किन्तु एक दिन हर एक कुमारी के जीवन में ऐसा आता है कि उसका कौमार्य भंग होता है, जीवन के द्वितीय सोपान पर वह चढ़ती है; मैंने भी वही किया। एक दिन सभी गृहस्थ बनती हैं, मैंने भी उसी कर्त्तव्य का पालन किया; एक बालक को जन्म दिया। ठीक पति को नहीं पा सकी, न सही। क्या प्रत्येक स्त्री का स्वामी वीर होता है ? मुझे भी अपने कायर प्रेमी से कोई उपालम्भ नहीं। मेरे जीवन धारण करने से मेरे सम्बन्धी और समाज दुखित हैं. इस कारण मुझे जाना ही चाहिये।"

यह सुनकर उस युवक ने तत्काल ही कहा, "ठहरो देवि! वह अपूर्व साहस जिसने तुम्हारे हृदय को माता का महान उत्तरदायित्व सम्हालने का बल प्रदान किया, क्या समाप्त हो गया ? वह अनबुलाये क्षण, जिनमें तुम्हारा उर किन्हीं कोमल स्वप्नों में विहार करने को उतावला हो उठा होगा, क्या तुम्हें अभी भी स्मरण हैं ? आज भी क्या तुम्हें विश्वास है कि जीवन के अन्तिम क्षण तुम अपने आप बुला सकोगी ? मृत्यु को निकट समझती हो तो अवश्य ही आगे बढ़ो। अपने जीवन की समाप्ति से इस संसार की हँसी का उपहास उड़ा सकती हो, अपने शरीर का अन्त करके यदि किसी में कोई ठोकर मार सकती हो तो अवश्य ही आगे पग बढ़ाओ। अपने पैरों पर दृढ़ होकर खड़े हो जाने का साहस नहीं तो तुम्हारे सामने गंगा-दह है, कूद पड़ो। गंगा माता चाहेंगी तो अवश्य ही उनकी गोद में तुम्हें जगह मिल जायगी।"

इतना कहकर, वहाँ, क्षणभर वह और रुका, फिर लौटने के लिये मुड़ा।

सुनकर उस स्त्री के हृदय में हलचल हो उठी। उसने उस जाते हुए युवक को देखा, फिर तट के नीचे गहन दह पर दृष्टि डाली।

कुछ दूर चलकर सहसा वह युवक खड़ा हुआ, वहीं से मुड़कर बोला,

"देवि ! मुझे यहाँ काशी में कुछ कार्य करते हुए प्रभात में ही कान्यकुब्ज जाना है, इस कारण तुमसे अधिक कुछ कह सकने के लिये मेरे पास समय नहीं है; हर समय बिना कुछ सोचे समझे ही करते रहने की तुम्हारी प्रवृति है तो कुछ और कहना भी व्यर्थ होगा। अच्छा !—हाँ ! यदि कभी आवश्यक समझो तो पाटलिपुत्र चली आना, बीजगुप्त तुम्हारा अभिनन्दन करेगा।"

स्त्री ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

बीजगुप्त वहाँ से चलकर नौका पर जा बैठा। नाव उसे लेकर नगर की ओर चल पड़ी। धीरे-धीरे वह गंगा-वक्ष पर सन्तरण करती हुई उस स्त्री के दृष्टिपथ में आई। वह उसे एकटक हो देखने लगी। फिर उसने एक दीर्घ-श्वास खींचकर गगनमण्डल में देखा। चन्द्र और ऊपर चढ़ आया था। कालिमा में रंगीरंगी-सी प्रकृति का रूप और भी उज्ज्वल हो उठा था। विपत्तिकाल की मोहबुद्धि से प्रच्छन्न उस नारी का हृदय भी जैसे करवट ले उठा। उसने पुनः दूर पर दीखने वाली नौका पर दृष्टि डाली। वह क्षण जिनमें उर किन्हीं कोमल स्वप्नों में विहार करने चल दिया था, क्या वास्तव में उसने बुलाये थे ? वह स्मरण कर उठी। उसने दौड़कर अश्वत्थ के नीचे पड़े अपने बालक को उठा लिया। उसे हृदय से लगाकर रो उठी। चन्द्र को मेघखण्ड ने आकर ढँक लिया, प्रकृति की छटा फीकी पड़ गई।

वह जिस मार्ग पर आई थी, उसी पर लौट चली। कुछ दूर चलकर आँसू उसने पोंछ लिये। मेघाच्छादन से चन्द्र भी निकला। तब लगा जैसे उस युवती का उदास मुख किन्ही विचार-चित्रों की-सी छवि बनकर चन्द्रिका में जगमगा उठा। क्या किया है उसने ? इसका निर्णय करने का साहस क्या वह खो बैठी ? क्या प्राण त्याग देने से इस विश्व में उसके अस्तित्व का मोह करके कोई रोयेगा ? या उसकी कायरता पर लोग आज की ही भाँति ठहाका मारकर हँसेंगे ! संसार की हँसी का उपहास ! जैसे किसी ने उसे चैतन्य किया था। वह चलते-चलते दूर तक गंगा की धार को देख उठी। तभी सहसा उसका बालक रो उठा; किन्तु माँ ने उसे तुरन्त ही वक्ष से चिपका लिया। हृदय उमड़ आया, और मुख से उच्छ्वास भरा स्वर निकला, 'मेरे लाल !'

वह लौटकर पुनः नगर में पहुँची । गंगाघाट पर रुकी । बालक तब सो गया था । उसने न जाने क्या सोचकर बालक को एक मन्दिर की सीढ़ियों पर लिटा दिया । और बन्द पटों के भीतर सुसुप्त, किन्तु विश्वास के पटों में सदैव जाग्रत रहने वाले देवता को प्रणाम किया । आँसू पोंछे और शीघ्रतासे इधर-उधर देखकर मन्दिर के पीछे फैले हुए अँधेरे में चली। सहसा वह ठिठकी । उसे बीजगुप्त का स्वर सुनाई पड़ा । घाट पर उसकी नौका लगी थी और वह अपने ही साथियों से कह रहा था, "अब मैं स्थल मार्ग से ही कान्य-कुब्ज जाऊँगा, और आप लोग मेरे काशी लौटने की भी प्रतीक्षा न करें ।"

बीजगुप्त वहाँ से चला गया ।

उस स्त्री ने एक दीर्घ निश्वास त्याग दिया; वह उस अन्धकार में ही चल पड़ी ।

शीतकाल का आरम्भ था । मीठी-मीठी ठण्ड पड़ती थी ; किन्तु सीढ़ियों पर पड़े नग्न प्रायः से उस शिशु के लिए वही बहुत थी । कुछ काल तक शांत भाव से पड़े रहने के उपरान्त ही उस बालक ने हाथ-पैर फेंकना आरम्भ कर दिया । चीत्कार भी फैला । उसके रुदन-स्वर से वह प्रदेश भर गया ।

ब्राह्म महूर्त था । प्रभात होने में अधिक देर नहीं थी । उस घड़ी में गंगा स्नान करने वाले वहाँ दीखने लगे थे । पहले उसके निकट वही आकर खड़े हुए । फिर तो मंदिरों के परिचारक, पुजारी तथा वहाँ ठहरे हुए अन्य लोगों का भी धीरे-धीरे जमघट हो चला । एक पुजारी ने करुणा-द्रवित होकर उस बालक को गोद में उठा लिया । गोद में पहुँचते ही वह चुप हो गया । यह देखकर किसी ने व्यंग्य किया, "आश्चर्य ! कहीं इस बालक ने पिता की गोद पहचान तो नहीं ली !"

फिर वह हँस पड़ा । उसका अनुकरण कर और भी लोग हँसे । पुजारी ने विषण्ण दृष्टि से उन्हें देखा और झटपट बालक को वहीं सीढ़ी पर रखकर एक ओर चला गया । वह पुनः चीत्कार कर उठा ।

हँसी का दूसरा ठहाका उठा । बालक का रुदन स्वर उसी के बीच दब गया ।

अब उस कोमल शिशु को द्रवीभूत होकर कोई गोद में उठा ले,

किसी में साहस नहीं था । कुछ लोगों के हृदय में करुणा जाग्रत हो रही थी, किन्तु वह आगे बढ़कर उन ठहाका मारने वालों के सामने अपने मन को कर लेने को प्रस्तुत नहीं, उन्हें उनके इस व्यवहार पर कुतूहल था, विस्मय भी हो रहा था, साथ-साथ कुछ घृणा का भाव भी उनके प्रति जाग्रत हो रहा था। धीरे-धीरे एक वृद्ध पुरुष ने, जिनकी दाढ़ी नाभि तक लटकती थी, बाल श्वेत हो गये थे, आकर उस बालक को उठाया। विस्मय से सभी उन्हें देख उठे। उन्होंने कहा, " क्या काशी के धर्मात्माओं के हृदय में भी इस कोमल शिशु का उपहास उड़ाकर हर्ष उत्पन्न होता है ? क्या इस अनाथ बच्चे के पालन-पोषण का भार लेने का साहस उनमें नहीं है ?"

सुनकर एक व्यक्ति ने गंभीर स्वर से कहा, "महाभाग देवधर की पापा-चारिणी कन्या तिष्या की कोख से जन्मे इस कुलदीपक का आप ही निस्तार कीजिये भगवन् !"

फिर वह हँस पड़ा। और भी कई लोग हँसे।

और जिन लोगों के हृदय में उनके प्रति घृणा का भाव घुमड़ उठा था, उन्होंने भी सहसा ही उस भाव को शान्त कर दिया। फिर जैसे आश्चर्य से परस्पर फसफसाये, "महाभाग देवधर की कुमारी कन्या का पुत्र।" जैसे उनके हृदय की भी करुणा ठण्डी पड़ गई।

उन वृद्ध पुरुष ने उत्तर दिया, "ऐसा ही होगा।"

फिर समीप ही खड़े हुए दो ब्रह्मचारियों की ओर देखकर बोले, "विशालदेव ! इसका लालन-पालन अब आश्रम में ही होगा।"

विशालदेव ने उस रोते हुए बालक को आगे बढ़कर ले लिया।

तभी एक युवा योगी ने वहाँ खड़े हुए लोगों में से निकलकर कहा, "महाप्रभु रत्नाम्बर ! समाज के इस कलंक से आपको यह कैसा मोह हो रहा है ? जिस पाप कर्म की लज्जा ने इसके माता-पिता को भी इसे त्याग देने को विवश कर दिया, उसके पालन पोषण में किसी भी व्यक्ति को पुण्य की प्राप्ति होगी, ऐसा मैं नहीं समझता। किसी दण्डधर को बुला कर इसे सौंप देना ही उचित होगा ; राज्य की ओर से ऐसे बच्चों के लिये अच्छी व्यवस्था है।"

पाटलिपुत्र के उन प्रख्यात आचार्य का नाम काशी के लिये भी नवीन नहीं था। वहाँ खड़े हुए बहुत-से लोगों ने भी उनका नाम सुना था। शोण और गंगा के संगम से दो योजन दूर एकान्त में स्थित उनका आश्रम अति रमणीय था। रत्नाम्बर के शिष्य अच्छे-अच्छे राजपुरुष थे। बहुतों ने मन ही मन उन्हें प्रणाम किया।

रत्नाम्बर ने उस योगी की ओर देखा; वह मुस्कराये, फिर कहा, "योगिराज! यह मोह नहीं; उसे संयोग कहना उचित होगा। जिस पर जिसका पालन-भार होता है, परस्पर उनका संयोग हो ही जाना चाहिये। फिर मेरे शिष्य विशालदेव और श्वेतांक अपने-अपने पाठ समाप्त कर चुके हैं, वह मेरी इस तीर्थ यात्रा से लौटते ही आश्रम त्याग कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे। अच्छा ही हुआ, यह बालक मिल गया, मन बहला रहेगा। इसमें पाप-पुण्य कैसा?"

योगी हँसा। उसने कहा, "पाप और पुण्य की श्रृंखला में आबद्ध चराचर का यह जीवन ब्रह्म की महिमा का विस्तार बनकर फैल रहा है महाप्रभु! आप अपने कर्म पर आघात होते देख इस आडम्बर मयी वाणी का सहारा लेकर क्यों स्वयं को छलते हैं?"

उस प्रहार को रत्नाम्बर ने मुस्कराकर ही सहन कर लिया। उन्होंने वहाँ से चलते हुए कहा, 'योगी कुमारगिरि! अपदार्थ और कलंक समझ कर फेंके गये बालक को पाने के लिये भी मुझे आडम्बरमयी वाणी का सहारा लेना होगा! आश्चर्य है!"

वहाँ एकत्र हुई भीड़ पर उस वाद-विवाद का प्रभाव फैल चुका था। उसमें से दो वृद्ध महाप्रभु के समीप आये। एक ने कहा, "महाप्रभु! यहाँ से कुछ दूर गंगा-तट पर हम वानप्रस्थियों का एक आश्रम है। यदि आप कृपा करें तो इस बालक का पालन-भार हम लेने को प्रस्तुत हैं।"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं।" महाप्रभु ने उनकी ओर देखकर कहा।

"और यदि प्रभु की कृपा हो जाय तो हमारे साथ आश्रम में पधार कर हमें धन्य कीजिये।" दूसरे आश्रमवासी ने कहा।

महाप्रभु ने कहा, "मुझे ऐसा करने में भी प्रसन्नता होगी।"

सुनकर वह दोनों वानप्रस्थी प्रसन्न हुए।

कुमारगिरि जैसे रत्नाम्बर के उत्तर से आहत हो उठा था। उनका प्रभाव देखकर वह और भी विक्षुब्ध हो उठा। किन्तु वह उनसे शान्त स्वर में ही बोला, "महाप्रभु! किसी के पंकिल जीवन का यह प्रसाद क्या समाज के लिये कल्याणकारक हो सकेगा? देव! दया का पात्र कौन होना चाहिये, कौन नहीं, क्या इस पर विचार आवश्यक नहीं है? अपने पाप-रूप रमण के फल को महाभाग देवधर जैसे आचार्य की कन्या भी अपने हृदय से लगाकर न रख सकी; क्या वह आप जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा पालनीय है? आप जैसी महान विभूतियों द्वारा ऐसे कर्म संपन्न होते देखकर लोक में दुराचार को प्रोत्साहन मिलेगा। मैंने इसीकारण उसपर आघात किया प्रभु!"

महाप्रभु रत्नाम्बर कुछ कहना ही चाहते थे कि तिष्या ने कहीं से दौड़ते हुए आकर विशालदेव के हाथ से बालक ले लिया; फिर जैसे हाँफते हुए उसने कहा, "हाँ! नहीं! यह किसी के द्वारा पालनीय नहीं है। भला आचार्य देवधर का प्रभाव भी जिस पापिन के दुराचार पर पर्दा नहीं डाल सका, उसके फल पर किसकी कृपा होगी? उसे किसी की कृपा नहीं चाहिये", इतना कहकर वह क्षण भर को चुप हो गई। महाप्रभु रत्नाम्बर ठिठक गये थे; उसी की ओर देखते थे। तिष्या ने भी उन्हीं की ओर देखकर करुण स्वर में कहा, "आप भी इस बालक का मोह छोड़िये महाप्रभु! लोक मेरे पापाचार को कुरेदे, उसके छींटे किसी और पर भी पड़ें, मैं नहीं चाहती।"

रत्नाम्बर ने कुछ भी नहीं कहा।

तिष्या अपने बालक को लेकर वहाँ से जाने लगी। कुछ क्षण तक रत्नाम्बर उसे जाते हुए देखते रहे, फिर एक पग भी आगे न बढ़कर उन्होंने वहीं से कहा, "ठहरो बेटी!"

तिष्या जहाँ थी, वहीं रुक गई। रत्नाम्बर उसके निकट आये। उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा, "आचार्य देवधर विद्वान हैं; उनकी सन्तान भी वैसी ही सुनी जाती है। तुम उन्हीं की पुत्री होकर इस व्यर्थ की पीड़ा से क्यों क्लेश पा रही हो? बताओ तो। ज्ञान का आश्रय लेकर उससे

मुक्त होने की चेष्टा करो। और जो कुछ हो गया है, उसका उत्तरदायित्व सम्हालने की शक्ति एकत्र करो।"

सुनकर तिष्या को जैसे कुछ शान्ति मिली।

और लोग विस्मय से एक दूसरे की ओर देख उठे।

तिष्या की आँखों में आँसू आ गये। उसने एक बार आकाश की ओर देखा। फीके पड़ गये तारागण व्यथा से रहित-से हो गये अपनी आँखों के जल-बिन्दुओं के समान ही उसे प्रतीत हुए।

महाप्रभु ने उन वानप्रस्थियों की ओर देखा। फिर कुमारगिरि को देख कर कहा, "आओ योगिराज।"

कुमारगिरि ने कहा, "मैं कुछ काल तक काशीवास करूँगा, आप प्रस्थान कीजिए"

रत्नाम्बर ने विस्मय से उसकी ओर देखा, फिर हँसकर कहा, "क्या हम लोगों की यह तीर्थयात्रा साथ-साथ आरम्भ होकर साथ-साथ ही समाप्त न होगी?"

कुमारगिरि ने क्षणमात्र को चुप रहने के उपरान्त उत्तर दिया, "महाप्रभु! इसका मुझे खेद है। तिष्या को आपने अपने साथ ले लिया है, संभव है वानप्रस्थियों के आश्रम में इसे आश्रय मिले और न मिले। और तब सम्भव है आपको ही इसे पाटलिपुत्र लेकर साथ जाना पड़े, इस कारण मैं आपसे अलग हो जाना ही उचित समझता हूँ।"

रत्नाम्बर ने उससे कुछ नहीं कहा। तिष्या उनकी ओर देख उठी। वह भी उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसे देखने लगे।

कुमारगिरि एक ओर चला गया।

महाप्रभु रत्नाम्बर तिष्या को साथ लेकर अपने शिष्यों सहित नौकारूढ़ हुए। वानप्रस्थी उन्हें ले चले।

नगर से कुछ हटकर गंगातट पर बसे उस आश्रम तक पहुँचने में उन्हें समय नहीं लगा। महाप्रभु को लिवाकर लाये हुए वृद्धों से रत्नाम्बर का परिचय प्राप्त कर सभी ने हर्ष प्रकट किया। तिष्या उनके बीच संकुचित-सी खड़ी हुई। विवर्ण वस्त्र से ढँके हुए अपने बालक को वह देखती थी। रत्ना-

म्बर ने उन वानप्रस्थी स्त्री-पुरुषों से उसे दिखाकर कहा, "क्या आप लोग इसे अपने आश्रम में स्थान देंगे?"

किसी के कुछ भी उत्तर देने से प्रथम ही रत्नाम्बर ने तिष्या के सिर पर भी हाथ फेरकर कहा, "तिष्य! सांसारिक भोगों से उपराम हुए इन आश्रम-वासियों से तुम्हें सहज स्नेह प्राप्त हो जायगा।"

पुरुषों से भी पहले वहाँ खड़ी स्त्रियाँ तिष्या को घेर लेने को तत्पर हुईं। उसकी गोद से उसके शिशु को एक वृद्धा ने लेते हुए कहा, "कैसा प्यारा है?" फिर सहसा चौंक कर बोली, "अरे! इसे तो ज्वर है।"

उस बालक को औरों ने भी देखा। एक की गोद से दूसरी के हाथों पर होता हुआ वह बालक, वहाँ जितनी वृद्धायें थीं, सभी की अंक में घूम आया। सभी उसे ज्वर-ग्रस्त देखकर अपने आँचल का स्नेह प्रदान करने को उत्सुक हुईं। यह देखकर रत्नाम्बर ने सुख की साँस खींची, फिर अपने शिष्यों की ओर देखकर कहा, "अब हम निश्चिन्त हुए।"

आश्रमवासी उन गुरु-शिष्यों को घेरकर एक बड़ी-सी पर्णकुटी की ओर ले चले। आगे-आगे पुरुष थे, पीछे-पीछे तिष्या को साथ लिये हुए स्त्रियाँ।

सहसा एक वृद्धा ने तिष्या से पूछा, "तुम्हारा पति कहाँ है शुभे?"

तिष्या कुछ क्षण को चुप रही। वृद्धाओं ने समझा वह लजा गई। तो भी उन्हें उसके उत्तर की आशा थी। तिष्या ने उत्तर दिया," यहीं, काशी में।"

दूसरी ने कहा, "फिर तुम यहाँ कैसे? पति से विलग और वह भी इस वेश में।"

तिष्या ने शीश झुका लिया। मर्मांतक पीड़ा हृदय में व्याप्त हो गई। उसने कुछ नहीं कहा। स्त्रियों को कुछ शंका हुई। उन्होंने उसे ध्यान से देखा। किसी ने पूछा, "तो पति ने तुम्हारा परित्याग कर दिया है!"

तिष्या और भी कुछ क्षण चुप रही। फिर सिर झुका कर उसने दृढ़ स्वर में कहा "हाँ! मैं कुल और समाज द्वारा भी त्याग दी गई हूँ। स्वामी ने विधिवत् मेरा पाणिग्रहण नहीं किया था।"

सुनकर वह स्त्री-समाज स्तब्ध रह गया। सभी के मुख से सहसा निकला, 'फिर यह बालक!"

तिष्या ने कहा, "मेरा है।"

"तुम पतिता हो।"

वातावरण कुछ उत्तप्त-सा हो उठा। तिष्या के गात में जैसे असंख्यों शूल गड़ गये। उसने सिर ऊपर नहीं उठाया। उसने नहीं देखा कि वह स्त्रियाँ जो बालक को इतने प्यार से लिये हुए थीं, कितनी घृणा और तिरस्कार से उसे उसकी गोद में देकर आगे बढ़ीं। व्यग्रता से कइयों ने महाप्रभु रत्नाम्बर के निकट जाकर कहा, "महाप्रभु! वह पतिता है।"

तिष्या पीछे रह गई—अकेली-सी। साथ की अन्य स्त्रियाँ भी जैसे उसे छोड़कर आगे या पीछे रह जाना चाहती थीं।

महाप्रभु रत्नाम्बर रुक गये। उन्हें घेरकर चलने वाले वानप्रार्थी पुरुषों की भीड़ स्तब्ध-सी हो उठी। रत्नाम्बर ने कहा, "हाँ! मैं जानता हूँ देवियो! वह दुखी है।"

प्रतिवाद हुआ, "नहीं गुरुदेव! वह पापिन है। उसने कौमार्यावस्था में ही स्वच्छन्द होकर एक बालक को जन्म दिया है।"

अब तिष्या नितान्त अकेली रह गई थी। उसका ज्वरपीड़ित बालक उसके गात को ऊपर से जलाये देता था, भीतर से वह उन बातों से जली जाती थी। पीछे खड़ी थी; आँखें ऊपर न उठाती थी।

महाप्रभु ने उसी की ओर देखकर उन स्त्रियों की बात का उत्तर दिया, "फिर क्या हुआ?"

सुनकर सबने एक दूसरे के मुख की ओर देखा। तिष्या को भी देखा। वह शान्त, सिर झुकाये जैसे बालक को भी नहीं देखती थी।

एक वृद्ध ने कहा, "किन्तु महाप्रभु! क्या वैसा करना उसे उचित था?"

"लोक-माया की प्रतिष्ठा का झूठा अभिमान!" कहते हुए महाप्रभु ने एक दीर्घश्वास खींची, फिर मन्द स्वर में कहा, "निरीह व्यक्तियों के कर्मों का लेखा-जोखा कर उनके नियामक बन जाने की चेष्टा, और उन सांसारिक

आडम्बरों का मोह, जिन्हें छोड़कर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने आये हो, क्या तुम्हें अभी भी सताता है ? आप सबने तो निस्प्रह हो जाने की इच्छा से यह जीवन अपनाया है।''

''क्या हम पापात्माओं को आश्रय दें भगवन् ? सहानुभूति प्रदर्शित कर हृदय से लगायें ! क्या उन्हें चारों ओर से प्राप्त तिरस्कार, घृणा, भर्त्सना में जलते रहने देकर प्रायश्चित न करने दें ?'' एक वृद्ध ने कहा।

''जो तुम्हारे पास आ गया है आज तुम उसके उत्ताप को कम कर सकते हो या नहीं, उसके दुखी जीवन में शान्ति का प्रवाह ला सकते हो या नहीं, हृदय खोलकर उसे शरण दे सकते हो या नहीं ; आज तो तुम्हारे पास इससे अधिक विचारने के लिये समय ही कहाँ रहा है ? उचित और अनुचित की बात सोचने का भार अब तो विधाता पर डाल दो।'' रत्नाम्बर ने कहा।

सुनकर कोई कुछ न बोला।

तिष्या तब जैसे कुछ भी नहीं सुनती थी। चारों ओर उसे शून्य-सा बिखरा जान पड़ता था। आँखों को जैसे उसी में अटकाये थी। सहसा बालक रो उठा। उसे जैसे चेत हुआ। उसने उसे दुलराया। किसी ओर देखा नहीं। रत्नाम्बर ने उसे देखकर कहा, ''किन्तु इस बालक के स्वस्थ होने तक तो यहाँ हमें आश्रय मिलना ही चाहिये।''

यह सुनकर एक वृद्ध ने आगे बढ़कर कहा, ''हमारा अपराध क्षमा करें महाप्रभु ! तिष्या को इसी आश्रम पर रहने की आज्ञा दीजिये।''

रत्नाम्बर ने क्षणभर तिष्या की ओर देखा, फिर कहा, ''अच्छा।''

× × ×

दूसरे दिन ब्राह्ममहूर्त में शिष्यों सहित महाप्रभु रत्नाम्बर ने उस आश्रम के वासियों से विदा मांगी। चलते-चलते वह उसी कुटी के द्वार पर जिसमें तिष्या को आश्रय मिला था, रुके; किन्तु भीतर न जाकर साथ के आश्रम-वासियों से कहा, ''वह बेचारी बहुत दुखी है, आप सब उसके प्रति दयाभाव ही रक्खें। उसके बालक की दशा भी ठीक नहीं है, मैं इस कारण रुक भी जाता परन्तु पाटलिपुत्र में शीघ्र ही राज्योत्सव होने को है और उसमें सम्मिलित होने

का राजगुरु चाणक्य का अनुरोध मैं टाल नहीं सकता, इसलिये जाना पड़ रहा है।"

एक वृद्ध ने कहा, "आप चिन्ता न करें महाप्रभु!"

रत्नाम्बर जैसे सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कुटी के भीतर भी अन्धकार की ओर देखा और कहा, "संभवतः उसकी आँख लग गई है, उसे जगाना नहीं चाहिये।"

प्रत्युत्तर में किसी ने कुछ नहीं कहा; वह वहाँ से चल दिये। आश्रमवासी उनके साथ चले। आश्रय शून्य हो गया।

किन्तु तिष्या की कुटी में तो महाशून्य छाया था। उसी अँधेरे में से तिष्या कुछ समय बाद निकली। चन्द्रिका के धुँधले अलोक में उसका विक्षिप्त-सा वेश और भी संतप्त जान पड़ता था। उसकी आँखों का शून्य जैसे विकराल हो रहा था; पलक गिरते न थे।

उसके हाथों पर उसका शिशु निश्चेष्ट हुआ-सा लेटा था। कोई भी क्रिया करने वाली चेतना उसके अंगों से निकल गई जान पड़ती थी।

तिष्या धीरे-धीरे उसे गंगा-तट पर लेकर जा पहुँची और चुपचाप गंगा की गोद में उसे समर्पित कर दिया।

फिर फफक-फफक कर रो उठी।

किन्तु वहाँ बैठी नहीं, रुकी भी नहीं। जिधर उसके पाँव उठे, उधर ही चल दी।

अब वह जग में अकेली थी।

सूर्योदय होने पर उसने देखा—उसकी आँखों के सामने प्रशस्तमार्ग था। दूर तक दीखने वाला लम्बा, इधर-उधर फैला हुआ चौड़ा। वह उसी के बीच में जैसे भागी चली जा रही थी। कहाँ? वह नहीं जानती। क्यों? उसे नहीं विचारना।

अकस्मात् उस इस तरह की चली जा रही को एक ओर हटाने के लिये शब्द हुआ, "हटो सामने से।"

परन्तु वह नहीं हटी।

पुनः शब्द हुआ, "हटो, हटो।"

किन्तु उसने नहीं सुना ; नहीं सुना ।

पीछे दौड़ने वाले किसी यात्री के रथ उसके सिर पर भी आ चुके, तब भी वह जैसे चल रही थी, वैसे ही चलती रही । रथ ठिठक कर खड़े हुए । आगे के रथ के सारथी ने चिल्ला कर कहा, "क्या सुनती नहीं हो ? हटो सामने से ।"

उसी क्षण रथ पर पड़े परदे को हटाकर भीतर बैठी एक सुन्दरी ने सारथी से पूछा, "क्यों ? क्या बात है ?"

सारथी ने कहा, "सामने एक पगली स्त्री चली जा रही है ।"

तिष्या के कान में जैसे कुछ भनक पड़ गई । उसने सारथी का वचन सुन लिया । वह मुड़कर खड़ी हो गई । उसने मुड़कर कहा, "हाँ, मैं पगली हूँ । मैं विक्षिप्त हूँ ।"

रथारोहिणी सुन्दरी ने उसे अपने समीप बुलाकर पूछा, "क्या तुम बहुत दुखी हो ?"

तिष्या कुछ न कहकर कुछ देर तक उसे देखती रही, फिर धीरे-से बोली, "काशी की महानर्तकी ! महामाया ।"

"हाँ ! मैं पाटलिपुत्र जा रही हूँ । पर तुम कौन हो ?"

तिष्या ने एक निश्वास त्यागकर कहा, "महाभाग देवधर की पुत्री तिष्या !"

सुनकर वह नर्तकी जैसे चौंक पड़ी, "तिष्या !"

तिष्या का अपयश चारों ओर फैल रहा था, उसने भी सुना था । वह उसे देखती रही—गौरवर्ण सरल युवती सामने मूर्त्ति-सी खड़ी थी । उस पर सौंदर्य्य का अभाव नहीं; किन्तु इस समय तो क्लान्त, थकित-सी, वह जैसे इस वय में छा जाने वाले लावण्य से भी रहित थी । उसने पूछा, "क्या चाहती हो ?"

तिष्या क्षणमात्र को चुप रही, फिर जैसे स्वतः ही उसके मुख से निकला, "वेद और शास्त्र, साहित्य और व्याकरण, इतिहास और पुराणों के साथ-साथ मैंने नृत्य और संगीत भी सीखा है । यदि अपने पाँवों पर खड़े होने का बल उनकी डगमग से ही प्राप्त कर सकूँ, तो क्या अनुचित होगा ? मैं एक

महानर्तकी से वही लेकर इस अँधेरे मार्ग पर चल पड़ने का साहस माँगती हूँ।"

महामाया की दृष्टि अब तिष्या से नहीं हट सकी। उसकी उपेक्षा भी कर सके, ऐसा भी कुछ यत्न वह न कर सकी। तिष्या ने शीश झुका लिया था। सहसा महामाया ने उसका हाथ पकड़कर उसे रथ में खींच लिया। अपने ही समीप बैठाकर उसने कहा, "तुम्हें सब कुछ मिलेगा तिष्य! महाभाग देवधर की कन्या तुम मेरी सखी बनकर मेरे पास रहो।"

और वह सारथी से, जो विस्मय से इस व्यापार को देख रहा था, बोली, "चलो। रथ आगे बढ़ाओ।"

आश्विन माह—शुक्लपक्ष का एक दिवस ; अपराह्न-काल।

दूर तक आगे भी, पीछे भी, उस वनप्रान्त के टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर वही अकेला रथ दिखाई पड़ता था। किसी लम्बी यात्रा ने उसके घोड़ों को, उसके अश्वारोहियों को व्यथित तो कर दिया जान पड़ता था ; किन्तु जल्दी-जल्दी मार्ग तय कर लेने की धुन वाले पथिकों को कहीं भी विश्राम लेने की जैसे कोई इच्छा नहीं—चारों ओर एक सुखद शान्ति, शीतल छाया फैलाये खड़े हुए बड़े-बड़े घने वृक्षों को देखकर भी नहीं।

वह दो थे। एक स्त्री और दूसरा पुरुष। पुरुष सारथी के आसन पर विराजमान था, स्त्री रथ में भीतर बैठी थी। कैशोर्य की सीमा से निकलकर जैसे यौवन में प्रवेश पाया ही हो, ऐसे लावण्य से युक्त होते हुए भी, उसकी वेश-भूषा और शृङ्गार विहीन उसके गात तथा आकृति से लगता था जैसे उस पर पूर्ण तारुण्य का आच्छादन हो। सारथी वृद्ध प्रायः था। वह दोनों अधिक बात नहीं करते थे। अधिक क्या जैसे उनकी बात करने की एक विशिष्ट सीमा थी। द्रुतगति से रथ भागा जा रहा था। सहसा सामने मार्ग पर किसी अन्य रथ को बिगड़ा पड़ा हुआ देखकर सारथी ने कहा, "महाभागे! वह सामने मार्ग को रोककर कोई बिगड़ा हुआ रथ पड़ा दिखाई देता है ; किन्तु पथिक कोई नहीं।"

"उससे बचाकर आगे बढ़ा ले चलो। यह जगह बहुत भयानक है।"

"हाँ देवि! यहाँ होकर अकेले यात्रा करना कम साहस का काम नहीं।" कहते हुए सारथी ने मार्ग को काटकर रथ आगे बढ़ाया। उस रथ के बराबर में आकर अपना मार्ग उसने बना लेना चाहा।

तभी उन्हें सुनाई पड़ा, "ठहरो तो भद्र सारथी? हम लोगों की अवज्ञा करके आप किधर जाना चाहते हैं? और वह भी ऐसे सुन्दर यात्री को लेकर।..."

फिर सम्मिलित हँसी।

दोनों ने चौंककर देखा, वह स्वर और हँसी समीप के ही एक घने वृक्ष के नीचे से आये थे। कई अश्वारोही वहाँ जमे थे ; जैसे राज-सैनिक खड़े हों। ऐसी ही उनकी वेशभूषा थी। उन दोनों की स्वास तीव्र हो उठी, हृदय धड़कने लगा ; परस्पर एक दूसरे की ओर देखा।

अब वह अश्वारोही उनके रथ की ओर बढ़ रहे थे। सारथी ने विपत्ति को समझकर रथ को कुछ और तीव्रगति से बढ़ा लेना चाहा ; किन्तु ऐसा करते ही उसे दस्यु-मण्डल में से कठोर स्वर सुनाई पड़ा, "रथ रोको।"

सारथी काँप उठा। रथ जैसे अपने-आप ही रुक गया। दस्यु उसके चारों ओर हो गये। एक ने उस युवती की ओर देखकर कहा, "सुन्दरी ! क्या तुम्हें इस भयावनी जगह में अकेले यात्रा करते हुए डर नहीं लगता ?"

युवती ने कहा, "डर ! कैसा डर ? मेरे पास है ही क्या जो मुझसे कोई ले लेगा ?"

दस्यु हँस पड़ा। फिर कहा, "यदि तुम अपने आप अपनी ही आँखों में हम लोगों की दृष्टि लेकर झाँक सकतीं, तो ज्ञात होता कि तुम्हारे पास क्या-क्या है।" इसके बाद अपने साथियों से बोला, "ले चलो इस रथ को, यह भी कुछ न कुछ देगा ही। और यह सुन्दरी ! तो न जाने कितनी रात्रियों तक सुख; फिर सहस्त्र मुद्रायें ! इस तरह तापसी बन जाने से भी क्या रूप छिपता है ?"

युवती की आँखें भय की तीव्र वेदना से जैसे विकल हो उठीं। उसने निरीह दृष्टि से दस्युओं की ओर देखा, फिर सारथी पर भी दृष्टि गई। पर उसकी आँखों की विवशता का भी तो अन्त नहीं था। उस सुन्दरी का मुख-मण्डल विवर्ण हो उठा। स्वास का वेग बढ़ गया ; कण्ठ सूख गया और जीभ तालू से सट गई। बड़ी कठिनता से उसके मुख से निकला, "दुष्टो ! दस्युओ ! पापियो ! हमें छोड़ दो।"

दस्युराज अट्टहास कर उठा। उसकी विकट हँसी उस भयानक प्रदेश में और भी भयावनी प्रतीत हुई। वह बोला, "दुष्ट ! दस्यु !"

फिर अट्टहास।

फिर उसने बड़े कोमल स्वर में कहा, "वही न होते सुन्दरी तो तुम्हारा सत्कार करने को तुम्हें इस कान्तार में कैसे मिलते ?"

अन्य दस्युओं ने तब तक रथ का मुख उधर ही कर दिया, जिस ओर से वह आ रहा था। उस पर आरूढ़ वह सुन्दरी भय से पीली पड़ गई। सारथी भी अचल हो रहा।

रथ को चारों ओर से घेरकर दस्यु ले चले।

कुछ दूर चलने पर एक चतुष्पथ था। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अचानक उनके कान में कुछ शब्द पड़े। लगा जैसे कुछ अश्वारोही उत्तर की ओर से आ रहे हों। मन्द-मन्द रथ-ध्वनि भी आती थी। दस्युओं ने किसी यात्री-समुदाय के आगमन का अनुमान लगाया। दलपति की ओर सब देख उठे। दस्युराज ने रथ को वृक्षों के झुरमुट में ले जाकर छिपाने का संकेत किया। दस्यु उसे उधर ही ले चले।

वह यात्री कुछ काल में ही दीखने लगे। चतुष्पथ पर आकर वह भी उधर ही मुड़े जिधर दस्युओं के वश में आने से प्रथम वह रथ चला जा रहा था। वृक्षों के झुरमुट में छिपे खड़े वह दस्यु सजग थे। उनके खड्ग रथ के सारथी और उसके सुन्दर आरोही दोनों पर तने थे। कहीं कोई चीख न पड़े; किन्तु सारथी और उसकी साथिन, दोनों प्राणों का भय त्यागकर भी उन यात्रियों के बराबर में आते ही कातर स्वर में चिल्लाये, "बचाओ ! बचाओ !"

भय-विकम्पित वह वाणी उस वन-प्रदेश में रक्षा के लिये आमन्त्रण बन कर गूँज गई। यात्रियों का दल सहसा रुक गया। एक साथ ही उस यात्री-समुदाय ने विकल भाव से सुनाई पड़ने वाली उस पुकार की दिशा में देखा। फिर उस ओर दौड़ जाने में कई अश्वारोहियों को विलम्ब नहीं हुआ। दस्युओं ने भी यह देखा। वह रथ को वहीं छोड़, सारथी को आहतकर, उस युवती को घोड़े पर खींचकर भागे। किन्तु उसकी रक्षा को तत्पर सिर पर आ चुके अश्वारोहियों से वह किसी प्रकार भी निकल नहीं सके। वह चारों ओर से घिर गये तो भी उन्होंने एक स्थल से बाण-वर्षा करके उस आई हुई विपत्ति को भ्रमित कर देना चाहा। और दस्युराज अपने जाल में आये अहेर को दूसरी ओर निकाल ले चला। परन्तु उस सुन्दरी की चीख ने वहाँ भी उसका मार्ग अव-

रुद्ध कर दिया। तुरन्त ही कुछ अश्वारोही उधर भी पहुँचे ; उन सब में अधिक उत्साही एक युवक दस्युराज को भारी पड़ा-सा दीख रहा था। वह उसके सामने था। दस्यु ने उसी पर खड्ग चलाया। वह भी सचेत था। उसने वार बचाकर एक वृक्ष की आड़ ली। किन्तु वह साहसिक भी कुछ कम प्रबल नहीं था, उसने घोड़ा घुमाकर उस युवक पर तीव्र आघात किया। इससे भी वह युवक बचा तो, पर उसका स्कन्ध-प्रदेश आहत हुए बिना नहीं रहा। दूसरी ओर से वह दस्यु घिर चुका था। उधर उस युवक का रोष रक्त देखकर आपे में न रह सका। उसने कौशल से उसका दूसरा वार बचाकर उस पर खड्ग चला दिया। वह उसके उदर में भीतर तक घुस गया।

दस्युराज के मुख से एक चीख निकली और उस भय-विदग्धा को लपेटे हुए उसका कर-बन्धन शिथिल पड़ गया। वह भी जैसे मुक्ति पाने को छटपटा रही थी, उछटकर नीचे गिरी। दस्यु ने भी अब उस युवती का मोह नहीं किया, वह घोड़े पर झुक गया। तब उसका घोड़ा ही उसे अपनी मनचाही दिशा में लेकर भाग चला। उस युवक ने भी उसे नहीं रोका। उसने चारों ओर देखा। तभी उसके साथियों ने आकर कहा, "दस्यु भाग गये।"

"अच्छा" कहकर वह घोड़े से उतरा ; उस धरती पर पड़ी युवती के पास आया। वह नवला उसे देख रही थी ; अभी भी जैसे वह भय-विमुक्त नहीं थी। उसकी दृष्टि शंकित, शरीर कंपन-युक्त था। युवक ने उसे सहारा देकर खड़ी करते हुए पूछा, "तुम्हें कहाँ जाना है देवि ?"

"पाटलिपुत्र।"

"पाटलिपुत्र हम भी चल रहे हैं। तुम्हारा नाम ?"

"यशोधरा।" उसने बताया, फिर आगे कहा, "आगे मेरा रथ है, सारथी को दस्युओं ने आहत कर दिया है, शीघ्रता से उसे चलकर देखिये।"

सुनकर उस युवक ने अपने साथियों से कहा, "देवि यशोधरा का रथ और इनके सारथी को शीघ्रता से लेकर आओ।" फिर यशोधरा को हाथ का सहारा देकर घोड़े पर बैठाते हुए कहा, "इस प्रकार से ऐसे बीहड़ स्थानों में होकर यात्रा करना कभी-कभी ऐसा ही दुखदायी होता है देवि यशोधरा !"

यशोधरा ने कहा, "सचमुच आर्य ! यदि इस विपत्तिकाल में ईश्वर की

तरह प्रकट होकर आपने रक्षा न की होती तो इस भूल का जो भी दण्ड भोगना पड़ता, उसकी कल्पना करने में भी रोमांच हो आता है। आर्य का नाम ? परिचय ?"

"मुझे बीजगुप्त कहते हैं, और परिचय के लिये भी यही बहुत होगा।" उसने पैदल-पैदल चलते हुए ही कहा।

बीजगुप्त का स्कन्ध-प्रदेश घायल था। वहाँ से रक्त बहकर परिधान को गीला कर रहा था, बिगाड़ रहा था; किन्तु उसे जैसे इसका ध्यान नहीं।

यशोधरा ने ही उसे देखकर कहा, "आप घायल हुए हैं आर्य बीजगुप्त।"

"हाँ देवि ! और चिकित्सक पाटलिपुत्र पहुँचने पर ही मिलेगा।" बीजगुप्त ने हँसते हुए कहा।

मार्ग पर आकर यशोधरा ने देखा, वहाँ कई रथ खड़े थे। पर किसी रथ में कोई पुरुष नहीं, अनेक सुन्दर स्त्रियाँ उनमें जैसे सशंकित-सी बैठी थीं। बीजगुप्त को देखते ही सबसे आगे के मयूर-रथ में बैठी हुई सुन्दरी ने कहा, "तो दस्युओं से इस सुन्दर यात्री को बचा लाने में सफल हो गये आर्य बीजगुप्त !"

बीजगुप्त केवल मुस्कराया। उसने यशोधरा को उसी रथ में बैठा दिया। फिर उस सुन्दरी से कहा, "देवि सुनयना ! सामन्त मृत्युञ्जय की कन्या यशोधरा का साथ भाग्य से ही प्राप्त हुआ समझो। तुम्हें इनका अभिनंदन करना उचित होगा।"

अपने पिता का नाम सुनकर यशोधरा विस्मित हुई। सुनयना ने उसके कंधे पर हाथ रखकर बीजगुप्त से कहा, "आप निश्चिन्त रहें आर्य बीजगुप्त ! कोई भी अनुचित कार्य करके देव का अपमान करने का मुझमें साहस नहीं।"

बीजगुप्त ने मुस्कराते हुए यशोधरा की ओर देखा। उसके विस्मय को पहचान कर उससे कहा, "विस्मय न करो देवि ! मौर्य सम्राट् तथा उनके महामात्य राक्षस के स्नेहभाजन आर्य मृत्युञ्जय में इस तुच्छ व्यक्ति की भी श्रद्धा है। तुम तक्षशिला से अपने मातुलगृह अयोध्या होती हुई आ रही हो न।"

"हाँ आर्य !" यशोधरा को और भी विस्मय हुआ।

बीजगुप्त ने इस पर ध्यान न देकर सुनयना की ओर देखते हुए यशोधरा

से ही कहा, "कान्यकुब्ज की विख्यात नर्तकी सुनयना को तुम्हें धन्यवाद देना चाहिए यशोधरा ! न इनका यश मुझे वहाँ खींच ले गया होता और न मैं वहाँ पहुँचकर इन्हें साथ लिए हुए इस मार्ग से लौटता।"

यशोधरा ने कहा, "मैं तो आप सभी लोगों की कृतज्ञ हूँ।"

उस समय तक बीजगुप्त के साथी सारथी सहित यशोधरा का रथ लेकर आगये थे। बीजगुप्त ने देखा—यशोधरा का सारथी अधिक आहत नहीं था। उसने आगे बढ़ने के लिए व्यवस्था करते हुए सुनयना के रथ के समीप आकर कहा, "देवि ! अब तो मैं अश्वारूढ़ होकर नहीं चल सकूँगा। मुझे किसी रथ में स्थान मिलेगा ?"

सुनयना ने पूछा नहीं, 'क्यों ?' आँखों से ही जान लिया। उसने हँसकर कहा, "रथ में ! आश्चर्य है ? क्या इतना बड़ा कार्य करने पर भी केवल रथ में स्थान मिलेगा ?"

और वह अपने वचन पर हँस पड़ी। यशोधरा की ओर उसकी दृष्टि स्वतः ही घूम गई। वह बीजगुप्त को ही देख रही थी। सुनयना को अपनी ओर देखती देख उसने उसी को देखा और कहा, "आर्य मेरे रथ में बैठ चलेंगे। मैं आपके पास हूँ। घोड़े पर बैठने से अवश्य ही पीड़ा होगी।"

बीजगुप्त यशोधरा को देख उठा। वह उसे किसी अल्हड़ बालिका के बेबूझ उन्माद की अठखेलियों से सहसा मुक्त होकर सरल बनी-सी जान पड़ी। वह उसीके रथ में बैठते हुए बोला, "तक्षशिला की स्नातिका का सौहार्द्र पाकर धन्य हुआ देवि !"

यशोधरा लजा गई। सुनयना यह देखकर हँस पड़ी। यशोधरा और भी संकुचित हो उठी। सुनयना ने बीजगुप्त से कहा, "देव ! अभी देवि यशोधरा का बचपन नहीं गया प्रतीत होता। सम्भवतः आपकी बात का उत्तर देने के लिये उनके पास शब्द नहीं जुट रहे; उनकी ओर से इस कारण मैं कहे देती हूँ कि आपके इस भाव से वह भी धन्य हुईं।"

यशोधरा का मुख लज्जा की तीव्र आभा से लाल हो गया। उसे जैसे रोमांच हो आया। उसने सुनयना की ओर देखकर कुछ शुष्क वाणी में कहा, "देवि ! मैं इस संसार के कार्य-व्यवहारों से दूर रही हुई एक स्नातिका हूँ। यह

समझ कर, इस प्रकार की बातें न करके मुझ पर अनुग्रह कीजिए।"

बीजगुप्त ने यह बात नहीं सुनी। उसका रथ आगे बढ़ गया था।

सुनयना भी यशोधरा की बात सुनकर हँसती ही रही; बुरा न माना। कुछ दूर चलने के उपरान्त आगे-आगे चलने वाला बीजगुप्त का रथ रुका। पीछे की पंक्ति भी रुक गई।

सुनयना और यशोधरा ने झाँककर देखा—एक ब्रह्मचारी ने बीजगुप्त का रथ रोक लिया था। वह ब्रह्मचारी कह रहा था, "हम गुरु-शिष्य तीन प्राणी थक गये हैं, आप हमें पाटलिपुत्र पहुँचा दीजिए।"

बीजगुप्त ने आगे देखा—एक वृद्ध और दूसरा ब्रह्मचारी आगे एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। उसने महाप्रभु रत्नाम्बर को दूर से ही पहचान लिया। वह रथ से उतर कर वहीं पहुँचा और महाप्रभु रत्नाम्बर की चरणबंदना करके कहा, "आप यहाँ कहाँ गुरुदेव?"

"हम तीनों काशी से लौट रहे हैं।" महाप्रभु रत्नाम्बर ने कहा, "और तुम्हारे यह दोनों गुरुभाई बहुत थक गये हैं, इसी कारण यहाँ, मार्ग से एक ओर बैठकर, हम किसी रथारोही सज्जन यात्री की प्रतीक्षा करते थे।" इतना कहते-कहते रक्त से आर्द्र बीजगुप्त के वस्त्रों पर उनकी दृष्टि पड़ी और चौंककर कहा "यह क्या हुआ बीजगुप्त?"

बीजगुप्त ने कहा, "आप चलिए गुरुदेव! यह सब मार्ग में बताऊँगा।"

बीजगुप्त को क्षणमात्र के लिये भी चैन नहीं था।

मौर्य्य-साम्राज्य का दसवाँ राज्य-दिवस था। विजया-दशमी के दिन ही वह बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था।

राज्य में उत्सवों का अभाव नहीं; और पाटलिपुत्र के रुचिर रूप पर तो जैसे नवोढ़ा के-से आच्छादन थे। नगर-द्वार आठों प्रहर उन्मुक्त रहने लगे थे। छवि-सम्पन्न हो रही प्राचीर, प्रतीत होता था जैसे अभ्यागतों का अभिनंदन करने आँखें पसारे पड़ी हो। उस पर बने हुए अगणित गोल मण्डप कहीं प्रह-रियों के मनोविनोद से मुखरित थे और कहीं तूर्य्य, दुंदुभि और भेरी-नाद के कारण रूप वादकों की कला से।

मौर्य वंश के उत्थान के वह दिवस वैसे ही मनोहर थे, तिस पर कभी-कभी ऐसे राज्य दिवसों का समारोह, कभी पर्व और पुण्यतिथियों के उत्सव, जिनमें राज-परिवार प्रजा के अति समीप हो उसकी श्रद्धा और भक्ति से सराबोर होता-सा जान पड़ता, वह और भी स्वर्णिम हो उठते। लोग इस नवीन साम्राज्य के उदय होते समय उत्पन्न हुए त्रास को भूल जाते। उनका हृदय अपने सम्राट् और उनसे भी महान् उनके गुरु चाणक्य के चरणों में लोट-पोट हो उठता; जैसे उन्माद हो आता था। इस समय भी किसी दिशा में उसका अभाव नहीं।

जैसे लोग मिलजुल कर तीर्थयात्रा को निकले हों; हाथी, घोड़े, शिविका आदि वाहनों का ओर-छोर ज्ञात नहीं होता था। क्रीड़ा करती-सी भीड़-भाड़ समुद्र की गोद में विलीन होने को आतुर उमड़ती नदी की भाँति पाटलिपुत्र में चली आरही थी; किंतु सभी कुछ जैसे सुव्यवस्थित। लगता था जैसे पाटलि-पुत्र में सदैव ही यह सब कुछ होता रहता हो। नगर से बाहर दूर-दूर तक चारों ओर अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। कहीं भी प्रजाजनों की उमंग का अभाव नहीं, स्थान-स्थान पर वायुमण्डल में गूँजता था, "सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की जय।" "राजगुरु महात्मा चाणक्य की जय।"

लोग जो कभी-कभी ही, ऐसे अवसरों पर नगरी में प्रवेश करते थे; इस बार

अति मुदित हो परस्पर चर्चा करते थे, "अति सुन्दर।"

सुनकर और लोग चारों ओर देखते हुए कहते, "कैसा अद्भुत प्रबन्ध है? जैसे चारों ओर दर्शनीय दृश्य सजा दिये गये हों।"

इस पर जो लोग यह सुनते; वह कह उठते, "दिन प्रतिदिन रूप सजाने वाली राष्ट्र-व्यवस्था से ऐसे पुण्यदिवस भी कैसे पीछे रह जायँ?" और वह विनोदपूर्ण हँसी का माधुर्य छिटकाते हुए आगे बढ़ जाते।

सुनने वाले भी हँसकर कहते, "ठीक है, ठीक है।"

उमंगों में फूलती हुई राजनगरी ऐसे ही कोलाहल से पूर्ण हो रही थी।

इस राज्य-दिवस का आनंद पूरे आश्विन भर राजधानी में बिखरा रहता। नित्य ही नगर की शोभा, ऊपर गगन में फहराने वाले ध्वज को सँभाले प्रासाद के उच्च स्फटिक-मंडप की छाया में खड़े होकर सम्राट् राजमहिषी सहित निहारते थे; इसी बहाने जैसे प्रजा को भी दर्शन देते थे। प्रजा राजाङ्गण तक में प्रविष्ट होकर उनके दर्शन करती; किन्तु आज वह प्रासाद के सामने का विस्तृत प्रांगण सैनिकों से पूर्ण था। प्रजा बाहर राजमार्गों पर खड़ी थी; उसने आज वहीं से सम्राट् के दर्शन प्राप्त किये और मार्ग के दोनों ओर स्थान ग्रहण कर लिया। सैन्य का निरीक्षण करने सम्राट् सैनिक स्कन्धावारों की ओर प्रयाण करेंगे, फिर उनके दर्शन और निकट से करने का मोह कौन त्याग दे?

सम्राट् ऊपर मण्डप से उनके देखते-देखते ही उतर गये।

कुछ काल में प्रासाद-प्रांगण में से उच्चस्वर उठा, "सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की जय।"

बाहर मार्गों पर भी उसी की पुनरावृत्ति हुई। बार-बार होने लगी।

उन्हीं के बीच कुछ काल में सम्राट् का श्वेत महागज दीख पड़ा; पीछे और अनेक हाथी, रथ, और अश्व, फिर सैनिकों का तांता।

वह समारोह राजमार्गों पर होकर बढ़ चला। नगर में प्रविष्ट हुआ। लोग श्रद्धा और भक्ति से उनका अभिनंदन करने मार्गों पर खड़े थे। साथ भी चलते थे। ऊपर अट्टालिकाओं पर वनिताओं की भीड़ लगी थी; उनमें बाल-गोपालों की भी कमी नहीं। अक्षत, पुष्प, जव आदि मंगल वस्तुओं की वर्षा से पथ पटा जा रहा था।

सामन्त मृत्युञ्जय के भवन से भी सम्राट् पर वैसी ही वर्षा हुई। सम्राट् ने उधर देखा। मृत्युञ्जय के भवन को वह पहचानते थे। वहाँ यशोधरा और उसकी सखियों की भीड़ लगी थी। सम्राट् को अपनी ओर देखते देख वह बार-बार पुष्पवर्षा कर उठीं।

सम्राट् का महागज आगे बढ़ गया।

पीछे के हाथी सामने आये। उन पर आरूढ़ अमात्य और उच्च राजकर्मचारियों पर यशोधरा और उसकी सखियों की दृष्टि फैली। बीजगुप्त भी उसी पंक्ति में गजारूढ़ था। उसके मुख पर सहज मुस्कान छिटकी थी; जैसे उसके शीश पर झलमलाने वाले छोटे-से स्वर्ण-किरीट की आभा वहाँ फैलती हो। यशोधरा उसे आँखें गड़ाकर देख उठी। उसके आगे बढ़ जाने पर उसने अपनी एक सखी से पूछा, "यहाँ पर सम्राट् के साथ-साथ चलने वाले प्रधान प्रधान वयोवृद्ध तथा प्रौढ़ अमात्यों और राजकर्मचारियों के बीच उस युवक का क्या काम?"

यशोधरा की यह बात सुनकर उसकी सखी ने हँसकर कहा "उस युवक का क्या काम? तुम पूछती हो सामन्त बीजगुप्त का क्या काम!"

यशोधरा को और भी विस्मय हुआ। उसने पिता से उस अपनी रक्षा करने वाले की चर्चा की थी। वह बहुत प्रमुदित हुए थे, यह वह जानती थी। बीजगुप्त को बुलाना भी चाहते थे; किन्तु इस राज्यदिवस के उत्सव ने उनकी इच्छा में बाधा उपस्थित कर दी थी। फिर भी उन्होंने उसके विषय में कोई ऐसी बात कहकर विस्मयजनक वातावरण नहीं पैदा किया था। पर उसकी सखी का उत्तर तो उसे विस्मित किये देता था। वह उसे उसी भाव से देखने लगी।

सखी ने कहा, "तुम सामन्त बीजगुप्त को नहीं जानतीं। साम्राज्य की मंत्रि-परिषद् में उनका प्रधान स्थान है; सैन्य-व्यवस्था करने वाले सैनिक-मंडल के वह सदस्य हैं। सुना है इतनी कम उम्र में किसी ने इतनी उन्नति नहीं की। और हाँ—इस उत्सव का प्रबन्ध-भार भी तो उन्हीं पर है।"

यशोधरा दूर जाते हुए बीजगुप्त को देखने लगी। यह देखकर सखी ने चिकोटी काटते हुए कहा, "क्यों? क्या हुआ? कहीं उन्होंने कुछ चुरा तो नहीं लिया? आत्मतत्व का चिन्तन करने वाली इस सरल युवती को कहीं पर चोट

तो नहीं पहुँचादी उन्होंने ?"

यह सुनकर यशोधरा की और भी सखियाँ हँस पड़ी। यशोधरा ने झुँझला कर कहा, "बस तुम्हें यही सूझेगा। कान्तार में दस्युओं से मेरी रक्षा किसने की थी, क्या यह तुम्हें बताया नहीं? भूल गईं?"

"अरे हाँ!" उसी के सदृश एक मधुर हास वाली युवती ने कहा, "यह तो भूल ही गईं हम! आह! तुम कितनी भाग्यवान् हो?"

यशोधरा ने कुछ नहीं कहा। बात आगे नहीं बढ़ी। हाँ सम्राट् की वह शोभा-यात्रा आगे बढ़ गई; दृष्टि से भी दूर हो गई। केवल वाद्य-ध्वनि सुनाई पड़ती थी। उसके पीछे की लम्बी भीड़ दिखाई देती थी।

आगे भी अभी नागरिकों के अभिनन्दन का अन्त नहीं था। लोग सम्राट् पर पुष्पों की विपुल वर्षा करते थे। धीरे-धीरे वह समारोह नगर के कोने पर आया। वहाँ भी पान्थशालाओं पर खड़ी भीड़ अपने हृदय का मान चन्द्रगुप्त मौर्य के चरणों में समर्पित करने को तत्पर थी। एक पान्थशाला पर खड़े हुए लोगों के मध्य में काशी की महानर्तकी भी तिष्या के साथ-साथ उन राज-पुरुषों के दर्शन करती थी। सहसा उसने बीजगुप्त को दिखाकर तिष्या से पूछा, "उन्हें जानती हो?"

तिष्या ने सिर हिलाकर अस्वीकार कर दिया।

यह देखकर उस नर्तकी ने कहा, "कहाँ से जानती होगी? तुमने इन्हें देखा ही कब होगा, और कब सुनी होगी इनकी वीणा? किन्तु पाटलिपुत्र के इस युवक को कौन नहीं जानता?"

तिष्या ने अब बीजगुप्त को ध्यान से देखा, फिर अपनी उस विभोर होती हुई-सी साथिन से पूछा, "क्या नाम है उनका?"

"बीजगुप्त!" नर्तकी बोली। यह सुनकर तिष्या की दृष्टि आप ही उधर अटक गई, पर उस नर्तकी ने जैसे इस पर ध्यान ही नहीं दिया। वह कहती गई, "तिष्या! उनके स्वरों पर नृत्य करना कोई खेल नहीं। एक बार वह स्वयं मुझे रथ पर बैठाकर ऐसे ही उत्सव पर पाटलिपुत्र लाये थे, इस बार भी आमन्त्रण तो मिला ही, किन्तु वह साथ में लिवाकर लाये हैं कान्यकुब्ज की नृत्यांगना सुनयना को। मैं उनके स्वरों पर हार चुकी हूँ, देखें सुनयना का

क्या होगा ?"

आगे-आगे जाने वाले राजपुरुषों की पंक्ति नगर के बाहर पहुँच चुकी थी; उनकी आँखों से ओझल हो गई थी। तिष्या ने उधर से आँखें फेरीं और उस नर्तकी का अंतिम वाक्यांश ही जैसे उसके कानों में पड़ा। सुनकर उसके चरणों में जैसे अनजान में ही एक थिरकन दौड़ गई। उसने काशी की महानर्तकी को देखा—लगा जैसे उसके हृदय में कोई सोच-विचार अभी भी घुमड़ते हों; तिष्या के वक्ष में भी उच्छ्वास भर उठे। मार्ग पर कोलाहल होरहा था, उसने पुनः उन्हीं कोलाहल करने वालों पर आँखें फैलाईं; आँखों से वह देखती तो थी, किन्तु भीतर से जैसे बार-बार मुख में आजाता था—बीजगुप्त और आँखों में उसकी छवि फैल जाती थी। उसकी सखी वह नर्तकी एक दीर्घनिश्वास त्याग कर वहाँ से हटी; तिष्या ने भी एक दीर्घश्वास पहले हृदय में भर लिया, फिर उसे छोड़कर उसके साथ चलने को पाँव उठाये।

सान्ध्यकाल में उन्होंने राजाङ्गण में पहुँच कर देखा—आलोक से वह जगमगाता था। आँखों में चकाचौंध उत्पन्न हो रही थी। वह उच्च प्रासाद सर्वत्र रंग-बिरंगे आलोक-पुष्पों की मालाएँ पहने खड़े थे। गोपुर से दुंदुभि और भेरी के मन्द स्वर उठते थे। प्रासाद के बाहरी तोरण पर सावधान-से प्रहरी खड़े थे। उनके शिरस्त्राण और भालों के फल प्रकाश में झलमलाते थे। तोरण के सामने प्रांगण में उतरते हुए सोपान-मार्ग के ऊपर पार्श्व में स्फटिक-मण्डप से भी कुछ हटकर अपनी समस्त सरलता और विनम्र मुस्कान लिये बीजगुप्त खड़ा था। उसके साथ कई अमात्यगण भी थे। वह उसके साथ वहाँ खड़े होकर अभ्यागतों की हँसकर, विनम्र वचन कहकर और दोनों हाथ बढ़ाकर अभ्यर्थना करते थे।

आने वालों का ताँता लगा था। काशी की महानर्तकी की प्रवाहण के साथ ही अन्य रथों और गजों ने राजाङ्गण में प्रवेश किया। वाहनों के लिये वहीं प्रांगण में उचित व्यवस्था थी। ऋषि, मुनि, योगी, सन्यासी, वानप्रस्थी, भिक्षु, निर्ग्रन्थ, आजीवक आदि भी साम्राज्य के श्रेष्ठि और सामन्त, राजुक, युक्त, उपयुक्त, आदि अनेक पदाधिकारियों के साथ वहाँ चले आरहे थे। बीज-गुप्त का अभिनन्दन प्राप्त कर वह भीतर साम्राज्य-भवन में प्रविष्ट होते थे।

हर एक को भीतर पहुँचा देने के लिये सेवक उपस्थित थे। तिष्या उस सबको कुतूहल से देखती थी। भीतर प्रवेश करते समय उसने बीजगुप्त को ध्यान से देखा। बीजगुप्त ने भी काशी की नर्तकी के साथ में आई हुई उस नवला पर दृष्टि डाली और मुस्करा कर कहा, 'स्वागत है!'

वह आगे चलीं। सेवकों ने उन आगतों को भी भीतर मण्डप में पहुँचने तक का मार्ग दिखाया।

साम्राज्य का विशाल सभा-मण्डप अनेक भागों में विभक्त था। उसकी रचना भी विचित्र थी। सामने ही स्वर्ण का सिंहासन, उसके दाँयें बराबर में राजगुरु के लिये एक छोटा साधारण-सा आसन, बाँयीं ओर महामात्य का सुन्दर आसन था। उससे नीचे पर उस विशाल मण्डप में बहुमूल्य आच्छादनों से ढँके विशाल चबूतरे पर ऋषि, मुनि, तपस्वी आदि जनों के लिये आसन पड़े थे। उससे नीचे मण्डप-गर्भ में राजपुरुषों के लिये आसन्दी सजाई गई थीं। उनके आगे मध्य भाग खाली पड़ा था। कई जगह भित्ति के साथ मिलकर सोपान-मार्ग ऊपर चले गये थे। नीचे-ऊपर विभिन्न गवाक्षों से वह पहुँचते थे। वहाँ स्त्री-अभ्यागतों के लिये प्रबन्ध था। अवरोध की वनिताओं के लिये भी उन्हीं में कहीं स्थान था।

सभी लोग आ-आकर यथास्थान बैठ रहे थे।

साम्राज्य-सिंहासन अभी खाली था। राजगुरु चाणक्य भी अभी नहीं पधारे थे।

कुछ काल में ही तूर्य्य, दुंदुभि का स्वर सुनाई पड़ा, जैसे कहीं भीतर से ही आकर वह फैलने लगा था। सम्राट् के आगमन की सूचना भी क्षणमात्र में सर्वत्र फैली। सिंहासन के पीछे बाँयीं ओर का स्वर्णजटित छोटा-सा द्वार खुला।

महामात्य उठ खड़े हुए; साथ ही वहाँ उपस्थिति और लोग भी सम्राट् के सम्मान में खड़े हुए।

सम्राट् और साम्राज्ञी द्वार से निकलते दिखाई पड़े। सम्राट् ने अपनी यवन सहधर्मिणी सहित सभा में उपस्थित आचार्य, ऋषि, मुनियों को प्रणाम किया, और सिंहासन पर पैर रक्खा। पीछे आती हुई सुन्दरी सिंहासन-सेविकायें

भी चँवर डुलाती हुई सिंहासन के पीछे जा खड़ी हुईं। मण्डप में भी ऋषि, मुनि तपस्वियों ने हाथ उठाकर सम्राट् के कल्याण की कामना की और आशिष वचन बोले।

सूतों, मागधों ने स्तुति पाठ किया।

अभी सम्राट् को आसन ग्रहण किये कुछ ही देर हुई थी कि बीजगुप्त राजगुरु चाणक्य को लेकर सभा में उपस्थित हुआ। समस्त सभा पुनः खड़ी होगई। सम्राट् साम्राज्ञी ने खड़े होकर उनकी बन्दना की, और उन्हें पार्श्व के आसन पर बैठाया। फिर आप भी बैठे, और मण्डप में देखा।

बीजगुप्त भी अपने लिये पड़े आसन पर जाकर बैठ गया।

सभा में एक निस्तब्धता छा जाने पर सम्राट् ने महामात्य की ओर देखा। उन्होंने उस दृष्टि का आशय समझ कर खड़े होकर कहा, "आज की सभा में साम्राज्य में यत्र-तत्र फैले विभिन्न रत्न एकत्रित हैं। मैं मौर्य-साम्राज्य का महामात्य लोक प्रतिष्ठित विद्वान, आध्यात्मज्ञान के पंडित, ब्राह्मण और तपस्वी; हृदय की हलचल के समान मोहमयी नृत्यांगनायें, विश्व-व्यापारों की तरह तरंगे उठा देने वाले गायक और संगीतज्ञ सभी का सम्राट् की ओर से अभिनन्दन करता हूँ।"

उत्तर में चारों ओर से साधुवाद की ध्वनि उठी।

महामात्य ने पुनः कहा, "लोकनीति का शृंगार, राजकार्यों की मर्यादा रखने वाले विद्वज्जन और लोकरंजन की क्रीड़ाओं का प्रसार करने वाले कलाकार इस साम्राज्य के स्तम्भ सम्राट् के ऊपर कृपा भाव रक्खें।"

उत्तर में पुनः साधुवाद के स्वर हुए; हर्ष-ध्वनि फैली।

महामात्य बैठे नहीं। उन्होंने आगे निवेदन किया, "जीवन के जटिल मार्ग पर साहस और बल, आशा और उत्साह बिखेर कर प्रेरणा देने वाली देवोपम लीलाओं से मन मोहने वाले कला के उपासक; जिनके लिये एक ही वस्तु प्राप्य रह जाती हो, एक ही मार्ग दृष्टिपथ में आता हो, एक ही चिंता से जिनका मन उत्फुल्ल रहने लगता हो, यहाँ पर अधिष्ठित उन मुमुक्षुओं से आशीर्वाद ग्रहण करें। और वह उन संसार-यात्रा के मार्ग को छवि-सम्पन्न करते रहने वालों को कला-प्रदर्शन की आज्ञा दें; उन्हें प्रोत्साहन दें।"

सभा में एक प्रसन्न रव की सृष्टि हो उठी। चारों ओर उत्साह फैला और सभी के मुख से निकला, "आरम्भ हो ! आरम्भ हो।"

महामात्य ने बीजगुप्त की ओर देखा। बीजगुप्त उठकर खड़ा हुआ। महामात्य ने कहा, "सामन्त बीजगुप्त ! आज के यह अमूल्य क्षण जिस प्रकार से भी कोई विस्मृत न कर सके, कला का वही चित्र उपस्थित करने की व्यवस्था कीजिए।"

वहाँ बैठे व्यक्तियों ने बीजगुप्त पर दृष्टि डाली। उसने सिर नमाकर महामात्य के आदेश को शिरोधार्य किया। फिर सभा में देखते हुए कहा, "महामात्य के आदेश की रक्षा इस समय बीजगुप्त के आधीन न रहकर कान्यकुब्ज की सुन्दर नर्तकी सुनयना के अधीन है ; वह इस सभा में उपस्थित हैं। इस कारण वही सामने आकर सबको प्रसन्न करें।"

नर्तकी सुनयना सभामण्डप के किस गवाक्ष में अधिष्ठित थी, यह ऊपर देखकर जाना जा सकता था। वह एक सोपान-मार्ग से उतर कर सभा में आ खड़ी हुई। उसने सम्राट् को शीश झुकाया फिर अन्य लोगों से भी आशीष एकत्र किये। उसके पीछे-पीछे ही वादक भी वहाँ आये; वीणा और मृदंग वहाँ सजाकर रक्खे हुए थे। वह उन्हीं को लेकर बैठे।

सुनयना का रूप अद्भुत हो रहा था। चरणों से लेकर अलकावली तक वह मनोहर वेशभूषा से आवृत थी; उसकी देहलता कहीं-कहीं अपनी आभा स्वयं बिखेरती थी और कहीं उस पर फैले आच्छादन—वस्त्र और अलंकार।

सुनयना चरण उठाना ही चाहती थी, वादकों की ललकार पर वह मचलने ही वाली थी कि सहसा किसी ने ऊपर गवाक्ष में से कहा, "आर्य बीजगुप्त ! महामात्य के कथन की रक्षा करना आपका धर्म है, इसलिए मैं प्रार्थना करूँगी कि आप उसके लिये और सचेष्ट हों।"

बीजगुप्त ने ऊपर देखा—काशी की महानर्तकी को उसने पहचाना। सभी लोग उस गवाक्ष की ओर देखने लगे थे। सुनयना ने भी उस सुन्दरी को आहत-सी होकर देखा ! बीजगुप्त ने पूछा, "सो कैसे कल्याणि ?"

"आर्य्य ! जैसा नृत्य हो वैसा ही संगीत होना चाहिए।"

सुनयना ने उधर देखकर कहा, "क्या देवि को इन संगीतज्ञों पर शंका है ?"

सुनयना की बात का उत्तर उस नर्तकी ने नहीं दिया। उसने बीजगुप्त से कहा, "आर्य बीजगुप्त ! नृत्यकला के कारण काशी की इस नर्तकी के नाम में भी कोई कम आकर्षण नहीं है, किन्तु मेरे पगों की थिरकन आपके स्वरों का साथ नहीं दे सकी; इस कारण मैं प्रार्थना करूँगी कि इस सभा के योग्य तो वही वीणा की झन्कार है, जिसकी सृष्टि आप करते हैं, और वही चरण हैं; उसी नर्तकी का चरण-सञ्चालन है जो उसका साथ दे सके।"

सुनकर सुनयना का हृदय जैसे काँप उठा। काशी के श्रेष्ठि और सामन्त उसके नृत्य को देखकर भी अपने यहाँ की इस नर्तकी के नृत्य की प्रशंसा करते हुए उसने देखे थे। उसने उसकी बात सुनी और उसकी ओर देखा, फिर बीजगुप्त की ओर दृष्टि फिराई। महामात्य और सम्राट् को भी उसने देखा, फिर कहा, "परम भट्टारक ! यदि मैं भी आर्य बीजगुप्त की वीणा का अभिनन्दन कर सकूँ तो मेरा सौभाग्य होगा !" वह क्षणमात्र को रुकी, फिर कहा, "किन्तु इतना जानना चाहूँगी देव कि क्या काशी की महानर्तकी भी यही इच्छा लेकर यहाँ पधारी हैं ?"

सब की आँखें ऊपर उठ गईं। वह नर्तकी शान्तभाव से खड़ी थी। उसने उसी तरह से कहा, "हाँ देवि सुनयना ! मैं जीवन भर कामना करूँगी कि कभी तो उन स्वरों का साथ दे सकूँ !"

सुनयना ने कहा, "तो उस कामना की परीक्षा करने के लिये मैं तुम्हें आमंत्रित करती हूँ, हम दोनों एक साथ नृत्य करेंगी।"

सभा में साधुवाद के स्वर उठे।

"मुझे स्वीकार है।"

वहाँ फिर हर्ष-ध्वनि फैली।

सुनयना ने चारों ओर देखकर शीश नमाया, फिर कहा, "संभवतः इसी कामना के साथ लहर लेने वाले किसी अभिमान से प्रेरित होकर देवि ने मेरे नृत्य में व्याघात उपस्थित किया है। इस कारण मैं एक प्रार्थना करूँगी। उनके साथ नृत्य करने को मैं प्रस्तुत हूँ, पर यदि आर्य बीजगुप्त की वीणा

के साथ मैं चल सकी और वह हार गईं तो उन्हें एक वर्ष तक मेरे साथ दासी भाव से रहना पड़ेगा, और यदि इस परीक्षा में मैं हार गई तो वैसा करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।"

सभा में सन्नाटा छा गया। कुतूहल से सब उन दोनों के प्रतिद्वन्द्व का खेल देख रहे थे। बीजगुप्त स्तब्ध-सा बैठा था। उस पर लोगों की दृष्टि बार बार पड़ती थी। और अपनी सखी के साथ बैठी तिष्या की दृष्टि तो बीजगुप्त से हटती ही न थी। सहसा सुनयना का यह वचन सुनकर उसने बगल में देखा। काशी की वह महानर्तकी जैसे कुछ विचारने लगी हो। जैसे उसका आत्मविश्वास डगमगाने लगा हो। तिष्या ने यह अनुभव किया। अब क्षणमात्र का विलम्ब ही घातक था। और तब सहसा अपने आसन से वही उठ खड़ी हुई। उसने सम्राट् की ओर मुख करके कहा, "सम्राट्! मुझे विश्वास है कि मेरी सखी को कैसा ही दुरभिमान नहीं है। कान्यकुब्ज की महानर्तकी ने उनकी कामना को दूषित दृष्टि से देखकर ललकारा है। इस कारण अब वह नहीं, उन्हीं की शिष्या तुल्य सखी मैं देवि सुनयना का निमन्त्रण स्वीकार करती हूँ। उनके साथ नृत्य करने को मैं प्रस्तुत हूँ।"

सभामण्डप में स्तब्धता छा गई। लोग विस्मय से ऊपर गवाक्ष में देख उठे। जैसे सहसा उदित हुई-सी विद्युल्लता से उनकी आँखें जा टकराईं। सुनयना की ओर भी उन्होंने देखा।

सुनयना का मुखमण्डल निष्प्रभ हो उठा। किन्तु उसने क्षणमात्र में ही उस भाव को दूर करके कहा, "मुझे स्वीकार है।"

महामात्य ने बीजगुप्त की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखते हुए कहा, "आर्य बीजगुप्त! इन अप्सराओं की कामना पूर्ण करो।"

बीजगुप्त एक दीर्घश्वास खींचकर उठ खड़ा हुआ। वह बीच में आया। सम्राट् तथा अन्य लोगों को उसने प्रणाम किया; फिर वीणा लेकर वह बैठ गया।

समस्त सभासद काशी की महानर्तकी की सखी का जैसे आह्वान करते-से जान पड़ रहे थे। तिष्या को उनके सामने आने में अधिक समय नहीं लगा। सब उसे देखते ही रह गये। एक ओर सुनयना खड़ी थी, वह भी उसी के

पार्श्व में आकर खड़ी हो गई। किसी के वेश में कोई अन्तर नहीं; जैसे उन्हें किसी एक ही हाथ ने सँवारा हो।

ऊपर से नितम्बों तक झूलने वाला पुष्पसज्जित वेणी का शृङ्गार, कम्बु कण्ठ में हल्की-सी रत्नमालाएँ, बाहुचांचल्य का परिचय देने को आतुर उनके रत्न-जड़ित वलय और कंकण की झलमलाहट, फिर कर-मण्डल पर अँगुलिकाओं से लेकर मणिबन्ध तक मणिरेखाओं के चित्र, दृष्टि को जब वहाँ से हटने देते तो लगता जैसे रूपराशि की मुस्कान में कला का संचय करके खड़े हुए उन दोनों नृत्याङ्गनाओं के अवयव भी उसे और कहीं जाने न देंगे। वक्षोरुह पर रत्नजटित कंचुक-बन्धन की झिलमिल थी। कटि-प्रदेश के नीचे चरणों की अरुण कान्ति का चुम्बन करने वाला किनारेदार नील-कौशेय वस्त्र तथा सुडौल नितम्बों को सम्हाले उनका पीतवर्ण पट्ट, कटि पर पड़ी सतलड़ी की खिलखिलाहट के नीचे दबे थे। चरणों के नूपुर अभी शब्द नहीं बिखेरते थे।

सुनयना ने उस नवागता को देखा—उसी के से वेश में एक सुगढ़-यौवना अद्भुत रूप के आलोक से जैसे उसे झपाये देती थी। दर्शकों ने भी देखा, यह वेश उस नवल नर्तकी पर जैसे उसके सौन्दर्य्य की कान्ति बन कर खिलता था।

बीजगुप्त ने वीणा के तारों से जैसे परिचय किया, एक मधुर झन्कार उठी। मृदंगवादकों ने थपकी दी। नृत्याङ्गनाओं को आमन्त्रण मिला। वह एक वायवीय मुद्रा का आश्रय लेकर खड़ी हुईं।

पहले वीणा के मन्द-मन्द स्वर उठे। वैसी ही नूपुर-ध्वनि हुई। नर्तकीं, सम्राट् तथा अन्य दर्शकों की बन्दना कर उठीं।

तिष्या ने नवीन जीवन की ओर पदार्पण किया था ; जैसे इसी कारण वह तन्मय होकर सभी का आशीर्वाद ग्रहण कर लेना चाहती थी। और सुनयना उस प्रतिस्पर्द्धा में जैसे अपनी श्रेष्ठता का ही अभिमान लेकर नृत्याभिनय में सबको प्रणाम करती थी।

धीरे-धीरे नृत्य का एक चरण समाप्त हुआ।

बीजगुप्त ने नेत्र बन्द कर लिये। सभासदों का ध्यान उसकी ओर भी लगा था। अपने ही ध्यान में लीन उस युवक सामन्त के स्वरों पर सब मुग्ध हो उठे थे। नृत्याङ्गनाएँ भी तो उन्हीं का अनुकरण कर जैसे सबको अभिमन्त्रित किये लेती थीं।

सब एकटक हो देखने लगे, सुनने लगे। आँखों और कानों की राह हो कर जैसे अन्तःकरण पर मधुर रस झरने लगा।

वीणा के तार न जाने उस युवक सामन्त के मन के किस इङ्गित पर झंकृत हो रहे थे, जैसे उसे स्वयं भी ध्यान नहीं। उस मण्डप के मध्य, न जाने अपने-अपने उर के कैसे उद्दीपन का आश्रय ले उन कोमलाओं ने उनका अभिनन्दन करना आरम्भ किया था; जैसे किसी गूढ़ दिशा में बढ़ा ले चलने को किसी ने उन चरण-नूपुरों और चंचल यौवनाओं की देह की हिलकोर को वशीभूत कर लिया हो।

दोनों नर्तकी एक दूसरे के निकट थिरकती थीं। कब वह आगे बढ़कर वीणा के सम्मुख सहसा ठिठक जातीं, कब पीछे हटकर उनके चरणों की ठुमुक नूपुर-ध्वनि को वीणा-वादक के स्वरों के साथ एकाकार कर देने को आतुर हो उठती। दर्शकों को जैसे तब कुछ भी ज्ञान न रह पाता। उनके हृदय भीतर ही भीतर उमँग उठते, शिराओं में कम्पन उत्पन्न हो जाते; अनजाने ही उनके मुख से साधुवाद प्रस्फुटित हो निकलता।

तिष्या के पगों का खेल, बाहुलताओं की अँगड़ाई और विभिन्न मुद्राओं के बीच स्वयं ही लहरा जाने वाला उसका सौन्दर्य्य, न तो किसी ओर संकेत करता था, न किसी को आमंत्रित करता था; उसकी तो जैसे अपनी गति थी, अपना ही खेल, अपने ही आनन्द में विभोर; किसी कला का प्रदर्शन नहीं, वह तो जैसे किसी ओर से उठने वाले संगीत की मर्यादा का उसी में एक रूप हो निर्वाह करता था। उसके पीछे विवश होकर चलता था।

बीजगुप्त अपने हृदय के किस वीतराग शृङ्गार को लेकर सामने बैठा कोई खेल करता था, जैसे वह समझने के लिये नहीं; जिस हृदय से स्वर फूटते हों जैसे उसी से थिरकन भी प्रस्फुटित होती हो; कोई ऐसा जादू करता था। कहाँ से भावना और उमंग का स्रोत उमड़कर, उँगलियों के द्वारों से प्रवाहित

होता था, इसे समझने के लिये आतुरता नहीं; किसी की भी कोई विवशता तत्क्षण ही उसे आत्मसात् करने को विकल हो उठे, अङ्ग-अङ्ग के रोम-रोम से उसी को निकालकर फैला दे, देखने वालों की आँखें उसे देखें, सुनने वालों के कान उसे सुनें ; न कोई जाने न कोई बताये।

अवकाश में बाहु-सुमनों की चेष्टा, चरणों में संगीत के साथ-साथ बढ़ चलने का अभिमान, थिरकन में अद्‌भुत मुद्राओं का सृजन करने वाली गति, और वीणा के स्वरों पर मचलती नूपुर-ध्वनि, जैसे सुनयना के चांचल्य की रक्षा करते थे ; कहीं उसकी उमंग सभा के मोह को भंग न कर उठे, जैसे इसी चेष्टा में वह नर्तकी अपने पलकों की किसी हल्की-सी संधि से कभी-कभी झाँक उठती थी।

तीनों साथ-साथ चलते रहे।

दर्शकों के हृदय झंकृत होते थे, उन्हें जैसे कुछ भी ध्यान नहीं ; एक दिशा की ओर मुँह उठाये थे, जैसे और कुछ चिन्तनीय नहीं। वह देखते थे— बीजगुप्त किसी ओर देखता ही नहीं, नर्तकियों को कोई अपना ध्यान ही नहीं।

सहसा सुनयना पिछड़ने लगी। अपनी साथिन का अनुकरण करते-करते भी जैसे कोई बोल रह जाता था। वह आँख खोलकर देख उठती, उसकी प्रतिद्वंद्विता करने वाली उस नवल नर्तकी पर शैथिल्य आया या नहीं ; किन्तु वह तो जैसे सब कुछ भूलकर नाच रही थी। सुनयना का उत्साह ठण्डा हो उठा। वह और प्रयत्न करने लगी। स्वेद जल से उसका गात भीगने लगा।

किन्तु बीजगुप्त को कुछ भी ध्यान नहीं। कौन उसके स्वरों के साथ चलता है कौन नहीं।

सहसा किसी ओर से स्वर उठा, "सुनयना ! तुम बैठ जाओ।"

किसने कहा यह किसी को ज्ञात नहीं। किस-किस ने सुना यह भी नहीं कहा जा सकता।—हाँ सुनयना सुनकर जैसे आहत हो उठी। वह भूमि पर गिर पड़ी।

मृदंगवादक भी साथ छोड़ बैठे।

किन्तु बीजगुप्त की अँगुलियाँ चलती रहीं।

उनके साथ जैसे तिष्या का नृत्य नहीं, उसकी चेतना झंकृत होरही थी।

कब तक वह और चला, किसी को नहीं ज्ञात।

सहसा किसी का कठोर स्वर सुनाई पड़ा, "सम्राट्!"

दर्शक जैसे चैतन्य हुए।

वैसा ही शब्द पुनः हुआ, "यह कैसी सभा है सम्राट्?"

बीजगुप्त ने आँखें खोलीं; नर्तकी रुक गई, दोनों के नेत्र मिले। एक दूसरे की आँखों में जैसे एक दूसरे का विस्मरण पड़कर जाग उठा; किन्तु तिष्या पर खड़ा नहीं रहा गया, वह धीरे-से घुटनों के बल धरती पर शीश टिकाकर झुक गई—ठीक वीणा और बीजगुप्त के सामने।

आँखें खोलकर सबने देखा—सुनयना विस्मित भाव से मुँह उठाकर बीजगुप्त और वहीं उसके सामने प्रणाम करती-सी तिष्या को देखती थी। काशी की महानर्तकी ऊपर से उतरकर मण्डप में आ गई थी और एक युवा योगी उस सभा का उपहास करता-सा मण्डप-द्वार में खड़ा था। कुछ के मुख से निकल पड़ा था, "अद्भुत! अद्भुत!...." और योगी को देखकर बहुतों के मुख से प्रस्फुटित हुआ, "योगी कुमारगिरि!"

कुमारगिरि ने सहसा शान्त हो गई सभा को देखा; फिर सम्राट् की ओर देखकर कहा, "यह कैसी सभा है राजन्? जहाँ मानव जीवन की वास्तविक गति का चिन्तन करने को एकत्र हुए लोग कुछ और ही कर रहे हैं; ऐश्वर्य की भोग-लीलाओं में लिप्त लोगों का यह मनोरम लगनेवाला आच्छादन, आत्मतत्व के ज्ञाता, दर्शन की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य, ऋषि और तपस्वी लोगों पर भी कैसे पड़ रहा है, कुछ समझ में नहीं आता। आध्यात्म विद्या से लोक को सद्राह पर लाने वालों की यह क्या गति है महाराज? वह स्वयं ही भ्रम में पड़ गये हैं अथवा कभी-कभी इनकी सभा में ज्ञानचर्चा करने वाले सम्राट् की यह नवीन क्रीड़ा है।"

सुनकर वहाँ बैठे ऋषि, मुनि, सन्यासी, वैरागियों ने एक दूसरे की ओर देखा। अन्य सभासदों की भी वही दशा हुई। महामात्य उठकर खड़े हो गये। उन्होंने योगी से कहा, "कुपित न हों योगिराज! मौर्य-साम्राज्य के महा-मात्य का अभिनन्दन स्वीकार कर पधारें!"

कुमारगिरि के मुख पर व्यंग्य की मुस्कान आई। उसने कहा, "महामात्य! ज्ञान-गंगा में सदैव गोता लगाते रहने वाले, इन आचार्य और तपस्वियों को मृदुल वाणी से अभिमन्त्रित करके इस रंगशाला में बैठा लेने का आपका कार्य अच्छा है।"

महामात्य पर जैसे एक प्रहार हुआ हो; वहाँ उपस्थित जनों पर जैसे कोई कूटोक्ति फूटी हो। महामात्य ने सम्राट् की ओर देखा। उनके मुख पर कोई भाव नहीं आता था। वह केवल उस योगी को देखते थे। चाणक्य का मुख भी गम्भीर था। महामात्य ने पुनः कहा, "योगिराज! समाज के हर पद-विक्षेप को नियन्त्रित करने वाले ऋषि-मुनियों का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये ही मेरे द्वारा सम्राट् की ओर से की गई उनकी अभ्यर्थना को और कुछ न समझा जाय। आप प्रसन्न होकर आसन ग्रहण कीजिए।"

कुमारगिरि ने कुछ नहीं कहा। उसकी दृष्टि अब तिष्या और बीजगुप्त पर टिकी थी।

तिष्या ने धरती पर झुका हुआ शीश उठा लिया था, और बीजगुप्त अभी भी उसी को देखता था।

बीजगुप्त और तिष्या की ओर कुमारगिरि को देखते देख अन्य सभासदों की भी आँखें उधर फिर गईं। उसी क्षण बीजगुप्त ने उस उग्र वातावरण के मध्य समादर न पाती हुई उस नर्तकी के कंठ में अपनी बहुमूल्य एकावली उतार कर डाल दी।

उस क्षण ऊपर सभामण्डप के किसी गवाक्ष में बैठी, यह सब देखती हुई किस सुन्दरी का मन काँप उठा, यह कोई न जान सका। और यशोधरा स्वयं भी न समझ सकी—इसका कारण। योगी कुमारगिरि ने तभी एक मीठा-सा अट्टहास किया। उसके व्यंग्य और तिरस्कार को सभी ने समझा।

कुमारगिरि बोला, "लगता है जैसे इस ऋषिकुल की छाया के बीच, इसी रंगलीला का विधान बाँधने के लिये ही ऐश्वर्य ने उसके उपहास का मंच बनाया है। मुझे कोई अभिनन्दन, कोई आसन नहीं चाहिए।"

यह स्पष्ट ही, उस सभा का—सम्राट् का अपमान था। हर ओर से सम्राट् पर आँखें जा लगीं। वह भी कुछ कठोर हो जाना चाहते थे, कुछ

बोलने को मुख खोल ही रहे थे कि चाणक्य ने उन्हें चुप ही रहने का आदेश दिया।

योगी वहाँ से जाना ही चाहता था कि बीजगुप्त ने खड़े होकर कहा, "योगिराज! यहाँ पर वैभव के चरणों में झुके सामन्त और श्रेष्ठि हैं, प्रजा को धर्म पर दृढ़ बनाये रहने वाले ब्राह्मण और तपस्वी हैं, और शुष्क जीवन की कठोर स्थली से रंगीन छाया की ओर आकृष्ट कर लेने को आतुर कामना-पुष्प जैसी सुन्दर कोमलाएँ हैं; आप भला किसका तिरस्कार कर यहाँ से क्यों चले जाना चाहते हैं?"

योगी खड़ा रह गया। उसने शान्त स्वर में कहा, "किसी लिये भी तो नहीं भद्र!"

तिष्या भी उसी ओर देखती थी। उसने कहा, "तो फिर योगी, तुम्हारे यहाँ से जाने का कारण?"

तिष्या का स्वर सुनकर योगी स्तम्भित रह गया। उसने उसे कई क्षणों तक देखा, फिर शान्त भाव से ही कहा, "नर्तकी! वासना के इस खेल में जहाँ लोग अन्धे हो रहे हैं; संसार के राग-मोह की लीला में, जिनका जागरूक मन जैसे पुनः उससे दूर हट जाने का पाश्चाताप-सा करता हुआ आबद्ध हो जाना चाहता है; और भोग-विलास की प्रतिमूर्त्ति, माया के वीभत्स शृंगार-सी तुम जैसी विषमय कोमलायें जहाँ मुस्कराती हैं, ऐसी सभा में से किसी का भी तिरस्कार करके नहीं, उस रुचिर क्रीड़ा में सहसा आकर पड़ गये व्याघात-सा अलग हो जाना चाहता हूँ।"

सुनकर तिष्या ने कहा, "योगिराज! वासना की चपेट से तुम बचे हुए हो, सांसारिक शृंगार राग-मोह से भी मुक्त ही दीखते हो और भोग-विलास की प्रतिमूर्त्ति-सी विषमय कोमलाओं की ओर से नेत्र मूँदकर रहना ही तुम्हारी साधना का जाज्वल्यमान अंग है, फिर तुम्हारा कहीं भी रहना भला किसके लिये अरुचिकर होगा! विराजिए।"

तिष्या की बात योगी के हृदय में शूल-सी गड़ गई। उसके मुख पर उत्तेजना की रेखायें विकीर्ण हो उठीं। आज इस सभा के लिये स्पृहणीय बन जाने वाली क्या इसी अभिमान से उस पर यह व्यंग्य बाण छोड़ती है?

वह तनकर खड़ा हो गया; बोला, "तुम्हारा यह व्यंग्य, भीतर ही भीतर चलने वाली मुस्कान जो तुम्हारी आँखों के मार्ग में होकर छलकती है, मैं जानता हूँ इस प्रकार से मेरी हँसी उड़ाने का क्या कारण है? तुम महाभाग देवधर......"

तिष्या कुछ उत्तेजित हो उठी। उसने योगी की बात काटकर कहा, "हाँ योगिराज! मैं उन्हीं की पुत्री हूँ। किन्तु इससे क्या? मैंने तुम्हारा कोई अपमान नहीं किया, तुम्हारे प्रति कोई व्यंग्य-वचन भी नहीं बोले। मैं तो यही कहना चाहती हूँ कि जीवन के अपने-अपने साधना-स्थल पर पहुँचे हुए लोग जिन्होंने तुम्हारा कोई अप्रिय नहीं किया, तुम्हारी उपेक्षा और कटु वचन उन्हें दग्ध कर रहे हैं। उन पर कृपा कीजिए।"

योगी उत्तेजित था। वह ठण्डा नहीं हुआ। उसने कहा, "यह क्यों कहती हो नर्तकी! यह क्यों नहीं कहती कि वासना के व्यापार में सम्मिलित होकर मैं भी भ्रष्ट हो जाऊँ। एक महान आचार्य की पापिन कन्या! अब तो तुमने खुलकर खेलने का पथ भी अपना लिया है, मुझे तुम्हारी सम्मति नहीं चाहिए।"

समग्र सभा एक दृष्टि से तिष्या को देख उठी; लगा जैसे योगी के प्रकोप की वही कारण हो।

तिष्या की आँखें जल उठीं। उसने तीव्र स्वर में वहाँ से चलने को उद्यत कुमारगिरि को पुनः ललकारा, "तो भी ठहरो नवयुवक योगी! मैं तुमसे पूछती हूँ क्या तुमने वासनाओं के अन्धकार की गहराई को पहचान लिया है? क्या तुमने विश्व के शृंगार रागमोह की रश्मियों के प्रकाश-क्षेत्र को आँखें खोलकर देखा है? क्या तुमने......"

योगी ने अट्टहास किया। तिष्या बीच में ही रुक गई।

कुमारगिरि बोला, "यह बातें तुम मुझसे पूछती हो। अपने पिता की प्रतिष्ठा पर लात मार कर चलने वाली चंचला कन्या! अपनी दूषित कामना के फेर में लोकधर्म और समाज की मर्यादा का उल्लंघन कर अपने कौमार्य के निर्माल्य को नीच फेकने वाली पापिन। और वासनाओं के समुद्र में फाँद पड़ने को तत्पर इस नर्तकी समुदाय में सम्मिलित हो जाने वाली पतिता।

तुम्हें धिक्कार है । भले ही तुम्हारे नृत्य पर यह सभा प्रसन्न हो, भले ही तुम्हारी ज्ञान-गरिमा से संतुष्ट होकर यहाँ बैठे हुए लोक-विख्यात लोग तुम्हें हृदय से लगायें, परन्तु यह योगी तुम्हें धिक्कारता है ।"

कुमारगिरि के वचन से वह सभा कंपित हो उठी । चारों ओर से सहसा ध्वनि हुई, "नहीं योगिराज ! इस पापिन की कोई प्रशंसा नहीं करेगा, कोई आदर नहीं करेगा ।"

तिष्या ने हाथों से कान मूँद लिये, आँखें बन्द करलीं । किन्तु बार-बार होने वाले वही शब्द किसी प्रकार भी उसके कानों से बाहर न रह पाते थे । वह विकल होकर चिल्लाई, "हाँ । मैं पापिन हूँ ।"

और उसने दौड़कर उस सभा-भवन से निकल जाना चाहा । वह भाग चली । वह द्वार तक पहुँच भी नहीं पाई थी कि सहसा उसे सुनाई पड़ा, "ठहरो देवि !"

तिष्या ठिठक गई । मुड़कर उधर ही देख उठी जिधर से वह वाणी सुनाई पड़ी थी । उसने देखा—महाप्रभु रत्नाम्बर अपने आसन से उठकर खड़े हो गये थे और लोग उन्हें विस्मय से देखते थे । चारों ओर फैलते हुए रव ने बैठकर एक फुसफुसाहट का रूप ग्रहण कर लिया था ।

महाप्रभु रत्नाम्बर तिष्या के निकट आये । उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए मृदुल स्वर में कहा, "किसी प्रकार का दुख मत करो कल्याणी ! धैर्य से परिस्थितियों का सामना करने में ही मनुष्य की धर्म-परीक्षा है । विवेक यदि एक बार लोकमार्ग की अवहेलना करते को प्रस्तुत हो उठा तो क्या हुआ ? परिस्थितियों से लड़ने के स्वभाव को अपदार्थ, कायर क्यों बनाती हो ?"

तिष्या ने आँखों में आँसू भरकर महाप्रभु को देखा । वह रुँधे हुए कण्ठ से बोली, "महाप्रभु !"

रत्नाम्बर ने कहा, "ईश्वर के द्वारा निर्धारित किया हुआ जीवन ही एक विशिष्ट मार्ग है, सब कुछ भूलकर उसी पर चलने की चेष्टा करो ।"

तब तक बीजगुप्त भी धीरे-धीरे उसके समीप आगया । बीजगुप्त ने कहा, "चलो देवि ! अपनी कला से तुमने कान्यकुब्ज की महानर्तकी

को जीत लिया है। अब सम्राट् का साधुवाद ग्रहण करो।"

तिष्या ने बीजगुप्त की ओर देखा ; अपनी सखी का स्नेह से हाथ पकड़ लिया। फिर सम्राट् के सामने पहुँचकर उसने मस्तक नमाया।

सम्राट् ने महिषी की ओर देखा। उन्होंने खड़े होकर अपने कण्ठ से वज्र मणियों का हार उतारकर तिष्या की उसी क्षण आगे बढ़ आने वाली अन्जलि में रख दिया।

साधुवाद से मण्डप भर उठा।

सम्राट् ने बीजगुप्त से कहा, "सामन्त बीजगुप्त। तुमने इस सुन्दरी को अपनी एकावली पहले ही प्रदान कर दी है, इस कारण तुम्हारे कण्ठ को सजाने का भार हमारे ऊपर है।"

बीजगुप्त ने आगे बढ़कर करबद्ध हो सम्राट् को प्रणाम किया, मस्तक नमाया; सम्राट् ने अपनी मरकतमणियों की एकावली उतारकर उसके कण्ठ में डाल दी।

सभा में पुनः हर्ष-ध्वनि का प्रसार हुआ।

फिर सम्राट् ने तिष्या की ओर देखते हुए पूछा, "तुम्हारा नाम सुन्दरी?"

वह कुछ कहना ही चाहती थी कि उसीके पीछे आ खड़ी हुई उसकी सखी काशी की नर्तकी ने आगे बढ़कर कहा, "एक नवीन जीवन में पग रखने वाली इस सुन्दरी का नामकरण आप ही कीजिए देव!"

सुनकर सम्राट् हँस दिये।

तिष्या ने बड़ी-बड़ी पलकें उठाकर उनकी ओर देखा।

सम्राट् ने उसकी ओर देखकर कहा, "अपने मृगशावक के-से इन नयनों को उठाकर क्या चाहती हो कि तुम्हें भी सुनयना कहकर पुकारें, पर सुनयना तो तुम्हारी दासी हो गई है; तुम तो हृदय पर अभिनव चित्र अंकित करने वाली चित्रलेखा हो।"

सभा में फुसफुसाहट फैली, "चित्रलेखा।"

महाप्रभु रत्नाम्बर अपने शिष्यों सहित आश्रम में पहुँचे ; मार्ग भर गुरु-शिष्यों के बीच जैसे कोई वार्तालाप नहीं हुआ था। वह कुछ गम्भीर प्रतीत होते थे; आश्रम में प्रवेश करते ही श्वेतांक ने गम्भीर वाणी में कहा, "महाभाग देवधर की पापिन कन्या को आपने उस भरी सभा में हृदय से लगा लिया गुरुदेव !"

रत्नाम्बर के कानों में जैसे कोई प्रश्न पड़ा हो, उन्होंने मुड़कर श्वेतांक को देखा, विशालदेव को भी देखा ; दोनों की जैसे एक ही तरह की मुद्रा थी। उन्होंने आगे कुटी के चौंतरे पर चढ़ते हुए कहा, "तो फिर।"

"हमें शंका है गुरुदेव। हम अज्ञान हैं।" दोनों शिष्यों ने एक साथ उत्तर दिया।

महाप्रभु रत्नाम्बर एक आसन पर बैठ गये। उनके शिष्य भी सामने बैठे। गुरु ने गम्भीरता से शिष्यों को देखकर सिर हिलाया, और एक दीर्घ निःश्वास त्याग कर कहा, "हूँ।"

दोनों शिष्य शान्त ही रहे।

रत्नाम्बर ने कहा, "कौन व्यक्ति बुरा है और कौन अच्छा, किसे तुम पापी कहोगे और किसे पुण्यात्मा, यह बात यहाँ आश्रम में रहकर अब तुम्हारी समझ में कदापि नहीं आयेगी। उसके लिए तुम्हें अपने मन की भावभूमि पर; संसार में चारों ओर दीखने वाले अगणित रूपों का खेल सजाना पड़ेगा; उन्हें समझना पड़ेगा।"

"हम वह करेंगे देव !" दोनों ने पुनः एक स्वर से कहा।

महाप्रभु रत्नाम्बर अनेक क्षणों तक अंतरिक्ष में देखते हुए कुछ विचारते रहे। फिर बोले, "तो जाओ, कुमारगिरि और बीजगुप्त, तुम दोनों को जानते हो। लोक में उनकी प्रतिष्ठा है, तुम दोनों की दृष्टि में भी उनमें से कोई हेय नहीं है। इस कारण तुम उन्हीं की सेवा में रहकर चित्त को निर्मल करने

की चेष्टा करो। देखो, कहीं उन लोगों में से भी तो कोई ऐसा नहीं है, जिसे तुम कभी हृदय से लगाने की इच्छा न कर सको।"

दोनों शिष्यों ने गुरुचरणों में शीश नमा दिया।

और महाप्रभु रत्नाम्बर अंतरिक्ष में पुनः देख उठे, फिर जैसे स्वयं से ही उच्छ्वास-युक्त वाणी में कह उठे, "पाप और पुण्य।"

श्रृंगार

वह दोनों भागीरथी के बृहत् पुल पर आ खड़े हुए। कोलाहल से शून्य नीरव प्रदेश उनके पीछे दूर तक पड़ा दीखता था; सामने नगर था—क्रीड़ा-विनोद, उल्लास-विलास के कोलाहल में डूबा हुआ।

विशालदेव और श्वेतांक, पुल पार करके नगर में प्रविष्टि हुए।

गृह वाटिकाओं के ऊपर निकली हुई उच्च अट्टालिकायें, प्रशस्त राज-मार्ग, इधर-उधर उनके किनारों पर नगरोद्यानों की शोभा, सायंकालीन रवि-किरणों में सब कुछ पुलकता था। हर दिशा में जनरव, वणिक्पथों, महा-मार्गों पर अनेक प्रकार के वाहनों का उद्वेलन, पण्यागारों में धूम, भीड़भाड़, एक-दूसरे से हँसते-बोलते-से लोग, अपने-अपने कार्य में मस्त, अद्भुत साज सज्जाओं से आवृत वनिताओं का मनचाही दिशा में दृष्टिपात, मुस्कान-छवि, परिचितों से मधुर सम्भाषण और जैसे सुन्दरियों के ही निमित्त बना उन्हें लेकर इस ओर से उस ओर, उस ओर से इस ओर घूमने वाले प्रवाहण-समुदाय की मन्थरगति, चारों ओर फैले इस कोलाहल और धूम को वह आज जैसे विशेष आग्रह से देखते थे। सामन्त बीजगुप्त के भवन पर जाकर वह रुके। विशालदेव ने कहा, "तुम तो आ पहुँचे श्वेतांक। मैं योगी कुमारगिरि की सेवा में जाऊँगा।"

श्वेतांक ने कुछ नहीं कहा। उसके मुख पर कुछ उदासी आ गई।

विशालदेव ने हँसकर कहा, "मैं एक ऋषि-पुत्र हूँ और तुम एक सामन्त-पुत्र! एक सामन्त की सेवा में रहना तुम्हें उचित होगा।"

"अच्छा।" श्वेतांक ने कहा।

विशालदेव चल दिया। और श्वेतांक दूर जाते हुए विशालदेव की ओर देखता रहा। वह उसकी आँखों से ओझल हो गया, तब भी वह जैसे उधर

ही देखता रहा। अंत में उसने भी एक दीर्घ श्वास खींचकर दृष्टि फेरी और बीजगुप्त के भवन के तोरण पर उपस्थित प्रहरियों में से भी एक ने उसके निकट आकर कहा, "भद्र !......"

श्वेतांक ने उसे देखा, और हँसते हुए उसकी बात काटकर कहा, "मैं महाप्रभु रत्नाम्बर का शिष्य यहाँ द्वार पर खड़ा हूँ, तुम आर्य बीजगुप्त को इसकी सूचना दो।"

वही प्रहरी भीतर चला गया; कुछ काल में ही लौटकर आया और श्वेतांक को भीतर ले चला। द्वारशाला में सामन्त बीजगुप्त ने उसका स्वागत किया। श्वेतांक ने उसे प्रणाम करते हुए कहा, "मैं कौशल के क्षत्रिय सामन्त विश्वपति का पुत्र श्वेतांक गुरुआज्ञा से कुछ काल तक देव की सेवा में रहने की इच्छा लेकर उपस्थित हुआ हूँ। मुझे आश्रय दीजिए।"

बीजगुप्त ने श्वेतांक के मुख पर दृष्टि जमाते हुए कहा, "तुम्हें परिचय देने की आवश्यकता नहीं श्वेतांक ! तुम मेरे गुरुभाई हो मेरे लिए इतना ही बहुत है। आओ !"

बीजगुप्त श्वेतांक को भीतर ले चला। चलते-चलते उसने कहा, "तुम बहुत उचित समय पर आये श्वेतांक। नहीं तो, सम्भव था कि आज के उपरान्त कल आने पर ही तुम्हें मेरी कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।"

श्वेतांक उसके पीछे-पीछे चलता रहा। बीजगुप्त की बात का अर्थ वह समझा नहीं, इस कारण उसने कुछ कहा नहीं। बीजगुप्त ने फिर कहा, "सुवर्णगिरि चलोगे ?"

"देव की जैसी आज्ञा।" श्वेतांक ने इस बार संकुचित वाणी में उत्तर दिया।

दोनों एक विशाल प्रकोष्ठ में पहुँचे। एक आसन्दी पर श्वेतांक को बैठने का संकेत कर बीजगुप्त ने मुस्कराते हुए कहा, "क्या गुरुदेव ने तुम्हें मेरे यहाँ इसी संकोच से रहने की आज्ञा दी है ?"

श्वेतांक ने सिर झुकाकर कुछ कहना चाहा कि उसी समय सेवक ने आकर कहा, "देव ! आर्य्य श्रेष्ठ मृत्युञ्जय पधारे हैं।"

सुनकर बीजगुप्त सेवक के साथ ही बाहर चला गया। सामन्त मृत्युञ्जय

को साथ लेकर वह लौटा। श्वेतांक ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। जहाँ पहुँचने पर लोग वृद्धावस्था को आया हुआ समझ उठते हैं, वह वैसे ही प्रतीत होते थे। सिर पर छोटा-सा सुन्दर मुकुट और शरीर पर वस्त्राच्छादन की चमक-दमक वैसे राजस छवि के परिचायक तो थे, किन्तु ग्रीवा तक झूलने वाले उनके धवल केश, और समय के चिन्ह समेट कर कुछ सहेजे हुए, उनका शान्त-सा मुखमण्डल, उसकी कोमल मुस्कराहट, जीवन-गाम्भीर्य के अनुराग-चित्र-सा उनको बनाये थी। श्वेतांक ने उन्हें प्रणाम किया। मृत्युञ्जय ने उसे आशीष देकर कहा, "मैं तुम्हें पहचान नहीं सका वत्स !"

बीजगुप्त ने हँसकर कहा, "मेरे गुरुभाई, कौशल के महासामन्त आर्य विश्वपति के पुत्र श्वेतांक को आप बिना बताये पहचान भी नहीं सकेंगे आर्य।"

सुनकर मृत्युञ्जय जैसे चौंक पड़े। उन्होंने श्वेतांक से कहा, "तुम विश्व-पति के पुत्र हो ! कैसा संयोग है ! वह मेरे मित्र हैं।"

श्वेतांक ने कुछ नहीं कहा।

बीजगुप्त ने प्रकोष्ठ में उपस्थित परिचारक से कहा, "देखो आर्य श्वेतांक के आतिथ्य-सत्कार में कोई कमी न रह जाय। कम से कम आज के लिए तो वह हमारे अतिथि हैं ही।"

और वह श्वेतांक की ओर देखकर हँस दिया।

श्वेतांक भी कुछ मुस्करा उठा और परिचारक के साथ बाहर चला गया। उसके जाने के बाद बीजगुप्त ने मृत्युञ्जय की ओर देखा। उन्होंने भी उस दृष्टि का मन्तव्य समझकर एक मंजूषा निकाली और बीजगुप्त की ओर बढ़ा दी। फिर कहा, "इसमें पत्र है, पढ़ लीजिए।"

बीजगुप्त ने पत्र खोलकर पढ़ा।

'बौद्ध गया से गूढ़पुरुष समाचार लाये हैं कि वहाँ की पौर जानपद में सम्राट् के प्रति असंतोष फैला है; कुछ पूर्व राजकुल नन्दवंश के लोग वैसी स्थिति पैदा होने के कारण प्रतीत होते हैं। आप जाकर वहाँ की दशा की परीक्षा कीजिए। यदि आवश्यक समझें तो सामन्त बीजगुप्त को साथ ले लेने की कृपा करें। कार्य बहुत ही गुप्त रूप से हो।'

नीचे राजमुद्रा का चिन्ह था।

बीजगुप्त ने उसे एक ओर रखकर कहा, "तो क्या मुझे चलना ही होगा ?"

"हाँ! आज्ञापत्र पर तुम्हारा नाम आ जाना ही आदेश है आर्य बीजगुप्त ! इसे तुम भली तरह से जानते हो।" मृत्युञ्जय ने कहा।

बीजगुप्त ने कहा, "किन्तु मुझे सुवर्णगिरि जाना था, और वह भी राज-कार्य से।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "परन्तु अब तो तुम्हें इस राजकार्यको पहले देखना है।"

"तो ठीक है।"

उषःकाल में ही बीजगुप्त के भवन के सामने राजमार्ग रथों और घोड़ों से भर गया। बीजगुप्त का रथ भी अपने साथ सेवकों की भीड़ लेकर रथ-घोड़ों के साथ बाहर आया। श्वेतांक और बीजगुप्त एक ही रथ में थे। उनका रथ मृत्युञ्जय के रथ के समीप आया। उसमें यशोधरा भी बैठी थी। बीजगुप्त और श्वेतांक दोनों ने मृत्युञ्जय को प्रणाम किया। फिर रथ में बैठी यशोधरा पर ज्योंही बीजगुप्त की दृष्टि पड़ी। वह कह उठा "देवि यशोधरा ! तुम भी चल रही हो !"

मृत्युञ्जय ने उन्हें शुभाशीर्वाद देकर अपनी कन्या की ओर देखते हुए कहा, "आर्य बीजगुप्त ! तक्षशिला से लौटी यशोधरा को जब कभी लोग आशीर्वाद देने आते हैं तुम्हारी चर्चा में ही उनका सब समय चला जाता है। यशोधरा का प्रणाम स्वीकार करो।"

यशोधरा बीजगुप्त को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम कर रही थी। राजमार्ग पर फैलते हुए प्रभातकालीन सन्ध्यालोक की श्यामल-सी रश्मियों का सम्मिलन पाकर उसकी रूप छवि और भी खिल उठी जान पड़ रही थी। अलकों का अन्धकार झीने उत्तरीय में से झाँकता था और मुख-चन्द्र की द्युति जैसे उसे और मनोरम बनाती थी। आज की इस नवल यौवना में और वनप्रान्त में मिली तापसी-सी तरुणी में महान अन्तर था। अब तो लगता था जैसे उसका यह प्रणाम करने को उठा हुआ युगल करों का भाव भी उसके यौवन और सौन्दर्य की कोई चेष्टा है, लोकव्यवहार की कोई कला नहीं। बीजगुप्त ने उसका

अभिवादन स्वीकार करते हुए कहा, "यह मेरा सौभाग्य है देव !"

नगर से निकल कर वह भागीरथी और शोण के संगम पर आये। वहाँ से शोण के सहारे-सहारे उसके तट पर दूर तक फैली हुई उद्यान-शृंखला के बीच चलते हुए दक्षिण-पथ पर अग्रसर हुए। कोई आधा योजन तक वह दक्षिण दिशा की ओर जाने वाला दक्षिण-पथ शोण-के तट का त्याग नहीं करता था। जहाँ से वह दूसरी ओर चलता था, वहाँ शोण तट पर श्वेतप्रस्तर के मण्डप-युक्त घाट बने थे। और उनसे कुछ बाँयी ओर हटकर एक खँडहरों का ऊँचा ढूह दिखाई देता था। उसके पीछे की ओर वह मार्ग छिप गया था। मृत्युञ्जय ने यशोधरा से उसी स्थल को दिखाकर कहा, "देखो यशोधरा! यह खँडहरों का ऊँचा ढूह न जाने कितना प्राचीन है, और शोण-तट के यह घाट भी सम्भवतः बहुत प्राचीन हैं। पहले यहाँ कोई नहीं रहता था, अब तो इस ढूह के पीछे योगी कुमारगिरि ने अपना आश्रम बना लिया है।"

तब तक उनका रथ उस ढूह के नीचे आ चुका था; मृत्युञ्जय ने तब उस ढूह पर ऊपर की ओर संकेत करके कहा, "इसके ऊपर हिरण्यवाहेश्वर महादेव का मन्दिर है; सुनते हैं उनके प्रसन्न होने पर मन की कोई कामना पूरी हुए बिना नहीं रहती।"

रथ बढ़ रहा था। मृत्युञ्जय अपनी कन्या को उस स्थान का परिचय देते जा रहे थे। यशोधरा उस सबको बड़े आग्रह से देख रही थी। मृत्युञ्जय ने आगे कहा, "यहाँ तक वैसे लोग घूमने आते हैं पर बहुत कम। लोग इस स्थान को भी हिरण्यवाहेश्वर के नाम से ही पुकारते हैं।"

वह यात्री-दल धीरे-धीरे उस स्थान को पीछे छोड़ चला। तभी सहसा उन खँडहरों के ढूह से आकर कोई मधुर गीत उन्हें सुनाई पड़ने लगा। प्रभातकाल की कोमल घड़ियाँ और भी स्पृहणीय बन उठीं। बड़ी धीमी किन्तु मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती थी। कोई बड़े करुण स्वर से गा रही थी। यशोधरा ने मृत्युञ्जय से कहा, "सुनो तो पिताजी! कैसा मधुर गीत सुनाई पड़ रहा है?"

श्वेतांक ने बीजगुप्त से कहा, "स्वामी! कोई कितने मधुर कण्ठ से गा रही है।"

बीजगुप्त ने कहा, "हाँ श्वेतांक ! किन्तु आश्चर्य है ।"

वह स्त्रीकंठ जैसे किसी आकुल-हृदय की वेदना छिटका रहा था, अन्तरतम के पटों को स्वर के सहारे बाहर बिछाता जा रहा था ।

बीजगुप्त ने रथ बढ़ाकर मृत्युञ्जय के रथ के बराबर में किया । मृत्युञ्जय ने उसे देखकर कहा, "कितना मधुर कंठ है आर्य बीजगुप्त ?"

बीजगुप्त ने कहा, "यही तो मैं कहना चाहता था देव ! किन्तु इस टीले से यह मधुर ध्वनि उठते देखकर मुझे आश्चर्य होता है ।"

मृत्युञ्जय ने कहा, " यह खण्डहर स्वयं ही एक आश्चर्य हैं आर्य बीजगुप्त ! इनके विषय में लोग न जाने क्या क्या कहते हैं ! क्या तुमने सुना नहीं ?"

"सुना है ।" बीजगुप्त ने कहा ।

यशोधरा को विस्मय हुआ । श्वेतांक को भी ।

बीजगुप्त का रथ पीछे हो चला । उधर वह गायन भी धीमा पड़ गया; पीछे रह गया ।

बौद्धगया के बाहर उस छोटी-सी पान्थशाला के सामने पहुँचकर वह समुदाय रुका। पान्थशाला के कर्मचारियों ने बाहर निकलकर तत्काल ही स्वागत किया। माध्याह्न के समय में उन थके हुए यात्रियों से पान्थशाला भर-सी गई।

सायंकाल में जब बीजगुप्त और मृत्युञ्जय एक रथ में बैठकर चले, तो उन्होंने यशोधरा से कहा, "तुम श्वेतांक को साथ लेकर घूम आना।"

यशोधरा ने मुस्कराकर बीजगुप्त की ओर देखा, फिर समीप ही खड़े श्वेतांक को देखकर बोली, "आप चलेंगे न। आर्य श्वेतांक।"

"स्वामी की आज्ञा को मैं कैसे टाल सकूँगा देवि?" श्वेतांक ने मार्ग पर बढ़ जाते हुए मृत्युञ्जय और बीजगुप्त के रथ को देखते हुए कहा।

यशोधरा ने विस्मय से कहा, "स्वामी!"

"और नहीं तो क्या?"

"गुरुभाई नहीं?"

"वैसा समझकर मैं स्वामी की उचित सेवा नहीं कर सकूँगा देवि!" श्वेतांक मुस्करा दिया। फिर आगे कहा, "अच्छा चलो।"

यशोधरा तो प्रस्तुत ही खड़ी थी। उसने तत्काल ही कहा, "चलो।"

उन्हें भी रथारूढ़ होकर वहाँ से जाते में देर नहीं लगी।

उस बौद्ध तीर्थ के स्तूप और विहार वहाँ के मुख्य आकर्षण थे। दोनों ही नगर से अनजान थे। अनिश्चित दिशाओं में रथ बढ़ाकर जब वह नगर से बाहर पहुँच जाते तो उन्हें जैसे ध्यान होता, कहाँ आ गये? और उन्हें लौटना पड़ता। पाटलिपुत्र, तक्षशिला और अयोध्या की शोभा यशोधरा ने देखी थी; उसे वह नगर नहीं भाया। सूर्यास्त होते ही वह लौटने लगे।

अन्धकार से भरे हुए मार्ग पर आते-आते वह एक बौद्ध विहार के सामने होकर निकले, तो उन्होंने देखा—उस विहार में बहुत से व्यक्ति प्रवेश करते थे बहुत-से व्यक्ति उसमें से बाहर निकलते थे। वहाँ एक नीरव हलचल थी।

श्वेतांक ने भी रथ रोका।

विहार की प्राचीर अन्धकार में काली हो रही थी। उसमें आने जाने वालों की आकृतियों को देख पाना भी सरल नहीं था।

यशोधरा ने पूछा, "यहाँ क्या हो रहा है आर्य श्वेतांक ?"

श्वेतांक हँसा। उसने कहा, "मैं तुमसे अधिक क्या जानता हूँ ?"

यशोधरा उधर ही देखती रही, सहसा फिर बोली, "अरे देखो स्त्रियाँ भी चली जा रही हैं। मैं भी उनके साथ जाकर देख न लूँ भीतर क्या हो रहा है ?"

श्वेतांक कुछ कहे, इससे प्रथम ही यशोधरा रथ से उतर भी पड़ी। श्वेतांक ने उसे रोकना चाहकर भी नहीं रोका। वह विहार के भीतर चली गई।

यशोधरा ने भीतर जाकर देखा—विहार में बड़ी शान्ति थी। मन्दालोक सर्वत्र फैला था। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियाँ इधर-उधर आ जा रहे थे। तथा बुद्ध के उपासक अन्य लोगों का भी वहाँ अभाव नहीं था। किन्तु वहाँ विहार से बाहर दीखने वाली भीड़ नहीं थी, उस बृहत्आकार के विहार में वहाँ फैले हुए लोग जैसे मालूम भी नहीं पड़ते थे। भूमिष्ठ होकर सब कहते थे,—

'बुद्धम् शरणम् गच्छामि।'

'धम्मम् शरणम् गच्छामि !'

'संघम् शरणम् गच्छामि !'

वही स्वर समवेत भाव से वहाँ गूँजता था। कोई किसी से बात नहीं करता था। यशोधरा का कुतूहल शान्त हुआ। वह वहाँ जिस प्रकार आई थी उसी तरह लौट चली।

द्वार से निकलकर वह बाहर आई। चुपचाप सिर झुकाये वह रथ की ओर बढ़ने लगी। उसके मन में विचार आते थे, 'उत्थान और पतन जैसे किसी और की ही लीला है। दूर-दूर तक आर्य्यावर्त में फैले विहार ऐसी ही शान्ति का प्रचार करते होंगे, इनकी शक्ति राजवंशों के प्रभुत्व की तरह फैली होगी। किन्तु आज ! इन तीर्थ स्थानों में ही यह सब दिखाई देता है। कितना शान्त वातावरण है, उपासकों के मुखमण्डल कितने आकर्षक हैं जैसे

चारों ओर फैली अशान्ति से कोई प्रयोजन न रख कर उन्होंने यह छवि प्राप्त की हो।'

सहसा उसे कुछ फुसफुसाहट सुनाई पड़ी। वह ठिटक कर खड़ी हुई। देखा— वह एक चैत्यवृक्ष की कालिमा में खड़ी हो गई थी। उसे सुनाई पड़ा—

"क्या सचमुच ?"

"हाँ लगता है जैसे अब हमें इस नगर को छोड़ देना होगा।"

एक पुरुष कण्ठ और दूसरा किसी नारी का स्वर।

"तो फिर क्या होगा ?'

"वियोग।"

"नहीं प्रिये। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा। तुम जहाँ भी जाओगी, मैं वहीं चलूँगा।"

"क्या घर-बार, माता-पिता को त्यागकर ?"

"हाँ ! मेरे लिये तुमसे अधिक और कुछ नहीं।"

यशोधरा ने जाना, जैसे उन्हें उधर से किसी आने-जाने वाले का ध्यान ही नहीं। वह भी न जाने क्यों वहाँ स्तम्भित-सी हो रही थी। यदि उन दोनों में से कोई उसे देख ले तो ? इस पर उसका विचार ही नहीं गया।

कुछ क्षण को यशोधरा को कुछ नहीं सुनाई पड़ा। वह चुपचाप खड़ी रही। उसका हृदय धड़कता था। देखती जैसे किसी ओर नहीं थी, कान ही कहीं लगे थे।

स्त्रीकंठ पुनः सुनाई पड़ा, "मुझे फिर मेरे पिता से ही क्यों नहीं माँग लेते ?"

"वह तुम्हें मुझे प्रदान करेंगे ?"

"हाँ क्यों नहीं करेंगे ? हमारा दोनों का प्यार !"

"किन्तु तुम फिर भी एक महान राजवंश की कुमारी हो। क्या तुम्हारे पिता का यह मान अभी हृदय से निकल गया होगा ? और मैं एक साधारण श्रेष्ठि-पुत्र।"

"तो फिर रहने दो।"

यशोधरा इस बात को न समझ पाई। किस राजवंश की कुमारी से वह श्रेष्ठि-पुत्र प्रणय-बंधन में बँधा था ?

कुछ क्षणों तक शान्ति रही, फिर सहसा वह कुमारी बोली, "अच्छा अब चलूँ। पिताजी को विहार में छोड़कर आई हूँ। तुम भी विहार में चलोगे न ! महास्थविर उपदेश देंगे।"

"नहीं ! मेरे हृदय में निराशा उत्पन्न करने के लिये आज का यह तुम्हारा मिलन ही बहुत है।" युवक ने कहा, और एक दीर्घश्वास खींची।

"ऐसी बात न करो ?" फिर चलते-चलते कहा, "वहीं नगर के बाहर पान्थशाला के पीछे देवमन्दिर पर मिलना।"

यशोधरा चुपचाप खड़ी थी, जैसे वह भूल गई थी, कहाँ खड़ी है। सहसा उससे वह कन्या आकर टकराई। जैसे उसे चेत हुआ। तत्काल ही उसके मुख से निकला, "क्षमा करना देवि !"

वही स्वर उस टकराने वाली के मुख से भी निकला। फिर दोनों घबराहट में विपरीत दिशाओं की ओर बढ़ गईं।

यशोधरा जैसे एक स्वप्न में से निकल कर रथ में आ बैठी। उसने धीरे से कहा, "चलो आर्य श्वेतांक !"

यशोधरा की आँखों से वह दृश्य न निकलता था, कानों में जैसे वही स्वर पड़ते थे। उसके पिता के साथ बीजगुप्त प्रहरभर रात्रि गये लौटा। यशोधरा उन्हें भोजन कराते समय भी अपने मन में डूब रही थी, आँखों से केवल बीजगुप्त को देख उठती थी। क्यों ? सो कुछ नहीं मालूम। परिचारिकायें भोजन परोस रही थीं, यशोधरा केवल बैठी थी। यह देखकर मृत्युञ्जय ने कहा, "यशू ! आज क्या हो गया है तुम्हें ? आज क्या तुम्हारे हाथ से हमें कुछ भी खाने को नहीं मिलेगा ?"

यशोधरा जैसे चौंकी, और "अरे" कहती हुई उठ खड़ी हुई।

बीजगुप्त और मृत्युञ्जय की वार्ता चल रही थी। वह पुनः उसी में लगे। मृत्युञ्जय ने कहा, "यहाँ भागकर आये हुए नन्दवंश के अधिकाँश लोग बौद्ध हो गये हैं। और बौद्ध अपने धर्मप्रसार में लगे हैं। संभवतः वह भी इस कार्य में उनकी सहायता करते हों।"

बीजगुप्त बोला, "और मुझे पौर जानपद में फैले सम्राट् के प्रति असंतोष का यही कारण प्रतीत होता है। उत्तेजित होकर नन्दों के लिये सम्राट् की बुराई करना असंभव नहीं।"

"किन्तु उसे तो उन्हें कोई विशेष महत्व नहीं देना चाहिए। नन्द और मौर्य दोनों शत्रु हैं। एक दूसरे पर आक्षेप कर सकते हैं।" मृत्युञ्जय ने कहा।

बीजगुप्त ने इसके आगे कुछ नहीं कहा। दोनों ने भोजन समाप्त किया।

यशोधरा ने पूछा, "क्या यहाँ पर नन्दवंश के लोग आये हुए हैं और उनमें से कुछ बौद्ध भी हो गये हैं?"

"हाँ!" बीजगुप्त ने कहा।

यशोधरा को जैसे कुछ-कुछ उस कुमारी के वंश का परिचय मिला।

दूसरे दिन वह श्वेतांक को साथ लेकर पान्थशाला के पीछे, दूर पर स्थित देव-मन्दिर में पहुँची।

देवमूर्त्ति के दर्शन उन्होंने किये। गरुड़ध्वज की बड़ी भव्य मूर्त्ति थी। मण्डप में दर्शकों का भी अभाव नहीं था। स्त्रियाँ भी थीं, पुरुष भी। कुछ स्त्रियों के पीछे खड़ी होकर यशोधरा ने भी आँखें बन्द करके देव की बन्दना की। कुछ देर में वह स्त्रियाँ वहाँ से चलीं। यशोधरा भी साथ ही मुड़ी। श्वेतांक पीछे-पीछे चला। यशोधरा को देखकर उनमें से एक स्त्री ने उससे पूछा, "तुम्हारा निवास स्थान कहाँ है भगिनी?"

"पाटलिपुत्र।"

"यही मेरा अनुमान था।" कहकर उस स्त्री ने एक दीर्घश्वास खींची।

यशोधरा ने उससे पूछा, "देवि भी तो यहाँ की नहीं जान पड़तीं।"

"हमारा भी गृह कभी मगध में ही था। दुर्भाग्य से वह त्याग देना पड़ा।" उसी स्त्री ने कहा। तब तक वह बाहर आगई थीं। श्वेतांक पर भी उसकी दृष्टि पड़ी। उसे देखते ही उसने यशोधरा से पूछा, "सहोदर है?"

यशोधरा श्वेतांक की ओर देखकर मुस्कराई। श्वेतांक शान्त भाव से चल रहा था। यशोधरा ने उस पर से आँखें हटाकर उस से कहा, "हाँ! यही समझें।"

इसके आगे उनका वार्तालाप रुक गया। वहाँ से चलकर सभी मन्दिर-

प्राँगण में आईं। अपने-अपने रथों पर सब ने पाँव रक्खे। यशोधरा पैदल आई थी। वह श्वेतांक के साथ तोरण की ओर चली। सहसा तभी उन स्त्रियों में से एक कुमारिका ने यशोधरा के पास आकर पूछा, "क्यों भगिनी? क्या तुम बताओगी कि यहाँ क्यों आई हो?"

यशोधरा हँसी। उसने कहा, "बौद्धतीर्थ है, प्राचीन नगर है, देखने चली आई हूँ।"

परन्तु उस सुमुखी को यशोधरा के इस कथन पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। वह हँसकर सरल भाव से बोली, "अच्छा! ऐसा ही होगा।" और वह अपने रथ की ओर चली।

यशोधरा को विस्मय हुआ। उसने सहसा उसकी भुजा पकड़ कर कहा, "मैं पूछती हूँ तुम कौन हो कल्याणी? तुम्हें मगध क्यों त्याग देना पड़ा?"

उस कुमारिका ने कहा, "नन्दों का नाम तुमने सुना होगा। चन्द्रगुप्त ने हमें चैन नहीं लेने दिया। चाणक्य के कोप ने हमारा सर्वनाश कर दिया।"

यशोधरा ने उसकी बाहु छोड़ दी। फिर कहा, "परन्तु तुम विश्वास रक्खो हम यहाँ पर किसी का अनिष्ट करने नहीं आये।"

यशोधरा के विचारों में वह कन्या घुमड़ती रही।

दो दिन बाद पान्थशाला छोड़कर वह बौद्धगया के महाश्रेष्ठि के यहाँ आगये। नन्दों के विषय में अब और भी चर्चा होने लगी थी और अब यशोधरा की समझ में कुछ-कुछ वहाँ आने का कारण आ गया था। उसे जानकर वह बेचैन हो गई थी।

एक दिन श्वेतांक ने उससे कहा, "स्वामी कहते थे कि आज उनका कार्य पूर्ण हो गया, कल हम पाटलिपुत्र लौट चलेंगे। मुझे आज्ञा हुई है कि यदि तुम इस नगर में और घूमना चाहो तो मैं तुम्हें घुमा लाऊँ।"

यशोधरा ने कहा, "चलो! वैसे तो कहीं घूमने की इच्छा नहीं, पर यहाँ बैठे-बैठे भी मन नहीं लगता। चलो चलें।"

वह दोनों रथारूढ़ होकर चल दिये।

इधर-उधर घूमते हुए गरुड़ध्वज-मन्दिर पहुँचे। उसी के प्रांगण में रथ जाकर रुका। रथ से उतरकर दोनों मंदिर में भीतर चले। भीतर से वही नन्द-

कुल की कन्या एक युवक के साथ बाहर आ रही थी। उसने यशोधरा को पहचाना। वह उसी के पास रुकी। श्वेतांक भीतर चला गया।

उस कुमारिका ने यशोधरा से कहा, "कल हम बौद्धगया छोड़ देंगे भगिनी।"

यशोधरा ने उसे विस्मित भाव से देखा।

उसने कहा, "हाँ देवि ! अच्छा ही हुआ आपके भी दर्शन हो गये, नहीं तो एक प्रियजन से विदाई लेना रह ही जाता।"

यशोधरा बोली, "मेरी तुमने प्रियजनों में गणना की। मेरे धन्य भाग्य !"

वह सुन्दरी मुस्कराती हुई चली गई। साथ में वह युवक भी चला गया। यशोधरा उन्हें जाते हुए देखने लगी। वह कुछ खिन्न हो गई थी।

उसने देव-दर्शन नहीं किये। उन दोनों को मंदिरोद्यान की ओर मुड़ जाते हुए देखकर वह लौट पड़ी। उसी उद्यान में उसने भी प्रवेश किया। वहाँ पहुँच कर उसने देखा—उस वाटिका के मध्य लहराती हुई एक वापिका के घाट पर उसकी सबसे नीचे की सीढ़ी पर वह बैठ गये थे। दोनों ने जल में पाँव डाल दिये थे। यशोधरा ऊपर ही एक वृक्ष की ओट में खड़ी रह गई।

उस युवक ने कहा, "तुम कल जा रही हो।"

"हाँ ! हम सब ही जा रहे हैं। अब न जाने कहाँ आश्रय मिलेगा।"

"तुम्हारे साथ मैं भी तो चलूँगा, जहाँ कहीं भी आश्रय मिलेगा मैं भी रह लूँगा।"

"नहीं ! तुम कहाँ मारे-मारे फिरोगे ? न जाने हमारा अब क्या ठिकाना लगे ? सुना है चन्द्रगुप्त ने हमारे लिये कोई राजपुरुष भेजे हैं। हममें से कुछ बौद्ध हो गये हैं, सम्भवतः इसी कारण।"

"ऐसा क्यों ?"

"यह तो वही जानें। किन्तु कभी-कभी बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये ब्राह्मण धर्म और उसमें श्रद्धा रखने वाले चन्द्रगुप्त के विरुद्ध भी कहना-सुनना पड़ता है।"

"उससे सम्राट् को क्या हानि ?"

वह कन्या हँसी, फिर बोली, "लोगों में से उनका विश्वास उठता है। और अब पौर जानपद के कितने लोग बौद्ध हो गये हैं, तुम्हें ज्ञात है ?"

यशोधरा सुन रही थी। उसने एक दीर्घश्वास खींची। उन दोनों के प्रति उसके हृदय में समवेदना उठ रही थी। वह वहाँ से हटी।

अकस्मात् तभी उसके कानों में कुछ भारी पग-शब्द पड़े। उसने देखा—कुछ सैनिक वहाँ चले आ रहे थे। वह तीव्र गति से वहाँ से चली, सैनिकों ने उसे बीच में रोककर पूछा, "तुम कौन हो ?"

यशोधरा ने दृढ़ कण्ठ से कहा, "मुझसे तुम्हें क्या ? क्यों बताऊँ कि मैं कौन हूँ ?"

किसी ने कहा, "यही होगी।"

यशोधरा का माथा ठनका। यह कैसा अभियान ? उसने करुण दृष्टि से वापिका की ओर देखा, फिर कहा, "हाँ, मैं ही हूँ। मुझे ले चलो। तुम मुझ नन्द-कन्या को ही खोजते हो न !"

"हाँ।"

उसी क्षण सहसा बीजगुप्त ने वहाँ दौड़ते हुए आकर यशोधरा से कहा, "यशोधरा तुम !" फिर सैनिकों से कहा, "यहाँ क्यों खड़े हो ? उसकी खोज की ?"

फिर वह आगे चल दिया। वापी की ओर बढ़ा। सैनिक भी उसके साथ चले। यशोधरा भी साथ हो ली। सहसा उस बावड़ी के तट की ओर बढ़ते हुए बीजगुप्त का हाथ यशोधरा ने पकड़ लिया और करुण कंठ से कहा, "ठहरो बीजगुप्त !"

बीजगुप्त रुक गया। यह कैसा आदेश पूर्ण स्वर ? आग्रह भरा सम्बोधन ! उसकी आँखों में विस्मय उतर आया। वह तट पर खड़ा हुआ मुड़कर यशोधरा को देख उठा।

उधर नीचे घाट पर बैठे उन प्रेमालाप करने वालों ने भी चौंककर उधर देखा। वह उठ खड़े हुए। बीजगुप्त और यशोधरा एक दूसरे की आँखों में न जाने कैसा भाव लेकर झाँक रहे थे—उस नन्दवंश की कन्या ने देखा—

यशोधरा के नेत्रों में भरी हुई अपरिमित विनय, जिसे क्या स्त्री हर एक के सामने रख सकती है ? बीजगुप्त ने यशोधरा की ओर से क्षणमात्र में ही दृष्टि फेर कर उन दोनों को देखा, और पूछा, "क्या विद्रोही नन्दों में से तुम लोग भी हो ? तुम्हारे परिवार के सब लोग इस समय राजबन्दी हैं।"

यह सुनकर वह कन्या बिलख पड़ी। बोली, "तो फिर मुझे क्यों छोड़ रक्खा है ?"

सैनिकों ने बढ़कर उन दोनों को बन्दी बना लिया।

उस युवक को बन्दी बनाया जाते देख कर वह कन्या बोली, "आर्य ! नन्दवंश की मैं कन्या हूँ, इन्हें छोड़ दो। इनका कोई अपराध नहीं।"

किन्तु बीजगुप्त ने यह बात अनसुनी कर दी। वह आगे चला। वह अभी भी यशोधरा के उस आग्रह भरे सम्बोधन, आदेश पूर्ण स्वर पर विचारता था। यशोधरा उसके साथ सिर झुकाये चलती थी।

सहसा सैनिकों के बन्धन से मुक्त होकर उस कन्या ने यशोधरा के पाँव पकड़ लिये। कातर वाणी में बोली, "दया करो देवि ! मुझ पर दया करो ! इन्हें मुक्त करवा दो।"

उस युवक ने कहा, "तुम्हारे साथ चलने का कैसा संयोग परमात्मा ने दिया है, फिर भी तुम मुझे मुक्त कर देने को कहती हो ! दया की भीख मांगती हो तुम ?"

बीजगुप्त यह विवाद सुनकर ठिठक गया। उसने यशोधरा के चरणों में पड़ी हुई उस युवती को देखा। वह अभी भी यशोधरा पर आँखें लगाये थी और यशोधरा न जाने किस भाव से बीजगुप्त को देख उठी थी।

उस बन्दिनी ने पुनः प्रार्थना की, "मैं कहती हूँ कि नन्दों के अपराध के लिये दूसरों को न समेटो। मैं नन्दकुल की हूँ, मैं चल रही हूँ। इन्हें मुक्त कर दो !"

यशोधरा और बीजगुप्त एक दूसरे को देखने लगे थे।

उस नन्दकन्या ने पुनः बिलख कर कहा, "मैं स्त्री होकर तुम्हें पहचानने में भूल नहीं कर रही देवि ! तुम्हारी आज्ञा में बहुत बल है; जिस हृदय पर तुम्हारी आँखों का प्यार छिटकता है, वह तुम्हारी बात अवश्य मान लेगा।

मेरे ऊपर दया करके उनसे कह दो ।"

सुनकर यशोधरा सहसा काँप गई। उसका हृदय धड़क उठा। बीजगुप्त से दृष्टि हटाकर वह उस पर झुंझला उठी, "मैं कुछ नहीं कर सकती। तुम यह क्या प्रलाप करती हो ? छोड़ दो मुझे।"

उस कन्या ने यशोधरा के चरण छोड़ दिये, पर खड़ी नहीं हुई। उसने तड़प कर कहा, "तो फिर वैसे ही कहती थीं कि हम यहाँ किसी का अनिष्ट करने नहीं आये।"

बीजगुप्त ने उसका हाथ पकड़कर उसे उठाया। फिर उससे कहा, "शान्त हो देवि ! अभी तुम निरी बालिका हो और अनुभव का क्षेत्र बहुत बड़ा है। तुम इस युवक की मुक्ति चाहती हो न।"

उस कन्या ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

बीजगुप्त ने सैनिकों से कहा, "अच्छा इसे मुक्त कर दो।"

श्वेतांक भी तब वहाँ आ गया था।

सैनिकों ने बीजगुप्त की आज्ञा पालन की।

विशालदेव ध्यानमग्न था। उसके पार्श्व में ही एक युवक भी उसी की तरह आँखें मूँदकर जैसे ध्यान ही लगाये था। कुटी में प्रकाश फैला था। वह दोनों मूर्त्तियाँ बड़ी शान्त दिखाई देती थीं।

आश्रम नीरव था। उसके छोटे-से प्रांगण में चन्द्र-लहरियाँ खेल रही थीं। सभी कुछ, वहाँ के वृक्ष, पौधे, लतायें मुस्कराती हुई दीखती थीं।

दूसरी कुटी में योगी कुमारगिरि समाधिस्थ था। एक दीपक उसमें जलता था। उसकी मन्द आभा में योगी का मस्तक देदीप्यमान था।

सहसा उसकी कुटी के चबूतरे पर जैसे कोई मधुर ध्वनि उठी हो। किन्तु योगी ने उसे नहीं सुना। वह दूसरे ही लोक में अधिष्ठित था। किसी ने उसकी कुटी का भिड़ा हुआ द्वार भी खोला; दीपक की मन्द किरणों में द्वार खोलने वाले हाथ जगमगा उठे। उनके रत्नालंकारों की आभा भी झलमलाई जैसे सहसा काँप उठी। कुटी-द्वार को उन्मुक्त करने वाली मूर्त्ति भी उसमें झुककर प्रविष्ट हुई; उसके कण्ठ में लटकने वाली एकावली का अग्रफूल लटक गया, जैसे डोल उठा। और स्वर्णिम कंचुक-पट में बँधा हुआ उसके वक्ष-प्रदेश का मधुर उठान भी कुटी में फैली मन्द आभा का सहारा लेकर खिल उठा। वह स्त्री जैसे चोरी से उस कुटी में प्रवेश कर रही थी। उसने अपना श्वेत कौशेय का महीन लहँगा हाथों से कुछ ऊपर उठा लिया, सुडौल पिण्डलियाँ चमकने लगीं। चरणों में लिपटी लड़ियाँ अनजान में ही कोई ध्वनि कर गईं।

वह सुन्दरी कुटी में आकर खड़ी हो गई। अभी भी लहँगे को हाथ से ऊपर उठाये थी; आभूषण-युक्त उसके कोमल चरण बड़े भले प्रतीत होते थे, और सुडौल पिण्डलियाँ जैसे किसी मादन चित्र का सहज परिचय थीं। वह ऊपर से नीचे तक श्वेत शृंगार में ढँकी थी। उसमें से उसका कोई भी अवयव जिसे वह स्वयं न दिखाये, नहीं दीखता था। तो भी अंग-अंग की कान्ति उसके रुचिर वेश में से फूटी पड़ रही थी।

वह योगी को अनेक क्षणों तक देखती रही। फिर धीरे-से जिसे योगी के अतिरिक्त और कोई न सुनले, ऐसे स्वर में कहा, "योगी!"

किन्तु योगी के नेत्र बन्द थे। वह खुले नहीं। वह पुनः बोली, "योगी मैं आ गई हूँ, चलो न!"

योगी तब भी निश्चल ही रहा। उसने आँखें नहीं खोलीं। उस रमणी ने भूषणों की मन्द ध्वनि की, फिर उसी प्रकार कहा, "आँखें खोलो न योगी! देखते नहीं हो मैं कितनी विकल हूँ!"

सहसा कुमारगिरि ने नेत्र खोल दिये। उसकी दृष्टि उस रमणी की खुली हुई पिण्डलियों, लहँगे को ऊपर उठाये झलमलाते सुन्दर करों पर पड़ी। चरणों को भी देखा, और कितने सुडौल, स्निग्ध हैं उसके शरीर के अनावृत अवयव। उसका हृदय काँप उठा। उसने ऊपर देखा, किन्तु उसी क्षण वह रमणी कुटी से निकलने को आतुर हुई; कौतुक से अपना लहँगा छोड़ दिया और मुड़कर द्वार की ओर चली। वैसे भी मुख पर अवगुण्ठन-सा था।

कुमारगिरि के अंग-अंग में कंपन उत्पन्न हो उठे। वह उठ खड़ा हुआ, बोला, "कहाँ जाती हो?"

उत्तर मिला; वही मन्द स्वर, "जहाँ हमारी दोनों की भोग-स्थली है; एक होकर विचरने के लिये हमारा जो स्थान है—चन्द्रिका में, उन खुले हुए खँडहरों में। आओ न!"

कुमारगिरि की समझ में कुछ भी नहीं आया। उसका हृदय धड़क रहा था, आँखें जैसे कुछ जलन का अनुभव करने लगी थीं। उसने काँपते कण्ठ से पूछा, "तुम कौन हो सुन्दरी? उन खण्डहरों में तुम्हारे विचरने का क्या कारण है? यहाँ आने का तुम्हारा क्या प्रयोजन है?"

"मुझे भूल गये तुम!" उस प्रतिमा ने कुटी के द्वार में से ही कहा। उसके कण्ठ में वेदना थी, "तुम बड़े निष्ठुर हो, योगी होकर भी मुझे पहचान नहीं पाते, मेरे भटकने का कारण नहीं जान पाते। अपने देव के दर्शन प्राप्त करने के मेरे प्रयोजन को तुम नहीं समझ पाते! आओ योगी! मेरे पीछे आओ, मेरे साथ आओ, मेरे साथ आओ। मेरे साथ इस नीरव प्रदेश में

रमण करके पहचानो कि मैं कौन हूँ ।"

और वह कुटी के द्वार से अलग होगई, हटते-हटते उसकी रूप राशि की कुछ झलक कुमारगिरि की आँखों में पड़ी । चबूतरे पर चन्द्रिका में वह जा खड़ी हुई । उसके चरणों में पड़ीं बजने वाली लड़ियाँ मुखर उठीं ; योगी का हृदय जैसे डगमगा गया । उसे अनुभव हुआ—उस रमणी पर सौन्दर्य्य का अभाव नहीं । वह कुटी के द्वार में आ खड़ा हुआ ।

चन्द्रिका में ऊपर से नीचे तक नहाई हुई खड़ी वह रमणी अब और भी मदिर प्रतीत होती थी । आश्रमद्वार की ओर मुँह किये वह खड़ी थी । छोटा-सा अवगुण्ठन था । सिर पर उठे हुए जूड़े के ऊँचे शृंगार को आवृत कर वह और भी अद्‌भुत लगता था ।

विशालदेव की कुटी का द्वार तभी धीरे-से खुला । वह युवक जो विशाल-देव की बगल में समाधि धारण किये-सा बैठा था, उसे खोलकर पुनः आसन पर जा बैठा । वहीं से आँखें खोलकर कुमारगिरि की कुटी के चबूतरे पर खड़ी सुन्दरी को देखने लगा । उसकी दृष्टि द्वार में आ खड़े हुए कुमारगिरि पर भी पड़ी । उसने तुरन्त आँखें बन्द करलीं । और मुख से निकला, "हे राम !"

किन्तु उस पर इस दशा में रहा नहीं गया । उस सुन्दरी के चलने से पुनः शब्द हुआ । उसके नेत्र स्वतः ही खुल गये । देखा—वह चबूतरे के नीचे उतर रही थी और कुमारगिरि चबूतरे पर आ खड़ा हुआ था । अब उस पर नहीं रहा गया । उसने विशालदेव को झकझोर डाला ।

विशालदेव ने चौंककर आँखें खोलीं, और तीव्र स्वर में कहा, "तुम्हें बिलकुल शान्ति नहीं है मधुपाल ! क्या इस कुटी में भी डर लगता है ?"

मधुपाल ने उसके मुख पर हाथ रखकर बड़ी दीन वाणी में कहा, "चुप ! चुप ! भइया ! अब तो इस आश्रम में ही डर लगता है । सर्वनाश !"

विशालदेव को भी तभी आश्रम के प्रांगण में से उठती हुई मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी । उसने उधर देखा—उसकी कुटी के सामने होकर ही वह रमणी चली जा रही थी और योगी अपनी कुटिया के चबूतरे पर स्थिर खड़ा उसी

को देखता था।

विशालदेव मधुपाल को देख उठा। मधुपाल ने कहा, "अब तो मानोगे मेरी बात। इस आश्रम में होकर यह प्रेत-कन्या नित्य इन खण्डहरों की ओर जाती है।"

कुछ क्षण में विशालदेव उठकर बाहर आया। कुमारगिरि तब अपनी कुटी में चला गया था और वह स्त्री आश्रम के पीछे उठे हुए खण्डहरों पर चढ़ी जा रही थी। उसके साथ बाहर आकर खड़ा हुआ मधुपाल भी यही देखता था।

वह दोनों भी कुटी में भीतर चले। तभी सहसा उनके कानों में एक मधुर संगीत पड़ा। निस्तब्ध वायुमण्डल जैसे अचानक लहरा गया हो, मत्त-कंपन पाकर काँप उठा हो। नीरवस्थली में रागरंग की उठने वाली उस आकस्मिक-सी हिलकोर ने उन दोनों युवकों के हृदय को आच्छन्न कर दिया। वह एक दूसरे की ओर देख उठे। मधुपाल बोला, "लो आरम्भ हो गया।"

कुमारगिरि भी कुटी में रुक नहीं सका; वह पहले चबूतरे पर आया, फिर उससे उतर कर आश्रम के आंगन में। और उसे पार करता हुआ आश्रम की सीमा पर जहाँ से चन्द्रिका में उठे हुए ढूह की गगनचुम्बी विशालकायां आरम्भ होती थी, ठिठक गया। वह आँखें उठाकर उन उठे हुए खण्डहरों पर सन्तरण करती-सी उसी मूर्त्ति को देखने लगा, जो अभी-अभी उसके पास से गई थी।

उस ढूह पर से चारों ओर का विस्तृत प्रदेश दिखाई पड़ता था। एक ओर दूर तक शोण का प्रवाह पाटलिपुत्र की ओर बढ़ा जा रहा था, दूसरी ओर दक्षिण पथ भी उन खण्डहरों की शैल के नीचे से ही शोण-तट का आश्रय पाकर पाटलिपुत्र की ओर बढ़ गया था। चारों ओर विस्तृत उस निस्तब्ध-से भयानक प्रदेश में वह संगीत अबाधगति से तरंगित हो रहा था। जैसे कोई वैसे ही गहन शून्य में विलीन रहते-से किसी अपने आराध्य का अभिमंत्रण कर रहा हो।

वह गायन पाटलिपुत्र की ओर बढ़ते हुए यात्री-समुदाय ने भी सुना। तीव्रगति से उसके वाहन बढ़ते चले आ रहे थे। वैसे वह स्वर पथ पर चले

आते हुए यात्रियों के कानों में अस्पष्ट-से होकर पड़े, किन्तु उनकी मधुरिमा ने उन्हें मोह लिया।

उन ह्रद के समीप आते-आते सब से आगे चल रहे मृत्युञ्जय के रथ के पास अपना रथ लाकर बीजगुप्त ने कहा, "वही स्वर और वही गायन है, आर्य! सुन रहे हैं न आप!"

मृत्युञ्जय ने कहा, "हाँ, सुन रहा हूँ! किन्तु यह पहले से भी अधिक आश्चर्यजनक है। सुना है इतनी रात्रि गये इन खण्डहरों पर कोई नहीं जाता। फिर यहाँ इस समय कौन गाती है?"

बीजगुप्त ने इसका उत्तर नहीं दिया। उसने रथ पुनः पीछे कर लिया। उस मधुर गायन से अधिक मीठा और कुछ नहीं हो सकता था।

यशोधरा भी जैसे उस गायन में खो गई।

चारों ओर फैलते हुए गान का आशय था—

'मेरे यौवन की तरंगें अपार हैं

तुम्हारे आवाहन में विकल युग-युग से वह संतप्त हैं।

'आकाश की निस्सीम गहराई में चमकने वाले तारकों के समान इस मन के गहन कूल में भी रंगीन कल्पनाएँ उठ आई हैं; दूज के चन्द्र की शान्त आभा के मधुर स्फुरण के समान इस पिण्ड पर भी न जाने कहाँ से कोई कोमल कान्ति छिटक गई है। किन्तु सभी कुछ जैसे जलता जा रहा है, तुम क्यों नहीं देखते? यौवन की इन उफनती तरंगों को क्यों वश में नहीं करते? मेरे यौवन की तरंगें अपार हैं।

'इस विस्तृत पटी पर फैले चारों ओर के चित्रों को सहसा हँसा देने वाली मुस्कान की कृपा से मेरा अङ्ग-अङ्ग भी काँप उठा है; अपने मन की थपकी दे-देकर इस संसार को सुलाते-जगाते रहने वाले उस नटवर की माया की तरह मेरे मन ने भी इन लम्बी पलकों को उठाकर अंगड़ाइयों में बाँध दिया है। देखो तो! अपने वियोग में पागल इस विरहिन की व्यथा शान्त क्यों नहीं करते?'

'मेरे यौवन की तरंगें अपार हैं।

'क्षितिज की पलकों में भरी रंगीन प्रतीक्षा की तरह तुम्हारे दर्शन के लिए

यह हृदय भी विकल हो रहा है; कौन-कौन आता है, कौन-कौन चला जा रहा है—यही देखते-देखते यह हृदय की कल्पनायें कभी उद्दीप्त होती हैं, कभी जैसे बुझ जाती हैं। क्या करूँ ? तुम्हारे बिना मैं अकेली हूँ। तुम अपनी अंक में भरकर मुझे क्यों नहीं छिपा लेते ? मेरे यौवन की तरंगें अपार हैं।

'तुम्हारे आवाहन में विकल युग-युग से वह संतप्त हैं।'

कितनी बार इस गायन का एक-एक भाव उस मधुर कण्ठ में लहराया, किसी को नहीं ज्ञात। उस पिपासाकुल संगीत में सभी जैसे डूब गए। वह जब बन्द हुआ तो बीजगुप्त ने देखा—वह उस ढूह के नीचे थे, शोण के तट पर। उसने रथ मृत्युञ्जय के रथ के बराबर किया। यशोधरा से आँखें मिलीं। तभी एक उल्काधारी सैनिक दौड़कर उसके रथ के बराबर में आया। बीजगुप्त ने उसकी ओर देखा।

सैनिक ने कहा, "देव ! राजद्रोही ऊधम मचा रहे हैं। कहते हैं भगवान् हिरण्यवाहेश्वर के दर्शन करेंगे।"

इस बात को सुनकर बीजगुप्त जो कुछ मृत्युञ्जय से कहना चाहता था, वह बात मुँह में ही रह गई। उसने रथ पीछे हटाया। फिर रथ रोककर पैदल ही एक वृद्ध बन्दी के पास जाकर पूछा, "क्या बात है आर्य ?"

वह यात्री समुदाय रुक गया था।

उस वृद्ध ने कहा, "हम लोग भगवान् हिरण्यवाहेश्वर के दर्शन करना चाहते हैं। कल न जाने किस अन्त को प्राप्त हों, इस कारण इतनी प्रार्थना है और हठ भी।"

बीजगुप्त ने उस बूढ़े की बात की दृढ़ता को समझा। तो भी उसने कहा, "किन्तु रात्रिकाल में, सुना है इन खंडहरों पर देव-दर्शन करने भी कोई नहीं जाता !"

उस वृद्ध व्यक्ति ने भक्ति से आँखें बन्द करके कहा, "जाते हैं। जो उनके चरणों में स्थान पाना चाहते हैं वह जाते हैं।"

बीजगुप्त ने कहा, "अच्छा ! जैसी तुम्हारी इच्छा !"

फिर मृत्युञ्जय के पास आकर उसने कहा, "कुछ काल के लिए अब

तो ठहरना ही पड़ेगा आर्य ! नन्द लोग अपने प्राचीन देवता की आराधना करना चाहते हैं।"

उन यात्रियों को जैसे वहाँ विश्राम मिला।

बीजगुप्त नन्दों के लिये देवदर्शन की व्यवस्था कर स्वयं भी जैसे उन्हीं के पीछे चला। उल्काओं के आलोक में वह उनसे दूर पर चलता हुआ उस द्रुह पर चढ़ने लगा। चन्द्रिका के श्वेत प्रकाश तथा आगे-आगे चलने वाले उल्काओं के अस्पष्ट-से आलोक में वह जाता हुआ दिखाई पड़ता था। वह अकेला ही चला जा रहा था।

द्रुह पर खड़े मन्दिर के सामने पहुँचकर बाहर से ही उसने देव को प्रणाम किया। फिर आगे चल दिया, जिधर मन चाहा उधर ही। चन्द्र-ज्योति में चारों ओर फैले खँडहर जैसे हँसते थे, या न जाने किसी अप्सरा का गायन सुनकर सहसा ही शान्त हो गये-से पुनः किसी संगीत की ही प्रतीक्षा करते थे। बीजगुप्त भी जैसे उस भयानक स्थल पर स्वर्गस्थली का-सा गायन फैलाने-वाली को इधर-उधर खोजने में लगा हो।

सहसा उसे दूर एक मिट्टी के उठे हुए स्थाणु की ओट में कोई स्त्री-मूर्त्ति दिखाई दी। वह दौड़कर वहीं पहुँचा, चारों ओर देखा—कहीं कोई नहीं था। उसने एक दीर्घ श्वास खींची। और उसकी दृष्टि द्रुह से नीचे जाने वाले मार्ग पर पड़ी। हिरण्यवाहेश्वर की पूजा करके लोग लौट रहे थे। वह भी वहाँ से हटा। पार्श्व में ही नीचे कुमारगिरि का आश्रम चमकता था। सहसा उधर से एक स्त्री उसे आती दीख पड़ी। वह धड़कता हुआ हृदय लेकर उधर ही चलने-लगा। वह भी उसी की ओर चलती आती थी। निकट होने पर बीजगुप्त ने उसे पहचाना। उसने विस्मित होकर कहा, "यशोधरा तुम !"

"हाँ !" यशोधरा ने साधारण भाव से कहा, "क्या कोई दिखाई दिया ?"

बीजगुप्त को स्वेद आ रहा था। वायु के एक झोंके ने आकर उसे कुछ शान्ति प्रदान की। उसने कहा, "हाँ ! एक स्त्री क्षणभर को दिखाई पड़ी थी, पर क्या वह तुम थीं ?"

यशोधरा ने कहा, "नहीं तो ! मैं तो आपको यहाँ देखकर ही इधर चली आई हूँ ।"

बीजगुप्त ने कुछ नहीं कहा । वह वहाँ से उतरने लगा । यशोधरा साथ-साथ चली ।

चलते-चलते यशोधरा बोली, "आर्य बीजगुप्त ! एक प्रार्थना है !"

बीजगुप्त ने कहा, "अपनी बात को प्रार्थना का रूप देकर हलकी मत करो । कहो ।"

यशोधरा ने कहा, "मैं चाहती हूँ कि नन्दों का कुछ भी अनिष्ट न हो । उन्हें क्षमादान मिल जाय । मैंने बौद्धगया में उस नन्द-कन्या से कहा था कि हम किसी का अनिष्ट करने नहीं आये ।"

तब वह उन खण्डहरों का त्याग करके नीचे आ गये थे । बीजगुप्त ने यशोधरा की बात सुनकर उसे देखा फिर कहा, "तुम्हारे कथन की रक्षा करने की चेष्टा करूँगा ।"

और वह आगे बढ़ा । फिर उसने पूछा, "क्या योगी से कुछ पता चल सका, कौन गा रही थी ?"

"नहीं ! योगिराज उसके विषय में कुछ नहीं जानते ।"

आगे वह चुपचाप चले । कुछ आगे बढ़ने पर उन्हें उधर श्वेतांक आता दिखाई पड़ा । वह भागकर उनके समीप आया । यशोधरा को बीजगुप्त के साथ देखकर जैसे उसके जी में जी आया । उसने कहा, "देवि यशोधरा ! इस तरह से चुपचाप ही साथ छोड़कर कहीं चली जाना कितना अनर्थकारी हो सकता है, ज्ञात है ?"

सुनकर यशोधरा बीजगुप्त की ओर देखकर मुस्करा उठी । बीजगुप्त भी अपने पिता तथा श्वेतांक को एक घबराहटपूर्ण स्थिति में डालकर उस आनन्द लेती हुई नवला की मुस्कराहट को देखकर हँस दिया ।

श्वेतांक बीजगुप्त के भवन में क्या था, यह जैसे उसे स्वयं भी नहीं मालूम। उस गृह के सेवक उसे भी बीजगुप्त की तरह स्वामी समझते, और बीजगुप्त उसे परम सेवक। किन्तु उन दोनों के मध्य किस भाव का बन्धन था, इस पर विचारने की न तो आने से लेकर अब तक श्वेतांक की ही प्रवृत्ति हुई, और बीजगुप्त को जैसे इस सबकी आवश्यकता ही नहीं थी। उसने जिस प्रकार अपनी सेवा में आये हुए उस नवीन व्यक्ति पर सहसा ही विश्वास कर लिया था, श्वेतांक के हृदय में उसके प्रति किसी अज्ञात श्रद्धा का अंकुर भी वैसे ही उग आया था।

श्वेतांक मृत्युञ्जय के गृह पर बीजगुप्त द्वारा यशोधरा के लिए भेजे गए उपहार लेकर गया था, घोड़े पर बैठा अब वहीं से लौट रहा था; और जिस प्रकार वह उन उपहारों को लेकर गया था, उसी प्रकार लौटाये लिये आ रहा था। उसके पीछे सेवक पैदल-पैदल चल रहे थे। उनके सिर पर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ थीं। यशोधरा ने बीजगुप्त के उपहार स्वीकार नहीं किये। श्वेतांक कुछ-कुछ इसी कारण उद्विग्न भी प्रतीत होता था।

उसने लौटकर भवन में प्रवेश किया। प्रांगण में घोड़ा छोड़कर वह भीतर चला। सेवक उसके पीछे-पीछे।

प्रकोष्ठ में जाकर देखा—बीजगुप्त मयूरासन पर लेटा-सा आँखें बन्द किए पड़ा था। जैसे कुछ विचारता हो। पार्श्व की चौकी पर कुछ विचार-पत्र फैले पड़े थे। श्वेतांक जाकर चुपचाप खड़ा हो गया। सेवक भी उसके पीछे जाकर खड़े हुए।

कुछ देर में बीजगुप्त ने आँखें खोलीं। श्वेतांक और उसके पीछे खड़े हुए सेवकों को उसने देखा। किन्तु उसने कुछ पूछा नहीं। श्वेतांक ने ही कहा, "स्वामी! देवि यशोधरा ने यह उपहार स्वीकार नहीं किये।"

बीजगुप्त ने कहा, "तो फिर क्या हुआ? इन्हें ले जाकर रख क्यों नहीं देते?"

श्वेतांक ने मन ही मन कहा, 'बस !'

वह वहाँ से चला गया।

बीजगुप्त जिस चिन्ता से चिन्तित था, उसी में मन लगाया।

श्वेतांक ने वह सब यथास्थान जाकर रख दिये, पुनः लौटकर आया तो देखा—बीजगुप्त कहीं बाहर जाने को प्रस्तुत हो रहा था। उसका मुकुट लेकर श्वेतांक समीप पहुँचा। बीजगुप्त ने उसे धारण करते हुए कहा, "क्या आर्य मृत्युञ्जय ने उसके इस कार्य में कोई बाधा नहीं दी ?"

"दी थी ! उन्होंने देवि यशोधरा को वैसा करने से रोका था।" श्वेतांक ने कहा।

बीजगुप्त बाहर चला गया। श्वेतांक ने देखा—वह अश्वारूढ़ होकर भवन से निकल गया।

पहले वह राजप्रासाद पहुँचा ; वहाँ से कुछ मन्त्रणा करके लौटा तो संध्या समय सामन्त मृत्युञ्जय के द्वार पर उसका अश्व रुका। मृत्युञ्जय भवन के ऊपर प्रकोष्ठ में बैठे थे। उन्होंने उसे वहीं बुला लिया। यशोधरा बाहर छत पर सौध के सहारे खड़ी होकर मार्ग पर देखती थी। वातायन से बीजगुप्त ने उसकी छवि देखली और मृत्युञ्जय को प्रणाम करके यथास्थान बैठ गया।

उसके आसन ग्रहण करते ही मृत्युञ्जय ने कहा' "आर्य बीजगुप्त ! मुझे दुःख है कि·······।"

बात काटकर बीजगुप्त ने मुस्कराते हुए कहा, "मैं उस विषय पर वार्तालाप करने नहीं आया आर्य ! इसे तो मेरे और यशोधरा के लिए छोड़ दीजिए, यदि यशोधरा को परिताप होगा तो देखा जायगा।"

मृत्युञ्जय चुप रह गये।

बीजगुप्त ने कहा, "मुझे सम्राट् ने बुलवाया था ; उन बन्दियों के विषय में आपकी भी सम्मति माँगी है।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "इस विषय में भला हमारे क्या विचार हो सकते हैं ?"

"क्यों नहीं ? उन लोगों का अपराध कितना गुरु है, यह बता देने का भार हमारे ही ऊपर है। मैंने तो सम्राट् से कहा है कि उन्हें पाटलिपुत्र में ही

बसा दिया जाय, उनका कोई गुरु अपराध नहीं है।" बीजगुप्त ने कहा।

"ठीक! बहुत ठीक।" कहती हुई यशोधरा भीतर आ गई। उसने बीजगुप्त के सामने आकर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

बीजगुप्त ने उससे कहा, "सम्भवतः उन्हें मुक्ति मिल जायगी। आर्य की सम्मति ही इसमें परमावश्यक समझी गई है।"

और वह उठ खड़ा हुआ। बोला, "अब मैं चलूँगा।"

यशोधरा यह सुनकर उदास हो उठी। उसने बीजगुप्त की ओर देखा। अकस्मात् बाहर मार्ग पर होने वाला कोई शब्द उनके कानों में पड़ा। यशोधरा को जैसे अपनी उदासी छिपाने के लिये राह मिली। वह भागकर बाहर सौध के सहारे जा खड़ी हुई। मार्ग पर देखने लगी।

उसने देखा—दूर मार्ग पर जन-क्रीड़ागार की गाड़ी कोलाहल करते हुए लोगों से घिरी चली आ रही थी। उस पर बैठे हुए लोग ढोल बजाते थे। वह एक विशेष प्रकार की वेशभूषा में थे। वह कुछ कह रहे थे। कुछ देर में आगे आने पर वह गाड़ी खड़ी हुई, ढोल पर आघात हुआ और सुनाई पड़ा—

"सुनो! सुनो! जैसा कभी देखा नहीं होगा, जैसा कभी सुना नहीं होगा, ऐसा मोहक नृत्य पाटलिपुत्र के जन-क्रीड़ागार में होगा। साम्राज्य-नर्तकी पाटलिपुत्र के मंच पर थिरकेगी।"

गाड़ीवान ने बैल को आगे बढ़ाया। कुछ दूर ले जाकर उन्हें पुनः खड़ा किया।

यशोधरा ने समीप ही आकर खड़े हुए बीजगुप्त और अपने पिता की ओर देखा।

पुनः ढोल का शब्द हुआ और फिर वैसा ही विज्ञापन, "सुनो! सुनो! कान्यकुब्ज की महानर्तकी सुनयना को नृत्य में हराकर दासी बना लेने वाली की चर्चा करने वाले पाटलिपुत्रवासियो सुनो! चित्रलेखा ने स्थायी रूप से इस महा नगर में अपना आवास बनाया है। जन-क्रीड़ागार के मंच पर उनका पहला नृत्य लक्ष्मी पूजन के दिन होगा। जिन्होंने उनका नृत्य देखा है, वह फिर देखें; जिन्होंने सुना है वह नेत्रों को तृप्त करें।"

यशोधरा मुस्कराई। उसकी आँखों में प्रसन्नता छा गई।

गाड़ी आगे बढ़ी। अब उस पर चलते-चलते ही ढोल पिट रहा था। भीड़ पीछे भागी चलती थी और विज्ञापन भी होता चल रहा था। वह सुनते रहे—बीजगुप्त, मृत्युञ्जय और यशोधरा तीनों ही।

"जिसने कभी न पकड़ में आने वाले सामन्त श्रेष्ठ बीजगुप्त की वीणा के स्वरों पर क्रीड़ा पूर्वक नृत्य किया है, जिसने उनका अभिनन्दन, सम्राट् से पुरस्कार·······।

आगे शब्द दूर होता जा रहा था।

सब पीछे हटे।

मृत्युञ्जय ने कहा, "आर्य बीजगुप्त! तुम्हें ईश्वर ने क्या नहीं दिया?"

यशोधरा ने कहा, "पिताजी! उस दिन की राजसभा का दृश्य भुलाया नहीं जाता।"

किन्तु बीजगुप्त ने यह बात जैसे सुनी ही नहीं। वह कुछ गम्भीर-सा हो उठा था। विज्ञापन की बात उसके कानों में गूँज रही थी, 'चित्रलेखा ने स्थायी रूप से महानगर में, अपना आवास बनाया है।' तो भी क्षण भर की गम्भीरता उसने मुस्कराहट से दूर कर दी। उसने यशोधरा की ओर देखा। फिर वहाँ से चलकर सोपान-मुख पर खड़े होकर यशोधर से कहा, "देवि यशोधरा! मैं समझता हूँ तक्षशिला की स्नातिका के लिये जिसने वहाँ से लौटकर हमारे संसार को धन्य किया है, उपयुक्त उपकरणों के साथ-साथ किसी के स्नेह का भी उन उपहारों में अभाव नहीं था। बौद्धगया से मैं उन्हें बड़े मन से लाया था।"

यशोधरा के पास जैसे इसका उत्तर प्रस्तुत था। उसने कहा, "किन्तु उसी मन से वह भेंट तो नहीं किये गये आर्य बीजगुप्त! उन्हें आपके ही हाथ से स्वीकार करने की मेरी इच्छा में भी स्नेह का अभाव नहीं।"

बीजगुप्त ने कहा, "तो ठीक है इसके लिये लक्ष्मी-पूजन के दिन तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।"

यशोधरा लक्ष्मी पूजन के दिन बीजगुप्त के भवन पर आ उपस्थित हुई। प्रांगण में प्रविष्ट होता हुआ उसका रथ बीजगुप्त ने ऊपर से ही देख लिया। उसने नीचे द्वार पर आकर उसका स्वागत किया; पूछा, "क्या अकेली ही

आई हो ?"

"हाँ !" यशोधरा ने कहा, "अपने उपहारों में सजाकर केवल आप ही देख सकें इस कारण अकेली ही आई हूँ।"

बीजगुप्त ने यशोधरा की इस मधुर बात का उत्तर नहीं दिया। वह उसे साथ लेकर भीतर पहुँचा। एक प्रकोष्ठ में ले जाकर उसने यशोधरा से उसके निमित्त लाये गए वहाँ रक्खे हुए उपहारों को दिखाकर कहा, "इन्हें धारण करो देवि ! मैं परिचारिकायें भेजता हूँ।"

और वह स्वयं वहाँ से चला गया। परिचारिकायें भेज दीं।

कुछ देर में वह वहाँ जब लौटा तो उसने देखा—वह चन्द्रमुखी अलकों के बन्धन पर रत्नों का ग्रन्थि-पुष्प, कंठ में मालायें, कानों में कर्णफूल, स्कन्ध प्रदेश पर इधर से उधर वक्षोद्वय का आच्छादन बनकर लहराता हुआ महीन कढ़ा हुआ उत्तरीय, कटि पर लड़ियाँ और नीचे नीले कौशेय के लँहगे की झलमल; यशोधरा का अंग-अंग जैसे मुस्कराता था। वह उसके उपहारों में सजकर खड़ी थी।

यशोधरा ने बीजगुप्त की ओर देखकर कहा, "मैं अच्छी लगती हूँ आर्य !"

बीजगुप्त ने गंभीर भाव से जैसे एक बालिका की बात का उत्तर दिया, "बुरी कब लगती थीं देवि ?"

यशोधरा चुप हो रही।

बीजगुप्त ने पूछा, "चित्रलेखा का नृत्य देखने चलोगी ?"

"हाँ !"

बीजगुप्त, श्वेतांक और यशोधरा तीनों ही दीपमालिकाओं में जगमगाते उस भवन से दीपसज्जा में मुस्कराते नगरमार्गों पर एक रथ में बैठकर निकल पड़े।

आलोक-मुक्ताओं की मालायें धारण किये जनक्रीड़ागार भी खड़ा था। उसकी सजावट करने वाले उसके भित्तिचित्रों पर प्रकाश-बिन्दुओं की ही क्रीड़ा फैली थी। भीड़ का वहाँ अभाव नहीं था, पौर जानपद के शान्तिरक्षक उसे नियन्त्रित करते थे।

वह रथ को यथास्थान छोड़कर भीतर क्रीड़ालय में पहुँचे।

उसका नीचे का खण्ड दर्शकों की भीड़ से पूर्ण हो रहा था। वहाँ से उठता हुआ उनका कोलाहल भवन का उत्साह बनकर वहाँ के वायु मण्डल में फैल रहा था। उसकी सोपान श्रृङ्खला ऊँचे तक चली गई थी। मध्य का खण्ड भी उसी तरह दर्शकों से पूर्ण था; जनरव की वहाँ भी विचित्र उमड़ थी। ऊपर उस गोलभवन में प्रेक्षागृहों की गोल पंक्ति अपनी भव्य सजावट से उस भवन का श्रृंगार करती थी। बहुमूल्य परदों, चित्रों से वह प्रेक्षागृह अत्यन्त मनोरम दिखाई देते थे। ज्योतिर्मयी पुत्तलिकाओं का आलोक वहाँ के भित्तिचित्रों के कला सौन्दर्य्य के साथ हँसता था, मुस्कराता था।

बीजगुप्त, यशोधरा और श्वेतांक ने एक प्रेक्षागार में जाकर आसन ग्रहण किया।

रंगमंच का अधिकांश परदे के पीछे था। वहीं से धीमी-धीमी दुंदुभी, मृदंग और मुरली की मिली-जुली मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती थी। कुछ देर तक समभाव से बजते रहने के उपरान्त वह तीव्र हुई, फिर सहसा बन्द हो गई। दर्शकों को जैसे आकर्षित किया परदा हट गया।

दर्शकों ने आँखें भरकर देखा—अद्भुत-सी लगने वाली एक सुन्दरी रुचिर मुद्रा में रंगमंच के बीचों-बीच खड़ी थी। जिन्होंने उसे नहीं देखा था, उन्हें लगा जैसे किसी देवांगना ने अपनी माया फैलाने को रूप बनाया हो, और जिन्होंने उसे देखा था—उन्होंने जैसे एक परिचित सौन्दर्य्य की नई चितवन से परिचय प्राप्त किया।

जनरव बन्द हो गया।

कुछ क्षणों में ही वीणा के स्वर उठने लगे, जैसे आमन्त्रण हो। मंच के मध्य का चक्र घूमने लगा, स्थिर खड़ी उसी कोमलांगी में जैसे घूमने की शक्ति न रह गई हो, किन्तु उसकी रूप-रश्मियाँ तो हर ओर से बिखरनी ही चाहिए। जब वह चक्र पुनः रुका, नर्तकी वहीं आकर स्थिर हुई! सबने देखा—उस रूपांगना के पलक उठ गये थे।

मृदंग पर थाप पड़ी।

नर्तकी ने पुतलियों को कम्पायमान किया। चारों ओर देखा; पर जैसे

अपने ही प्रयोजन से। चरणों में गति आई। नूपुर-ध्वनि की सृष्टि हुई।

किसी कमनीय कली का आविर्भाव हुआ।

किसी अनजान स्थल पर जैसे वय ने चरण रक्खे हों, जीवन में सहसा अँगड़ाइयों का आकुल ज्वार उमंग उठा हो। और जैसे संसार को पलक मूँद कर देख लेने का एक विचित्र-सा अनुभव नर्तकी के अंग-अंग में पुलकने लगा।

क्यों?

अपने अंग-अंग पर सुमन की दृष्टि फैली। मंद संगीत चला, मन जैसे कुछ समझ रहा हो।

फिर तो यौवन का उद्वेलन संसार की रम्य स्थली पर चरण रखकर जैसे सब कुछ भूल बैठा। लगा जैसे कहीं चुपचाप जा रहा हो। सब देखते हैं; किन्तु प्रमाद के क्षणों में वह भूल गया कि कहीं कोई देखता भी है! न जाने कहाँ क्या देखने की लालसा लेकर यात्रा होने लगी। नूपुर जैसे चुप, चरणों में गति, संगीत में मादक कंपन।

बीजगुप्त टक लगाकर देख रहा था। यशोधरा और श्वेतांक भी।

चित्रलेखा भी उन्हें देख ही लेती थी। बीजगुप्त की आँखों में दूर से भी आँखें डाल देती थी। उसकी गति में सहसा एक अद्‌भुत लोच की सृष्टि हुई। दर्शक-हृदय पर एक आघात लगा।

जैसे यौवन को अपना कोई मीत मिला।

पलक मुस्कराये, नैनों में ज्यों कादम्ब की तरंग भर उठीं। रोम-रोम में हिलकोर जगीं, अँगड़ाइयों ने किसी के समक्ष सब कुछ सौंप देने को आतुर कर दिया। वह मचलकर पीछे लौटती थी, जैसे कोई उसे रोकता था; चरण आगे उठते थे, जैसे कोई उन्हें ठेलता था। किन्तु कौन जाने कहाँ?

सहसा नर्तकी ठिठकी; कुछ मचली, मान किया।

जूड़े का पुष्पप्रसाधन नितम्बों तक लटक उठा। महीन कौशेय का उत्तरीय वक्ष-प्रदेश के व्यूह मंडल को लपेटता हुआ धरती पर उतर आया जैसे समग्र भावावली नीचे झुक आई। न जाने किसकी बन्दना की।

सभी कुछ समर्पित हो उठा।

उसी क्षण बीजगुप्त की आँखों में नर्तकी ने देखा, जैसे कोई लहर दोनों ओर थिरक उठी। बीजगुप्त के मुख से सहसा निकल गया, "अद्भुत!"

और उसके कर कंठ में से माला उतार लाये।

यशोधरा भी जैसे सब कुछ भूल रही थी। माला बीजगुप्त के हाथों पर लटक कर उसके कपोल से जा टकराई। उसकी आँखें बीजगुप्त पर उठ गईं।

किन्तु वह तो चित्रलेखा को देखता था, और अब माला भी उसी ओर जाना चाहती थी।

बीजगुप्त ने हाथ बढ़ाकर माला सामने रंगमंच पर पुंजीभूत हो गई छवि पर डाल देनी चाही।

यशोधरा का हृदय काँप उठा। न जाने कैसा आवेग लेकर उसका हाथ उठा और सहसा बीजगुप्त के बढ़े हुए हाथ पर बाधा बनकर जा पड़ा। माला छिटक कर चरणों में नीचे गिरी। बीजगुप्त का ध्यान भंग हुआ।

यशोधरा का भी।

चित्रलेखा का हृदय काँप उठा। अपने लिये आती हुई माला को रोक लेने वाली को वह भी देखने लगी थी।

बीजगुप्त और यशोधरा दोनों की आँखें मिल गई थीं। बीजगुप्त की दृष्टि गंभीर थी। और यशोधरा जैसे कोई आग्रह-आवेदन करती-सी पलक उठाये थी।

श्वेतांक ने माला उठाकर बीजगुप्त के हाथ में दी। बीजगुप्त ने यशोधरा से कहा, "तुमने यह क्या किया देवि?"

यशोधरा की पलकें झुक गईं। उसने कहा, "मैं नहीं जानती।"

बीजगुप्त ने आगे कुछ नहीं कहा। उसने रंगमंच पर खड़ी नृत्यांगना की ओर देखा और खड़े होकर उस माला को उसी की ओर फेंकते हुए कहा, "स्वीकार करो सुन्दरी! पाटलिपुत्र के हृदय पर रक्खे गये तुम्हारे प्रत्येक चरण का मैं अभिनन्दन करता हूँ।"

चारों ओर से आँखें उठकर बीजगुप्त से टकराईं।

बीजगुप्त ने बैठने हुए यशोधरा से कहा, "देवि यशोधरा ! किसी भी संयोग पर अपने हृदय के कैसे ही मोह-प्रकाश से स्वयं को क्षुद्रता के जाल में फँसाना तुम जैसी ललना के लिये किसी प्रकार भी सुन्दर प्रतीत नहीं होता। बीजगुप्त को समझने की चेष्टा करो।"

—:*:०:*:—
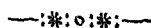
लोग उसे झंझावात कहते थे; लोग उसे हृदय का मधुर व्यापार समझते थे।

पवन का शान्त प्रवाह किस समय नहीं चलता रहता, जीवन के हर क्षण पर जैसे उसकी तरंगें खेलती हैं। शीतल और तप्त झकोरे काल की गति से आते ही रहते हैं, लोग अभ्यस्त हो जाते हैं; किन्तु प्रभंजन की माया ही निराली है, उसके आगमन पर लोग जैसे विक्षिप्त-से हो उठते हैं, उससे बचने के लिए यत्न करने लगते हैं—चित्रलेखा के सहसा आगमन को भी लोगों ने इसी प्रकार देखा, उसका वैसा ही अभिनन्दन किया। लोग उसे झंझावत कहते थे।

शीतल समीरण का लोग अनुभव करते हैं, नित्य ही उस काल विशेष की प्रतीक्षा करते हैं, जिसमें वह इस अवनी पर उतर कर आती है। और लोग वहाँ जाते हैं जिस मनोहर प्रदेश पर वह हर क्षण हँसती खेलती रहती है—चित्रलेखा कब जनमंच पर आती है, लोग इसकी प्रतीक्षा भी करते थे और हृदय को शीतल और आँखों को तृप्त कर देने वाले सौन्दर्य्य का जहाँ निवास है, लोग वहाँ जाते भी थे। लोग उसे हृदय का मधुर व्यापार समझते थे।

और चित्रलेखा को भी लगता था—वह अपने लिये ही न जाने क्या है।

यौवन की मुस्कराहट जीवन में कुछ महत्व बनकर सामने आती है, जैसे आँखों के लिए समग्र विश्व एक स्वर्णिम छटा से पूर्ण हो उठता है; उत्साह की तरंगें हृदय पर न जाने कितना उन्माद बिखेर कर मुस्कराती हैं, कैसे स्वप्नों में समय बीतने लगता है! किन्तु चित्रलेखा तो जैसे अनुभव करती थी, वह समय तो गया।

चारों ओर उसके भ्रू-कटाक्ष चलते हैं, दर्शकों के हृदय दग्ध हो जाते हैं। उसके अंग-अंग का परिचालन लोगों में जैसे उन्माद की सृष्टि कर देता है। वह अनजाने ज्वार में हिलकोरें ले उठते हैं। किन्तु कैसे कर पाती है वह यह सब?—चित्रलेखा की समझ में नहीं आता।

सुनयना कहती है, "यह तेरे यौवन की तरंग हैं; पिपासा की जलन है।"

चित्रलेखा अपनी इस भाग्य से मिली दासी, हृदय के स्वागत से मिली सखी की ओर देखकर मुस्करा देती है। जैसे एक अन्यमनस्क-से भाव से उसकी बात वह उड़ा देना चाहती है, कहती है, "वह समय तो गया।"

सुनयना कहती है, "यौवन की एक तरंग उठी थी वहाँ, जहाँ से तू इधर फेंक दी गई है, तेरे उठान की दूसरी तरंग चल रही है और इससे तू किसी को भी अछूता नहीं छोड़ना चाहती।"

चित्रलेखा आश्चर्य करती है।

सुनयना कहती है, "पगली! इसमें आश्चर्य कैसा? कली जब मुस्कराती है तो पवन हिलकोर उत्पन्न करता है; उसी में झूम-झूम कर वह फूल बन जाती है तो जैसे भ्रमर के बिना चैन नहीं पड़ता। पवन के कंप समेटकर वह जैसे भ्रमर के अभिनन्दन के लिये ही उन्माद में झूमती है।"

चित्रलेखा चुप रह जाती है, कुछ सोचने लगती है। अतीत उसके हृदय पर न जाने कैसे आकर बिखर जाता है। सुनयना उसके मुखमण्डल पर आई हुई किन्हीं भावों की उदासी की प्रतिरूप-सी गम्भीरता पर आँखें गड़ा देती है। कुछ काल तक ही यह सब कुछ चलता है, चित्रलेखा फिर एक दीर्घश्वास खींचकर कहती है,—"सुनयने! लगता है जैसे आज भी हृदय विकल हो, उसकी स्मृति में नहीं जो कायर था बल्कि उस प्रताड़ना और भर्त्सना के कारण जिसने मुझे यहाँ फेंक दिया है। हृदय की उसी आग को फैला देना चाहती हूँ, उसमें अकेली ही मुझपर नहीं जला जाता। न वह यौवन की तरंग है न पिपासा की जलन।"

सुनयना कहती है, "अपने लिये तुम यही करना चाहती हो तो इससे भीतर की पुलक तो तुम्हें प्राप्त होती होगी ही। तुम्हारे रूप से सुधा की शीतलता और मदिरा का उन्माद लेकर लोगों का हृदय जब शीतल और उन्मत्त हो उठता है तो तुम्हारे हृदय की आग कुछ ठण्डी होती ही होगी। किन्तु मैं तो देखती हूँ तुम ऐसा भी अनुभव नहीं करतीं। चित्रे! तुम अपने यौवन और रूप की रश्मियों का खेल खेल रही हो, चाहे अनजान में ही सही, तुम अपने ही इंगित पर अपने हृदय को प्रज्वलित गगन-पिण्ड बना लेना चाहती हो। मैं तो समझती हूँ तुम्हारे इस भाव के अतिरिक्त भी हृदय के बोझ को दूर करने

के लिए संसार में अभी बहुत कुछ होगा, उसी को प्राप्त करो।"

चित्रलेखा चुप रह जाती है। सुनयना की बात से उसकी किसी अनजान पहेली का समाधान हो जाता है; किन्तु अपने सोच-विचार से वह मुक्त नहीं हो पाती।

कभी-कभी उसके मन में कुछ आकृतियों के चिन्ह उठ आते हैं। किसी को घृणा से बाहर निकाल देती है और किसी को जैसे बलपूर्वक पकड़ना चाहती है। क्यों? वह कुछ भी नहीं जानती। हृदय की आग का अकेले उत्ताप-सहन नहीं होता, वह उसे चारों ओर फैला देना चाहती है; किन्तु किन्हीं क्षणों में ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह उसे चारों ओर फैला देने के लिये नहीं, चारों ओर से मन का कुछ समेट कर हृदय में छिपा लेने के लिये तृषित है। उसे लगता है, जैसे सुनयना की बात ही उसके हृदय को मान्य है।

किन्तु नहीं!

ऐसे विचार उसकी विकलता को और प्रदीप्त करते हैं।

जैसे इन्हीं विचारों के बोझ का तिरस्कार करता-सा वह सौंदर्य अपनी गवाक्ष के एक लघु स्तम्भ के सहारे खड़ा होकर वाटिका के कुसुम-जाल में अटका था। गृह उद्यान में उसकी आँखें खो रही थीं—यों ही। उस क्षण न तो जैसे वह कुछ सोचती थी, और न जैसे कुछ देखती ही थी। कुछ क्षणों तक यों ही तन्मय-सी रहने के उपरान्त उसकी इस दशा का अन्त हुआ। वह हटी। तभी गृह-प्रांगण में प्रविष्ट होने को उद्यत किसी रथ की ध्वनि उसके कानों में पड़ी। किन्तु उसने उस पर ध्यान नहीं दिया। वह भीतर पर्यंक पर जाकर लेट गई। सुनयना भी उसी प्रकोष्ठ में टँगी एक सारिका को पढ़ाती थी, "चित्रे!"

सारिका नहीं बोली। सुनयना ने फिर कहा, "चित्रे! बोलो मैनी चित्रे।"

किन्तु सारिका फुदकती थी, बोलती नहीं थी।

चित्रलेखा हँस दी।

सुनयना ने फिर कहा, "बोलो चित्रे!"

इस बार सारिका बोली; किन्तु कहा, "प्रियतम!"

निकट ही एक पिंजरा और टँगा था। उसमें बैठे हुए शुक ने सुनकर

तुरन्त ही कहा, "चित्रे !"

विस्मय से चित्रलेखा और सुनयना की आँखें मिलीं। सुनयना बोली, "बड़ी चतुर है यह मैना।"

चित्रलेखा बोली, "इन्हें पढ़ाने वाली से भी चतुर ?"

सुनयना ने कहा, "सचमुच ! मैंने अभी इनमें से किसी को कुछ नहीं पढ़ाया। यह तो एक श्रेष्ठिपुत्र की भेंट हैं सखी।"

चित्रलेखा विस्मित भाव से सुनयना को देख उठी। सुनयना ने कहा, "वह श्रेष्ठिपुत्र बड़ा चतुर प्रतीत होता है, इस तरह से वह मेरी सखी का प्रियतम बन जाना चाहता है।"

वह चित्रलेखा के समीप ही शय्या पर आ बैठी। चित्रलेखा उसकी बात पर मुस्करादी।

सुनयना ने एक दीर्घश्वास खींचकर कहा, "पर मेरी सखी का प्रियतम कौन है, कौन जाने ?"

चित्रलेखा ने सिर हिलाकर गम्भीर भाव धारण करते हुए कहा "मेरे प्रियतम की तुझे भी बड़ी चिन्ता है। राम ! राम !"

सुनयना बोली, "तू बताती भी तो नहीं है। कहीं कुमारगिरि तो नहीं है तेरा प्रियतम।"

"धत् ! वह नीच कुमारगिरि।" चित्रलेखा ने कहा।

"तो क्या जिसकी वीणा के साथ नृत्य कर तूने मुझे पराजित किया, उसे समझूँ।" सुनयना ने जैसे उसके मन से बात निकालने को पूछा।

"सामन्त बीजगुप्त को।" चित्रलेखा ने कहा। क्षणमात्र को वह जैसे कुछ कहना भूल गई, फिर आगे कहने के लिये मुँह खोला ही था कि दासी ने उपस्थित होकर कहा, "श्रेष्ठि संजय के पुत्र पुरंजय ने देवी की सेवा में उपहार भेजे हैं।"

चित्रलेखा ने सुनकर कहा, "उपहार।" वह हँस दी। सुनयना से कहा, "जा सुनयना। तू ऐसे उपहारों को स्वीकार करने की अभ्यस्त है। तू ही जा।"

सुनयना हँसती हुई चली गई।

चित्रलेखा पर्य्यंङ्क से उठकर मैना के पिंजरे के पास खड़ी हुई। उसने कहा "बोलो मैनी।"

मैना बोली, "प्रियतम !"

शुक ने कहा, "चित्रे !"

चित्रलेखा हँसती हुई वातायन की ओर चल दी। चलते हुए जैसे स्वयं से ही बोली, "एक नर्तकी को किसी के मोह में पड़ने से क्या लाभ ?" क्षण मात्र को चुप हुई, फिर वातायन के सहारे खड़ी होकर बाहर देखती हुई बोली, "किन्तु बीजगुप्त महान हैं, वह अद्भुत वीणावादक हैं; उनमें महान पुरुषार्थ है।"

सुनयना ने तभी सहसा पीछे से कहा, "तभी तो कहती हूँ सामन्त बीजगुप्त तेरे प्रियतम हैं।"

चित्रलेखा चौंक पड़ी। उसने पलटकर तीव्र स्वर में कहा, "नहीं ! मैं हृदय के इस खेल पर विश्वास नहीं करती सुनयना। जहाँ आकर सभी कुछ प्यार है और प्रणय है, पिपासा है और उन्माद है, रूप है और शृंगार है, जीत है और सिंहासन है; वहाँ कसक का क्या कार्य ? तृप्ति की किसे चिन्ता ? समर्पण के लिये कौन आकुल ? और पराजय में क्या सुख ? सुनयना हमारा विश्व अलग है।"

सुनयना ने देखा,—चित्रलेखा जैसे आवर्त में आ गई थी। उसका मुख उत्तेजित होकर लाल पड़ गया था। सुनयना ने उसे ठण्डा करने के लिये कहा, "उपहारों से भवन भरता जा रहा है। चित्रे लगता है जैसे पाटलिपुत्र में अब कोई भी तुम्हारा पूजन किये बिना नहीं रहेगा।"

चित्रलेखा को जैसे चेत हुआ, उसने हँसकर कहा, "नहीं, बहुत से रह जायँगे।"

"वही जो तुम्हारे नेत्र-वाणों से बचे होंगे।"

और दोनों हँस पड़ीं।

तभी दासी ने पुनः उपस्थित होकर कहा, "द्वारशाला में एक सैनिक उपस्थित है, कोई राजाज्ञा लाया प्रतीत होता है।"

"राजाज्ञा !" चित्रलेखा के मुख से सहसा निकला। उसने सुनयना की ओर देखा। दोनों द्वारशाला में पहुँची। सैनिक ने खड़े होकर एक पत्र चित्रलेखा के हाथ में दे दिया।

चित्रलेखा ने उसे पढ़ा—

'देवि के नृत्य की चारों ओर प्रशंसा है, उस दिन राजसभा में सम्राट् ने भी देखा है। इस कारण इच्छा है कि सम्राट् की रंगशाला में उसका प्रदर्शन हो। सुभद्राहरण की लीला में यदि देवि सुभद्रा का अभिनय करना स्वीकार करें तो अत्यन्त कृपा होगी। साथ ही एक निवेदन है, सामन्त बीजगुप्त इस लीला में किस तरह से अभिनय कर सकेंगे वह देवि ही जानें। क्योंकि वह अभिनय करने अपनी इच्छा से ही आ सकते हैं, न उन्हें आज्ञा ही दी जा सकती है और न उनसे ऐसा निवेदन किया जा सकता है।'

नीचे रंगशाला के अध्यक्ष के हस्ताक्षर थे।

चित्रलेखा का हृदय प्रसन्नता से उमंग उठा। उसने सैनिक से कहा, "'कहना' स्वीकार है।"

सैनिक चला गया।

उसके बाद चित्रलेखा और सुनयना को भी उस भवन से निकलने में विलम्ब नहीं हुआ। उनका रथ बीजगुप्त के भवन-प्राँगण में जाकर रुका।

बीजगुप्त स्वयं उन सुन्दरियों का स्वागत करने बाहर आया। उसने कहा, "बीजगुप्त के भवन पर साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नर्तकी चित्रलेखा पधारी हैं, अहोभाग्य।"

"अहोभाग्य ही समझें देव! चित्रलेखा ने हँसते हुए कहा, किन्तु अपने भगवान के यहाँ आने पर मैं अपने भाग्य की सराहना किस तरह करूँ।"

बीजगुप्त हँस गया, बोला, "तुम लोगों से कौन जीता है?"

वह भीतर प्रकोष्ठ में आये। वहाँ श्वेतांक उपस्थित था। वह कहीं जाने को प्रस्तुत दिखाई देता था, पर चित्रलेखा को देखकर चौंकते हुए, प्रसन्न भाव से उसने कहा "अरे! देवि तो यहीं आ गईं।"

बीजगुप्त ने कहा, "हाँ! उपहार ग्रहण करने वह स्वयं चली आई

हैं। तुम्हें अब नहीं जाना पड़ेगा।

चित्रलेखा सुनकर बोली, "सो कैसे आर्य? मैं तो अपने कार्य से आई हूँ।"

बीजगुप्त ने मुस्कराकर एक आसन पर बैठते हुए, उन दोनों सुन्दरियों को भी आसन ग्रहण करने का संकेत करके कहा, "कहिए! क्या कार्य है आपका?"

सुनयना ने रंगशाला से आया हुआ पत्र बीजगुप्त के हाथ में दे दिया। बीजगुप्त ने पत्र पढ़कर कहा, "क्या देवि की ऐसी इच्छा है?"

"हाँ।" चित्रलेखा ने उत्तर दिया।

बीजगुप्त ने कहा, "तो फिर इसे देवि की आज्ञा, आग्रह अथवा निवेदन, क्या समझ कर धारण करना पड़ेगा मुझे?"

चित्रलेखा ने बीजगुप्त की मधुर वाणी सुनी। वह जैसे विभोर हो उठी। उसने उसी भाव में डूबकर कहा, "देव क्या समझकर मेरी इच्छा की पूर्ति करेंगे? वही बतायें।"

बीजगुप्त ने कहा, "मैं हरप्रकार से देवि की इच्छा पूर्ण करने को प्रस्तुत हूँ।"

सुनकर चित्रलेखा के मुख पर आया हुआ भाव जैसे सुनयना की आँखों में भी पड़कर उसके हृदय को पुलकायमान कर उठा। वह चित्रलेखा की ओर देखकर मुस्कराई।

तभी बीजगुप्त ने कहा, "किन्तु मेरे उपहार देवि!"

चित्रलेखा ने कहा, "तो अब समझी!"

बीजगुप्त हँस दिया।

चित्रलेखा ने कहा, "तो फिर मुझे देव की आज्ञा, आग्रह अथवा निवेदन, किसके फलस्वरूप स्वीकार करने पड़ेंगे?"

बीजगुप्त ने कहा, "जैसे भी देवि कृपा करें।"

चित्रलेखा हँस दी। अब उसके पास इसके अतिरिक्त और चारा ही क्या था!

बीजगुप्त ने श्वेतांक से कहा, "देवि के लिए लाई गईं वस्तुएँ तो लाओ

श्वेतांक !"

श्वेतांक वहाँ से चला गया।

तब सुनयना ने चित्रलेखा से कहा, "तुम बड़ी भाग्यवान हो चित्रे !"

बीजगुप्त ने कहा, "क्या इस कारण कि तुम चित्रलेखा से पराजित हुई हो ?"

सुनयाना ने हँसकर कहा, "नहीं आर्य ! इसलिये कि चित्रलेखा को अपने आराध्य के दर्शन अब रंगशाला में नित्य ही होंगे।"

सुनकर बीजगुप्त और चित्रलेखा की दृष्टि अनजान में ही मिल गई। चित्रलेखा की दृष्टि में जो भाव था, बीजगुप्त के हृदय को जैसे उसने छू लिया। और बीजगुप्त की आँखों ने चित्रलेखा के नयनों में झाँककर उसे विभोर कर दिया।

सुनयना ने यह देखा और वह मुस्करा कर उठी, "इससे बड़ा सुख स्वर्ग में भी नहीं।"

यह सुनते ही चित्रलेखा ने अपने नेत्र झुका लिये, उसका मुख लज्जा से लाल पड़ गया, बीजगुप्त सुनयना की ओर देख उठा, कुछ मुस्करा दिया। किन्तु किस भाव से, यह कौन जाने ?

यशोधरा जैसे स्वयं भी कई दिन तक न समझ सकी कि उससे उस दिन क्या हो गया ? उसके कानों में बार-बार गूँज उठता, 'तुमने यह क्या किया देवि ?'—बीजगुप्त का स्वर। और वह बार-बार ही जैसे उत्तर देती, 'मैं नहीं जानती।'

बीजगुप्त उसके लिए एक प्रश्न बन रहा था !

बीजगुप्त—उसके लिये प्रश्न !

नहीं। वह स्वयं ही जैसे अपने लिये प्रश्न बन रही थी।

उत्तर ! क्या है ? वह नहीं जानती। चारों आँखें फैलाकर जैसे उसी को खोजती थी। किन्तु आँखें तो जहाँ स्थिर रह जातीं, वहाँ से न तो हटतीं और न उसके लिये कोई समाधान ही प्रस्तुत करती थीं। वह शून्य में टँगी रह जातीं। वह उद्विग्न हो उठती।

उस दिन से वह कहीं बाहर न निकली थी। कहीं जाने की उसकी कोई रुचि नहीं। इतना अध्ययन किया–शास्त्र और साहित्य, नीति और इतिहास, जैसे अपनी दशा का मेल अपने ज्ञान की नाप तौल बार-बार करने पर भी कहीं न मिल पाता। स्मरण करने पर जो कुछ भी आँखों के सामने फैल जाता था, उससे ही छुटकारा प्राप्त कर लेना जैसे उसे कठिन प्रतीत होने लगता—सभी कुछ, ज्ञान जैसे उन्हीं दृश्यों की ओट हो जाता।

वही वन-प्रदेश। रथ में अकेली बैठकर आती हुई वह निरीह अबला। दस्युओं का आक्रमण और उनसे रक्षा करने वाला बीजगुप्त।

राज्य दिवस का उत्सव। राजमार्ग पर बढ़ने वाला समारोह। गज-पंक्ति में सबसे आगे सम्राट्, उनके पीछे एक हाथी पर चढ़ा हुआ वही युवक—बीजगुप्त। सखी का विस्मय–इस युवक का क्या काम ? तुम पूछती हो सामन्त बीजगुप्त का क्या काम ?

चित्रलेखा और सुनयना का नृत्य। उसी के स्वरों पर नाचती हुई जैसे कहीं खोगई-सी चित्रलेखा। वह क्षण, जैसे वह स्वयं भी तो उन्हीं स्वरों में

कहीं खो गई थी। हृदय को झकझोर देने वाला वह वीणावादक—बीजगुप्त !

बौद्धगया में प्रणय के क्षण व्यतीत करते हुए बन्दी बना लिये गये वह दोनों—नन्दकुल की कन्या और वह श्रेष्ठि पुत्र। उस कन्या की वह कातर वाणी—'मैं स्त्री होकर तुम्हें पहचानने में भूल नहीं कर रही देवि ! तुम्हारी आज्ञा में बहुत बल है; जिस हृदय पर तुम्हारी आँखों का प्यार छिटकता है, वह तुम्हारी बात अवश्य मान लेगा। मेरे ऊपर दया करके उनसे कह दो।'

उनसे ! वह कौन था ? आँखों के सामने आ खड़ा हुआ—बीजगुप्त !

बीजगुप्त !

बीजगुप्त !

बीजगुप्त !

उससे उसका कहीं भी छुटकारा नहीं था। उसी में जैसे वह रम जाती, सहसा ध्यान आता तो जैसे झुंझला उठती। पर किस पर ? उसे जैसे अपने प्रश्न का वह समाधान प्रतीत नहीं होता ! और यदि वही समाधान हो भी तो कम से कम अपनी उद्विग्नता की शान्ति के लिए वह उत्तर नहीं चाहिए !

वह वातायन के सहारे खड़ी हुई जैसे अपनी वही उद्विग्नता शान्त करती थी; बार-बार भीतर घुमड़ने वाले अपने ही प्रश्न की अपनी तड़पन के इस उत्तर से न जाने मन को भरती थी, या न जाने और कोई उत्तर, और कोई समाधान खोजती थी। अकस्मात् उसके कान में नीचे प्रांगण से उठकर आई हुई रथ-ध्वनि पड़ी, उसने नीचे झाँका—बीजगुप्त का रथ आ रहा था। देखकर चाहा कि वहाँ से हट जाय, किन्तु हट नहीं सकी। खड़ी-खड़ी उसमें बैठे बीजगुप्त को देखती रही।

बीजगुप्त रथ से उतर कर भीतर चला। वह न जाने क्यों उसे अच्छा लगता था। उसे देखकर उसके हृदय की समस्त उद्विग्नता जैसे एक ओर तिरोहित हो गई थी। बीजगुप्त भीतर चला गया, फिर भी वह वहीं खड़ी रही। कुछ देर में वह प्रकोष्ठ में बाहर चलने को वहाँ से हटी कि परिचारिका ने आकर कहा, "देवि ! आर्य बीजगुप्त आये हैं। और स्वामी ने आपको स्मरण किया है।

सुनकर यशोधरा रुक गई। उसने परिचारिका को तीव्र दृष्टि से देखा, और तीव्र स्वर में ही बोली, "आर्य बीजगुप्त आये हैं तो मैं क्या करूँ? जाती क्यों नहीं? क्या वहाँ दासियों की कमी है?"

और वह पुनः आकर उसी वातायन से लगकर खड़ी हो गई। थोड़ी देर में नीचे प्रांगण में खड़े रथ का शब्द हुआ। उसने देखा—बीजगुप्त जा रहा था। उसके जाने के उपरान्त वह भी वहाँ से हटकर नीचे वाटिका में पहुँची। अन्यमनस्क-सी पुष्पित लता और पौधों के मध्य जा खड़ी हुई।

तब सन्ध्या हो रही थी। फिर भी यशोधरा वहाँ से नहीं जाती थी। इसी प्रकार से वह और भी वहाँ से न जाने कितनी देर तक न जाती कि उसकी एक सखी ने उसे खोजती हुई आकर उसे वहाँ खड़ी देख लिया। वह दूर से चिल्लाती हुई उसके समीप आई, "यहाँ खड़ी हैं रानी जी।"

यशोधरा ने उसे मुड़कर देखा। कुछ विहँसकर वह उसी की ओर चली।

उस नवागता ने कहा, "तेरा तो मन करता ही नहीं मेरे यहाँ आने को!"

यशोधरा ने सरलभाव से कहा, "हाँ न जाने क्यों इन दिनों मेरा मन नहीं हुआ।"

"बस मन नहीं हुआ! मन नहीं करता। बड़ी आई मन वाली।" कहकर वह वहाँ से उसे खींचती हुई वाटिकागृह के ऊपर पहुँची। ऊपर जाकर सौध के सहारे खड़ी होती हुई बोली, "क्यों जी? कहीं कोई और तो नहीं बस गया मन में?"

इसका यशोधरा के पास क्या उत्तर था—बस एक तीव्र दृष्टिपात।

व्यंग्य विनोद पुनः हुआ, "ऐसे क्यों देखती है? क्या किसी की प्रार्थना पर विचार चल रहा है?"

यशोधरा ने खिन्न मन से कहा, "ऐसी बातें न कर।"

"अच्छा जी?" और कुछ टेढ़ी दृष्टि डालती हुई यशोधरा की वह चंचल सखी जैसे कोई दृष्टि विनोद भी कर बैठी। पर तत्काल ही उसकी दृष्टि राजमार्ग पर चली गई। और वहीं पर जो कुछ देखा, उससे वह सब

कुछ भूलकर स्तम्भित-सी हो उठी।

यशोधरा भी देख रही थी—चित्रलेखा बीजगुप्त के रथ में बैठी जा रही थी।

उनका रथ राज-प्रासाद की ओर जा रहा था।

दोनों उनको दृष्टि से ओझल होने तक देखती रहीं। यशोधरा का मुख साँझ की धूमिल आभा में जैसे अपनी रही-सही चमक भी खो बैठा। उसने एक दीर्घश्वास खींची। यह बात उसकी सखी से छिपी न रह सकी। उसने कहा "आर्य बीजगुप्त को चित्रलेखा के साथ देखकर दुख होता है?"

यशोधरा ने फिर भी अपनी दशा छुपाई, बोली, "दुख! मुझे क्यों होने लगा दुख?" और वह एक फीकी हँसी हँस दी। पर फैलते हुए अन्धकार ने उस हँसी का फीकापन छिपा लिया।

उसकी सखी बोली, "तुझे नहीं होता दुख तो न सही, पर बहुतों को होता है!"

यशोधरा ने अब उसकी बात सुनने में उत्सुकता दिखाई, पूछा "सो क्यों?"

"यह भी कोई कहने की बात है, बताने की बात है?"

यशोधरा ने कहा, "बता दो!"

"आर्य बीजगुप्त सम्राट् की रंगशाला में चित्रलेखा के साथ अभिनय करेंगे। सुभद्राहरण की लीला में वह अर्जुन और चित्रलेखा सुभद्रा बनेगी इसलिये।" उसने कहा, "देखा नहीं, वह नित्य इसी प्रकार चित्रलेखा के साथ रंगशाला जाते हैं, लीला का अभ्यास करने।"

यशोधरा का हृदय और विकल हो उठा। उसका मुख सहस्र प्रयत्न करने पर भी भीतर की उदासी से रंगे बिना नहीं रह सका। उसने बैठते हुए स्वर से कहा, "सच!"

"और झूठ? जानती हो इससे उनका अपयश फैल गया है?"

यशोधरा ने सिर हिलाकर नाही की।

"चारों ओर चित्रलेखा और बीजगुप्त की प्रणयलीला की चर्चा है।"

यशोधरा जैसे अपने कानों पर विश्वास न कर सकी। उसने विकल भाव

से अपनी सखी को देखा, फिर बोली, "नहीं झूठ है।"

यह सुनकर वह कोमलाँगी हँस दी। यशोधरा के कपोल थपथपाती हुई वह बोली, 'जिन्होंने आर्य बीजगुप्त को अपना हृदय दे डाला हो, उनके लिए वास्तव में यह झूठ होगा!"

यशोधरा इस बात का कोई उत्तर न दे सकी। वह अपनी सखी के कंठ से लिपट गई, बोली, "नहीं यह बात नहीं है।"

तभी एक सेवक ने वहाँ आकर कहा, "देवि! आपको स्वामी बुलाते हैं। योगी कुमारगिरि आये हैं।"

"अच्छा!" कहकर यशोधरा वहाँ से चली। उसकी सखी ने भी उसी का अनुसरण किया। वह दोनों भीतर भवन में पहुँची। द्वारशाला के निकट पहुंचते-पहुँचते उन्हें कुछ वार्तालाप के स्वर सुनाई पड़े। यशोधरा द्वारशाला के द्वार में ही रुक गई। एक गम्भीर स्वर उसके कानों में पड़ा—

"इस हृदय को मोहाच्छन्न कर देने के लिये यहाँ विश्व में क्या नहीं बिखरा आर्य? किन्तु बुद्धि का मार्ग तो विधाता ने दिया है, उसी के द्वारा निकलकर चित्त को शुद्ध कर लेना चाहिए।"

यह योगी कुमारगिरि की वाणी थी।

मृत्युञ्जय ने कहा, "मन और बुद्धि। योगिराज इन दोनों की गति क्या है। कुछ समझ में नहीं आता। लगता है जैसे कभी तो हृदय के संकेत बुद्धि को त्रस्त कर उठते हैं, वह शिथिल हो जाती है; और कभी बुद्धि की प्रेरणा मन के विधान को पलट देती है।"

योगी ने कहा, "और देखा जाता है आर्य, मन की माया से आच्छन्न हुई बुद्धि अपनी नियन्त्रण शक्ति से रहित हो जाती है तो जैसे साँसारिक प्राणी सुख का अनुभव करता है; मन के खेल उसे बड़े सुखद लगते हैं। और जब मन के चरित्र का तिरस्कार कर बुद्धि प्रबल हो उठती है तो जैसे उसके लिये अशान्ति का समय होता है। मन के संकेतों से दूर होकर वह दुख का अनुभव कर उठता है।"

यशोधरा अब आगे बढ़ गई। उसने कुमारगिरि के सम्मुख जाकर प्रणाम किया। फिर पूछा, "सुख और दुख की उत्पत्ति क्या केवल इसी कारण से

होती है योगिराज ? मैं पूछती हूँ मन और बुद्धि दोनों ही किसी मूर्च्छा में पड़कर जब अपने कार्य को छोड़ बैठें तो उस समय सुख उत्पन्न होता है अथवा दुख। जब कोई यह न समझ पाये कि उसका मन किस ओर चल रहा है, उसको उद्विग्नता का उत्तर बुद्धि के पास भी उसे न दीख पड़े, तो उस क्षण कैसा अनुभव होता है योगिराज ? उसे आप सुख कहेंगे अथवा दुख !"

यशोधरा की बात सुनकर योगी कुछ क्षण को चुप रहा, फिर यशोधरा की ओर देखता हुआ ही वह बोला, "अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग दुख उत्पन्न करता है देवि ! प्रिय का संयोग और अप्रिय का वियोग सुख का कारण होता है। किन्तु प्रिय क्या है और अप्रिय क्या है यह नहीं कहा जा सकता। साँसारिक मनुष्यों के लिये जो प्रिय है वह विरागी के लिये अप्रिय और जो विरागी के लिये अप्रिय वह किसी संसारी के लिये प्रिय कहा जाता है। इस कारण प्रिय और अप्रिय हर एक व्यक्ति के लिये अपनी-अपनी बात है, अपने-अपने मन और बुद्धि का व्यापार है। और इनका विभेद करते समय कभी मनुष्य का मन प्रबल हो जाता है तो कभी उसकी बुद्धि। उससे उसको सुख भी मिलता है और दुख भी। किन्तु जब मन और बुद्धि दोनों ही अपनी-अपनी क्रिया से विमुख हो उठें, मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है; मेरी समझ में उसे दुख ही कहना चाहिये।"

सुनकर यशोधरा ने कुछ नहीं कहा।

योगी आसन त्याग कर उठ खड़ा हुआ। उसने मृत्युञ्जय की ओर देखकर कहा, "आर्य मृत्युञ्जय ! ज्ञान चर्चा में तुम्हारी कन्या का मन भी लगता है, तुम धन्य हो। कभी-कभी आश्रम पर आकर दर्शन दिया करो।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "जैसी आज्ञा।"

यशोधरा तब चुप ही रही। फिर क्षण मात्र में ही जैसे चलते हुए योगी को देखकर कुछ ध्यान आया। उसने पूछा, "योगिराज ! क्या उन खंडहरों के दूह पर अब भी कोई गाती है ?"

सुनकर योगी ने गम्भीर भाव से कहा, "हाँ !"

"क्या आपने उसे देखा है ?

योगी ने उसी प्रकार कहा, "जब भी वह आती है दिखाई देती है।

कभी-कभी मन करता है कि मैं उस स्थान को त्याग दूँ; किन्तु ऐसा करने को मन तैयार नहीं होता।"

फिर जैसे इस प्रसंग के छिड़ने से कुमारगिरि उसी में डूबा-सा चल दिया।

यशोधरा कुछ दूर तक योगी के साथ आई, फिर उसने योगी को प्रणाम किया। योगी ने उसे आशीष देते हुए कहा, "देवि यशोधरा! मुझे तो लगता है जैसे वह सब कुछ व्यर्थ है; परन्तु व्यर्थ की वस्तुओं में भी इतना आकर्षण, इतनी सुन्दरता होती है, यही आश्चर्य है।"

यशोधरा ने कुछ नहीं कहा। मृत्युञ्जय योगी के साथ चले गये। यशोधरा ने साथ चलती हुई अपनी सखी का जैसा सहारा लिया। फिर जैसे उससे नहीं, स्वयं से ही बोलो "बहुत-सी वस्तुएँ बड़ी सुन्दर होती हैं, बड़ी मधुर।"

और अकारण ही जैसे हँस दी।

फिर भीतर चलते हुए एक दीर्घश्वास खींचकर कह उठी, "मन जब मूर्च्छित हो उठे, बुद्धि कुंठित हो जाय, मनुष्य के लिये वह अवस्था भ्रम की ही होगी। किन्तु भ्रम दुख है? दुख ही होगा! पर उसमें इतना सुख क्यों? अपने चारों ओर के विश्व को भुलाकर उसी में डूबे रहने की विवशता क्यों?"

यह प्रलाप-सा सुनकर उसकी सखी ने हंसकर कहा, "सचमुच ही तू एक मधुर रोग से पीड़ित है।"

एकान्त पाकर यशोधरा फिर अपने मन की गहराई में डूब गई। अब उसमें डूबकर जैसे विकलता के और भी किसी कारण का अनुभव करती थी। 'चित्रलेखा के साथ बीजगुप्त का अभिनय—सुभद्रा हरण—इस प्रकार से राजमार्गों पर होकर चित्रलेखा के रथ का सारथित्व करते हुए नित्य ही रंगशाला की ओर जाना।'

वह दूसरे दिन दोपहर में बीजगुप्त से मिलने के लिये चली।

बीजगुप्त के भवन तक पहुचते-पहुचते उसने दूर से ही देखा—एक रथ उसके तोरण में प्रविष्ट हो रहा है। उसने उसके आरोहियों को पहचान लिया—वह चित्रलेखा और सुनयना थी।

उन्हें देखकर यशोधरा ने एक बार चाहा कि लौट चले। किन्तु ऐसा किया नहीं। उसके रथ ने भी उस भवन के तोरण में प्रवेश किया। चित्रलेखा के रथ के बराबर में जाकर वह रुका। वह रथ से उतरी; धरती पर उसने पाँव रक्खा ही था कि उसे सुनाई पड़ा, "देवि यशोधरा पधारी हैं!"

यह चित्रलेखा का स्वर था। यशोधरा ने देखा—वह अपने रथ में बैठी थी। उसे वह स्वर अच्छा नहीं लगा; उसने मुस्कराते हुए किन्तु कुछ तिक्त स्वर में कहा, "हाँ! पर जान बूझ कर इस अवसर नहीं आई। इतना विश्वास रक्खो! यदि मुझे इतना ज्ञात होता कि इस समय देवि सुभद्रा अर्जुन का हरण करने को रथ लिये खड़ी हैं तो कदापि नहीं आती!"

चित्रलेखा ने सुना, फिर मुस्करा कर कहा, "किन्तु यह तो अनर्थ होता देवि यशोधरा! अर्जुन की एक प्राणप्रिया क्या दूसरी को उसके समीप आने से रोक पाती थी? तुम आगई हो! तुम्हारा भी स्वागत है।" यशोधरा मर्माहत हो उठी, उसका मुँह लाल हो गया और इससे प्रथम कि वह कुछ उत्तर दे, उसे बीजगुप्त का स्वर सुनाई पड़ा, "चित्रे! यहाँ तक आकर तुम द्वार पर पर ही कैसे खड़ी रह सकीं?"

यशोधरा ने देखा—बीजगुप्त बाहर आ गया था। सुनयना पीछे थी। चित्रलेखा के रथ की ओट से द्वार से निकलता हुआ वह दीखता था, वह जहाँ खड़ी थी, वहीं खड़ी रही।

चित्रलेखा ने बीजगुप्त की ओर देखकर कहा, "जिसका हरण करना होता है, उसकी प्रतीक्षा उसके द्वार पर खड़े होकर ही करनी पड़ती है।"

सुनकर बीजगुप्त हँस दिया। वह चित्रलेखा के रथ के समीप आ खड़ा हुआ, चित्रलेखा का हाथ पकड़ कर उसने कहा, "सुन्दरी! इस हरण व्यापार की सफलता के लिये तुम लोगों के पास तो न जाने क्या-क्या है? चुपचाप ही सब कुछ अपने वश में कर लेती हो। कहाँ ले चलना है मुझको?"

"हिरण्यवाहेश्वर भगवान की पूजा करने जा रही हूँ, वहीं!"

"किन्तु आज तो अवकाश नहीं मिलेगा, मुझे कल प्रभात में ही सवर्ण-गिरि की यात्रा करनी है। तुम्हीं जाओ।"

"मैं अकेली !" चित्रलेखा का मधुर स्वर जैसे कुछ उदास हुआ। "सुवर्णगिरि से कब लौटोगे ?"

"कुछ दिन में !"

चित्रलेखा कुछ क्षण तक बीजगुप्त को देखती रही, फिर एक दीर्घश्वास खींचकर बोली, "मैं चाहती हूँ कि हर क्षण तुम्हारा साथ रहे।" और इससे प्रथम कि बीजगुप्त उस बात का उत्तर दे, वही बोली, "पर रंगशाला में तो आओगे न !"

"वहाँ तो आना ही पड़ेगा।" बीजगुप्त ने कहा।

सुनयना रथ में आ बैठी। सारथी ने रथ घुमाया। चित्रलेखा ने बीजगुप्त को मुड़कर देखा; दोनों की आँखें मिलीं, मुस्करा उठे।

तभी यशोधरा ने कहा, "चित्रलेखा ! जीवन के जिस करवट ने तुम्हें नर्तकी बना दिया है, विषय वासनाओं की वह पुलक तुम्हारे इस भोले-से मोह-प्रदर्शन में भी कितनी अच्छी लगती है ! किन्तु उस आवरण से चाहे जिसे आवृत करने की तुम्हारी चेष्टा पर सबको हँसी आयेगी।"

सुनकर चित्रलेखा जैसे चौंक उठी। उसने घूमते हुए रथ में से यशोधरा को देखा और तत्काल ही वह बोली, "और यौवन के उन्माद में झूमती हुई किसी बाला का आवेग किसी के पीछे डोलकर भी मन के सपनों को छिपाने की ही चेष्टा करे, उस पर क्या हँसी नहीं आयेगी देवि यशोधरा ?"

और उसका रथ आगे बढ़ गया। बीजगुप्त अलग हट गया था। उसने विस्मय से यशोधरा को देखा, और उस वार्तालाप को सुना। यशोधरा अब उसके सामने थी, उसकी दृष्टि उस पर पड़ गई। अब भी जैसे उसकी समझ में नहीं आया कि उसने क्या कहा, चित्रलेखा ने क्या उत्तर दिया ? उसने पुकारा, "यशोधरा ?"

यशोधरा ने उसके निकट पहुँचकर कहा, "हाँ ! तुम्हारे पास आई हूँ।"

बीजगुप्त को और विस्मय हुआ। फिर क्षणमात्र को चुप रह कर उसने चलते हुए कहा, "आओ !"

यशोधरा उसके पीछे-पीछे चल दी।

भवन में भीतर की ओर चलते हुए यशोधरा ने कहा, "एक प्रार्थना है।"

बीजगुप्त ने हँसते हुए कहा, "क्या प्रार्थनाओं के अतिरिक्त भी तुम्हारे पास कुछ है ?"

"नहीं !"

यशोधरा का स्वर जैसे यह कहते-कहते काँप गया। उसकी दीनता परिलक्षित हो उठी। बीजगुप्त भी उसे समझा और उसी क्षण मुड़कर वहीं खड़ा हो गया। यशोधरा भी खड़ी रह गई। उसने सिर झुका लिया। बीजगुप्त ने पूछा, "क्या बात है ?"

"तुम चित्रलेखा के साथ अभिनय मत करो। उसके साथ रंगशाला मत जाया करो।"

बीजगुप्त ने स्तम्भित भाव से कहा, "क्यों ?"

"उससे तुम्हारा अपयश फैलता है।"

"सो !"

"उससे स्वजनों का हृदय दुखी होता है।" यशोधरा ने कहा और लौटकर चल दी।

बीजगुप्त ने कहा, "सुनो तो यशोधरा !"

किन्तु यशोधरा रुकी नहीं। वह चली गई। बीजगुप्त उसे न जाने किस भाव से देखता रहा।

—:*:o:*:—

गगन की आलोक-रश्मियाँ क्षितिज का गाढ़ संयोग पाकर जैसे उदास हो चली थीं। धरती पर बिखरे हुए प्रकाश की उज्ज्वलता कम होती जा रही थी, और वायुमण्डल की निस्तब्धता वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। शोण का शान्त निर्मल जल जैसे प्रवाह के साथ ही अपने उर पर फैले चित्रों को कहीं दूर से ला रहा हो, या न जाने ऊपर से बरसते हुए खेलों को अपने हृदय में आश्रय देता जा रहा था।—प्रकृति परिवर्तन के घूमते हुए चक्र में चल रही थी। और ही रंग में रंगी जा रही थी।

अपने तट पर स्थित आश्रम-कुंज का प्रतिबिम्ब धारण किये हुए उस जलस्थली के भी पार फैली हुई बनस्थली कितनी शान्त दीखती थी। बगल का ढूह जैसे सदैव ऐसे ही चुपचाप खड़ा रहता हो; किंतु नहीं घड़ी, दो घड़ी में ही सब कुछ भयानक हो उठेगा—दूर शोण के परपाट पर चमकने वाला वनप्रान्त भी और पार्श्व में प्रहरी-सा खड़ा हुआ खण्डहरों का ढूह भी। प्रकाश की यह अन्तिम पर्त जब उतर कर चली जायँगी तो फिर इस सबका रूप-रंग कुछ और ही हो जायगा।

कुमारगिरि! वह एक योगी था।

उसने संसार से दूर रह कर अपने लिए किसी और ही प्रदेश का निर्माण किया था; उसी पर उसका आनन्द फैला था, शान्ति विराजती थी।

संसार के कोलाहल से दूर उस एकान्त स्थली पर जब वह अपने में लीन हो जाता तो जैसे उसे प्रतीत होता, उसे न जाने कितनी शान्ति मिल रही है; उसका ललाट जगमगाता।

चारों ओर से आँखें मूँदकर, समस्त माया मोह से दूर हो जब वह आत्म-तुष्टि का खेल खेलता, तो जैसे उसे लगता, वह न जाने कैसे नीरव उद्वेलन में हिलकोर ले रहा है, कितने आनन्द में सन्तरण कर रहा है। वह मुस्कराता।

वह एक ही बात जानता था—

संसार मिथ्या है; संसार असार है।

उसे एक बात का ज्ञान था—

सभी कुछ अनित्य है; सभी कुछ माया है।

वह एक ही बात विचारता था—

साधना में अचिन्त्य आनन्द है।

उसके लिये एक ही चिन्त्य था, एक ही लक्ष्य था—परम ब्रह्म !

दिन के पश्चात् कुछ समय में चारों ओर रात्रि फैल जायगी, समय का एक पग अदृश्य हो जायगा, दूसरा चलेगा।

योगी अपने आसन पर बैठा था, उठ खड़ा हुआ। एक लम्बी सांस खींची। मुख से शब्द निकले, "एक स्थिर में फिर मैं ही क्यों रहना चाहता हूँ?"

परम ब्रह्म के ध्यान में लीन होने पर जब वह निस्सीम शून्य-से टँगे हुए गगन को ज्योतिर्मय कर लेता, उसी में विचरने को अपने मन की आँखें खोल देता, और दूर-दूर स्वप्निल से प्रदेश में किसी मूर्त्ति को खोजने का प्रयत्न करता, तो उसे जैसे प्रतीत होता—भला इससे प्रिय और क्या होगा?

योगी चबूतरे से नीचे उतर आया। ऊपर आकाश की ओर देखा, बोला, "क्या वास्तव में उससे प्रिय और कुछ नहीं?" दृष्टि क्षौणि के वक्ष पर फैला दी। दूसरी शंका मुँह से फूटी, "मन की आँखों से ही देखते रहने का प्रयोजन है तो भला फिर यह दो आँखें क्यों?"

उसने पुकारा, "विशालदेव!"

किन्तु उपस्थित हुआ—मधुपाल। सामने आकर विनीत स्वर में बोला, "आज्ञा गुरुदेव!"

"विशालदेव कहाँ है?"

"लकड़ी एकत्र करने गये हैं।"

"और तू क्या कर रहा है?"

"मैं अग्नि प्रज्वलित करता हूँ गुरुदेव!"

"बिना समिधा के अग्नि प्रज्वलित करता है मूर्ख!" कुमारगिरि ने कहा।

"इस समय के लिए तो लकड़ियों का कोई अभाव नहीं गुरुदेव!

कल सन्ध्या के लिए मँगवाई हैं।"

"आज के लिये होते हुए भी तुझे कल की चिन्ता पड़ गई मूर्ख।"

"बिना ऐसा किये आगे का कार्य कैसे चलेगा" भगवन्? कल मुझे परिश्रम करना पड़ता।"

"तू बहुत दुष्ट है।"

"मैं बहुत भोला हूँ।"

कुमारगिरि झुँझला उठा। उसने उसे डाँट दिया, "चुप रह मूर्ख!"

मधुपाल ने अचकचाकर वहाँ से पधारते हुए कहा, "चुप हो गया गुरुदेव?"

कुमारगिरि टहलने लगा। कुछ दूर पर मधुपाल यज्ञवेदी में अग्नि प्रज्वलित करने बैठा। धीरे-धीरे कुमारगिरि उसी के समीप पहुँचा, उससे कहा, "अभी से अग्नि जलाकर क्या होगा?"

मधुपाल ने ऊपर मुख करके कुमारगिरि की ओर देखते हुए कहा, "गुरुदेव! विशालदेव ने मेरा कष्ट कम किया है, मुझे उसका कष्ट कम करना चाहिए। उसे लौटकर अग्नि संस्थापना करनी पड़ेगी।"

"तेरी मूर्खता दिन पर दिन बढ़ती जाती है।" यह कहता हुआ कुमारगिरि वहाँ से चल दिया।

चलता हुआ वह शोण के घाट पर पहुँचा। चुपचाप एक मण्डप के नीचे बैठ गया। कुछ समय तक यों ही अपने ध्यान में मग्न रहने के उपरान्त सहसा किसी शब्द को सुनकर उसका ध्यान भंग हुआ। वह दो रमणियों की परस्पर होने वाली हँसी की ध्वनि थी। उसने उन्हें देखा—पार्श्व के घाट पर वह दोनों अपने अन्य वस्त्र उतारकर केवल एक अधोवस्त्र धारण किये जल में उतर रही थीं। उनके अन्य वस्त्र मण्डप के नीचे घाट पर ही रक्खे थे। उसने उन्हें पहचाना—सुनयना और चित्रलेखा।

और उन्होंने जैसे वहाँ बैठे हुए योगी को देखा ही नहीं था।

दोनों परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़ कर जल में बैठ गई थीं, उनके सिर केवल जल से ऊपर चमकते थे। जैसे दो कमल सूर्यदेव को अस्ताचल

में जाते हुए देखकर बन्द होना चाहते हों, सिर के बँधे हुए जूड़े भ्रमरों का गुच्छा बने प्रतीत होते थे। उनके कम्बु कण्ठ और चन्द्रानन की यही शोभा थी।

योगी की आँखें एक बार उन पर स्थिर होकर जैसे हटना ही नहीं चाहती थीं।

उन सुन्दरियों की परस्पर की हँसी, चुहल उसे बड़ी भली लग रही थी। चित्रलेखा का पृष्ठ प्रदेश योगी की ओर था, सुनयना की भी कुछ वैसी ही स्थिति थी।

कुछ काल में स्नान करके वह उठीं।

योगी का हृदय धड़क उठा। उसने आँखें उन सुन्दरियों पर गड़ा दीं। उनकी जलन जैसे और बढ़ गई।

उन दोनों रमणियों का गौर वर्ण झीने अधोवस्त्र में से झमकता था। योगी देखता रहा, सुनयना चित्रलेखा की ओट में थी। उसकी दृष्टि चित्रलेखा पर ही अटक गई। भीगा हुआ अधोवस्त्र उसके सुडौल अवयवों से चिपक कर मादक रश्मियों का स्फुरण करता था। सुडौल भुजायें, माँसल स्कन्ध प्रदेश तथा उठे हुए उरोज, क्षीण कटि, गुरुनितम्ब और मनोहर जंघायें; योगी का हृदय जैसे डोल उठा। सायंकालीन किरणों में उनकी लोल छवि जैसे कामरूप होकर जगमगा उठी थी। सौन्दर्य की मौन रेखायें बाहर झाँककर भी लुका-छिपी के-से भाव से ही मुस्कराती जान पड़ती थीं। हृदय पर जैसे उनकी मुस्कान धीरे-धीरे रेंगती हो। योगी जड़ हो रहा था, और उसका मन अस्थिर? उस भरे हुए यौवन का उफान उसके मन की सीमाओं में प्रविष्ट हो उठा था, उसकी नाड़ियों में रक्तप्रवाह जैसे कुलाँचें मारने लगा।

वह सुन्दरियाँ जैसे अभी भी उस पिपासाकुल-सी दृष्टि से अनभिज्ञ थीं। घाट की एक सीढ़ी चढ़कर उन्होंने दूसरी सीढ़ी पर पाँव रक्खा, और सहसा तभी चित्रलेखा की दृष्टि कुमारगिरि पर पड़ी; चौंककर उसके मुख से निकला, "योगी!"

कुमारगिरि के मुख से निकला, "हाँ देवि!"

चित्रलेखा और सुनयना भीगे अधोवस्त्र में से झाँकते हुए अपने मदिर अवयवों की रक्षा करती हुई-सी जहाँ थीं वहीं बैठ गईं। चित्रलेखा ने कहा, "तुम यहाँ कब से बैठे हो योगी?"

"बहुत समय से!"

सुनकर दोनों के मुख से निकला, "हे भगवन्!"

योगी उठ खड़ा हुआ; किन्तु वहाँ से चला नहीं। आँखें भी नहीं फेरीं।

चित्रलेखा ने कहा, "तुम यहाँ से जाओ योगी! शीतकाल है, ठण्ड लग रही है हमें वस्त्र पहनने दो।"

"मेरी दृष्टि में भी कम्प उठते हैं, आँखें इसी कारण अकड़ गई हैं। तुम अपना कार्य क्यों नहीं करतीं?"

"हमें हिरण्यवाहेश्वर महादेव की पूजा करनी है, तुम्हारे यहाँ खड़े रहने से हम अपना कार्य कैसे करें, वस्त्र कैसे पहनें?" चित्रलेखा ने कहा।

योगी ने कहा, "अच्छा!" एक दीर्घ निश्वास खींची और मुड़कर सामने खड़े खँडहरों के ढूह की ओर देखा। नित्य ही आमंत्रित करने वाली वह सुन्दरी--जिसकी अंगकांति से उसका परिचय था, रूप का केवल अनुमान था; मन ही मन जैसे कल्पना कर उठा—उसके सौन्दर्य्य की, उसके अंग सौन्दर्य्य की; कुमारगिरि धीरे-धीरे वहाँ से चल दिया।

आश्रम में पहुँचकर उसने देखा—मधुपाल यज्ञवेदी में अग्नि प्रज्वलित कर रहा था और विशालदेव समिधा लेकर तभी आया प्रतीत होता था। वह उसी के समीप खड़ा हुआ कह रहा था, "अच्छा! यह बात है!"

मधुपाल ने जैसे कुछ उद्विग्न होते हुए कहा, "अरे बात क्या है भइया? बिना संग्रह के नित्य कर्म भी नहीं चलते! मैंने तुम्हें इसी कारण समिधा ले आने का कष्ट दिया!"

विशालदेव ने कहा, "तुझे नित्यकर्म से कहीं अधिक संग्रह की चिन्ता है!"

मधुपाल ने आसन पर सीधे बैठकर कहा, "वाह!" और विशालदेव की ओर हाथ करके बोला, "इधर संग्रह होता है।" फिर अपनी ओर हाथ किया, "इधर नित्मकर्म! कितनी अच्छी व्यवस्था की मैंने।"

विशालदेव ने कुछ नहीं कहा, उसकी दृष्टि समीप ही आकर खड़े हुए

कुमारगिरि पर पड़ी। उसने उसे चिन्तित देखकर पूछा, "क्या सोचते हैं गुरुदेव ?"

"सोचता हूँ चिन्ता करना भी बुरा नहीं। हमें चिन्ता करनी ही चाहिए।

विशालदेव ने कहा, "चिन्तित होने पर मन की स्थिरता जाती रहती है। हमारा मन चंचल हो जाता है।"

"किन्तु हमारे नित्यकर्म क्या-क्या जुटाकर होते हैं विशालदेव ? क्या उसकी चिन्ता किये बिना कुछ होता है ? बिना जाने हुए भी मन चिन्तित रहता ही है। संभवतः वह कभी स्थिर नहीं होता।"

विशालदेव ने एक दीर्घ श्वास खींची। योगी का मन किधर जा रहा है उसकी समझ में नहीं आया। उसने कहा, "गुरुदेव! अभ्यस्त मात्र से मन कुछ करने में लगा रहे, उसमें कोई उद्वेग न उठे; हम उसे स्थिर ही कहेंगे। मधुपाल की बातों ने आपको भ्रम में डाल दिया है।"

कुमारगिरि ने सिर हिलाकर कहा, "नहीं! मैं उसकी बात नहीं सोचता था।"

विशालदेव चुप रह गया। उसने यज्ञवेदी की ओर देखा—अग्नि शिखायें प्रसन्न थीं।

अग्निहोत्र करके निश्चिंत हुए तो आसन पर बैठे ही बैठे कुमारगिरि ने विशालदेव से पूछा, "विशालदेव! बुद्धि जब अपना कार्य करना बन्द कर दे, मन भी मनुष्य को ठग कर चुप रह जाय, तो फिर कौन सा मार्ग शेष बचता है ? और उस पर चलने में क्या आनन्द नहीं आता ?"

विशालदेव ने कहा, "उस भ्रम में सुख कहाँ योगिराज ?"

कुमारगिरि इससे प्रथम कि कुछ कहें, पीछे से एक मधुर कण्ठ सुनाई पड़ा, "तुम भूलते हो युवक! मन और बुद्धि के मूर्च्छित हो जाने पर क्या कुछ स्वर्गीय नहीं होता ?"

मधुपाल, विशालदेव तथा योगी तीनों ने चौंक कर देखा—चित्रलेखा उनके पीछे खड़ी थी। उसकी रूप राशि यज्ञवेदी की उठती हुई शिखाओं के प्रकाश में जगमगा रही थी। सुनयना ने बगल में खड़ी होकर जैसे उस राजरानी-सी सुन्दरी का सख्य भाव धारण किया था। घिर आये हुए अन्धेरे

में उन दोनों का प्रादुर्भाव अद्‌भुत-सा लगता था।

चित्रलेखा ने कहा, "चारों ओर जैसे विविध रूपों का वितान तना है विशालदेव। दूर तक अन्धकार फैला है—जैसे विश्व सो गया है; कहीं कोई चेतन नहीं, कोई गति नहीं। मन पर जैसे इसकी छाया पड़ती हो—इसे अचेतन कहते हैं, इसे शान्ति और स्थिरता कहते हैं। ऊपर आकाश में निबिड़ तम का साम्राज्य है—किन्तु गगन अपनी अनन्त गहराइयों में डूबा रहकर भी अपनी गोद की तारिकाओं को खिलाना नहीं भूलता, धरती पर बहने वाली सरितायें इस काल में भी अपना रूप सजाने को उसी आलोकमाला को पहनती हैं; इससे आभास होता है—चारों ओर एक छवि का विस्तार है। मन किसे अपना समझे और बुद्धि किसे अपनाये! यह भूलकर जब पैर उठने लगते हैं, तो भला उसमें दुख कैसा?"

कुमारगिरि उठ खड़ा हुआ। वह एकटक हो चित्रलेखा को देखता था।

विशालदेव ने प्रतिकार किया, "यह असत्य है देवि!"

"असत्य!" चित्रलेखा खिलखिला उठी। आवश्यकता के अधिक वेग से खिलखिला उठी, जैसे अपने रूप-कादम्ब को वहाँ अच्छी तरह छिड़क देना चाहती थी। विशालदेव अप्रतिम हो गया। कुमारगिरि और आकर्षित।

चित्रलेखा आगे बोली, "गगन-मंच पर जब परवस-सी कादम्बिनी खेल उठती है, गंभीर स्वरों में बादल अवनी को पुलकित कर उठते हैं, इन्द्रधनुष की छवि से लोग मोहित हो जाते हैं; क्या वह सब क्षणभंगुर होने से ही असत्य हो जायगा? पृथ्वी उनसे रूप ग्रहण करती है अन्न की उत्पत्ति होती है, लोक का पालन होता है, योगिराज! इसी तरह स्ववश में न रहकर किसी ओर बढ़ चलने पर जब मन का वेग पीछे रह जाय, बुद्धि की तो बात ही क्या? तब किसी न किसी महत्कार्य की सिद्धि होगी ही। वह चाहे भ्रम का प्रसाद ही सही, पर बड़ी शान्ति देगा।"

योगी के मुख से कुछ न निकला। वह चित्रलेखा को ही देखता रहा। चित्रलेखा ने भी भाव बदलकर कहा, "अच्छा योगिराज प्रणाम! इस आश्रम

पर मेरे आगमन से आप कुपित तो नहीं हैं ?"

कुमारगिरि ने कहा, "तुम किसी की भी कोप भाजन नहीं रह सकतीं चित्रलेखा !"

सुनकर चित्रलेखा मुस्करा दी, जैसे उस योगी पर एक बाण चलाया।

—:※:०:※:—

सामन्त बीजगुप्त के विषय में लोग बहुत कुछ जानते थे और कुछ भी नहीं जानते थे।—बीजगुप्त का मृदुल व्यवहार, उसकी मधुर हास-युक्त वाणी और दयार्द्र हृदय से नगर का बच्चा-बच्चा परिचित था। पिता के सामने अनेक वर्षों तक उसका समय विद्याध्ययन करने में व्यतीत हुआ था; वह घर से दूर-दूर ही रहा था। तब लोग उसके विषय में इतना ही जानते थे, किन्तु वह कितना होनहार और कितना योग्य है, यह किसी को क्या मालूम? जब अपने पिता के देवलोक प्रस्थान पर सहज ही उसने समग्र व्यवस्था को सम्हाल लिया तो जैसे साथ के सामन्त समुदाय को ज्ञात हुआ कि इस युवक सामन्त में भी साम्राज्य-प्रदत्त किसी मान को निबाह लेने की क्षमता है। उसके बाद तो जो कुछ बीजगुप्त के जीवन में हुआ, लोग उसे आश्चर्य, विस्मय और कुतूहल से देखते थे। पहले उन्हें आश्चर्य हुआ, फिर कुतूहल और विस्मय तो सदैव ही बना रहने को था—इस युवक के जीवन का आगे का व्यापार न जाने कैसा हो?

लोगों में उसके प्रति विभिन्न प्रकार के भाव थे।

बीजगुप्त ने वयोवृद्ध लोगों का आदर करना सीखा था; अपनी लघु अवस्था में प्राप्त हुए वैभव के प्रमाद से दूर रहकर युवक मण्डली में सरल भाव से उन्हीं में से एक हो जाना और बालकों के प्रति स्नेह, सभी कुछ लोक व्यवहार के खेल में उसके अपने लक्षण थे।

वह युवक था। पिता के सामने उसका विवाह नहीं हो सका; बाद में उसे विवाह की चिन्ता नहीं, इच्छा भी नहीं। अपने में डूबा रहने वाला वह वैसे कुछ असाधारण न लगता, किन्तु विवाह के प्रश्न की जब मुस्करा कर उपेक्षा कर देता, तो उसकी वीणा के स्वरों पर नृत्य करने को लालायित रहने वाली राष्ट्र की विख्यात गणिकाओं का अभिनन्दन करने वाले बीजगुप्त को लोग कुछ और ही दृष्टि से देखते। कुछ किसी भाव से, कुछ किसी भाव से कह उठते, "बीजगुप्त ऐश्वर्य और वैभव के संकेत पर नाच रहा है, वह स्वर्गीय

भोग भोग रहा है, उसे क्या चिन्ता ? और उसे क्या आवश्यकता ?"

लोग उसके विषय में सब कुछ जानते थे।

—किन्तु किसी ने उसके गम्भीर क्षण नहीं देखे। किसी के सामने उसने भी तो उनका खेल नहीं खेला। कैसे खेलता! भला वह भी चारों ओर बिखेर देने की वस्तु है ? संसार के लिये उसमें अन्यत्र ही उपहास की सामिग्री का क्या अभाव ?

वीणा उसकी न जाने कब की संगिनि थी। उसने कब उसे सीखा, इस प्रकार के स्वर छेड़ना उस पर कहाँ से आगया, यदि यह उससे भी पूछा जाय तो वह भी क्या बता पायेगा ? उस पर उसकी एकान्त की रागिनी छिड़ती; जैसे हृदय से वार्तालाप होता।

बीजगुप्त के लिये वह क्षण स्वर्गीय होते। कहाँ से और कब आकर वह अवतरित होते थे, इसका उसे भी कुछ ज्ञान नहीं। जब कभी वह इस बाह्य संसार को भूलकर वीणा पर अपनी अंगुलियाँ रख देता तो जैसे वह स्वयं ही चल उठतीं। जैसे वह अपने में डूब जाता।

लोग कहते थे बीजगुप्त ने स्वर्गीय संगीत छेड़ दिया।

उसके झुके हुए पलक उठ जाते, वह मुस्करा देता।

किस किसने उसकी सौम्य मूर्त्ति को तल्लीन भाव से देखते रहकर उसकी वीणा के संगीत में स्वयं को खो दिया; क्या-क्या किसी के मुख से निकल गया किसी के अंग-प्रत्यङ्ग में कैसे-कैसे कम्प उठ निकले, उस सबका अभिनन्दन करने को ही जैसे बीजगुप्त के मुख पर मुस्कान छिटक आती; उसका हृदय अनुभव कर उठता—कैसा विलक्षण मोह है ?

क्यों न इसके लिये कोई मर मिटे ?

किंतु !

गम्भीर निश्वासों के बीच और सुरा के घूँटों में सब कुछ विलीन हो जाता ?

लोग उसके विषय में कुछ भी नहीं जानते थे।

तब चित्रलेखा जैसे बीजगुप्त के विषय में ही सोचती थी। उसका रथ राजाङ्गण से निकलर बाहर राजमार्ग पर बढ़ रहा था। बीजगुप्त के भवन पर पहुँचा देने

की सारथी को चित्रलेखा की आज्ञा थी। उसमें बैठी हुई चित्रलेखा अपने विचारों में मग्न थी, पार्श्व में बैठी हुई सुनयना मार्ग पर देखती थी। हेमन्त काल के प्रभात में वहाँ अधिक लोग नहीं दिखाई पड़ते थे, सुनयना भी जैसे केवल उन्हें देखती ही थी, कुछ सोचती विचारती न थी। चित्रलेखा की आँखें तो मार्ग पर थीं, किन्तु मन! वह बीजगुप्त में स्वयं को उलझाये था; हृदय प्रदेश पर कितने विचार-चित्र फैले थे, वही जाने! सहसा उसने सुनयना से पूछा, "क्या आर्य बीजगुप्त सचमुच ही बहुत गूढ़ हैं?"

सुनयना जैसे चौंक पड़ी। उसने चित्रलेखा की ओर दृष्टि डालकर पुनः उसे अपने पहले ही स्थान पर जमाते हुए कहा, "हाँ! ऐसा ही सुना है! उनसे कितनी गणिकायें प्रसन्न नहीं और कितनी अप्रसन्न नहीं।"

चित्रलेखा ने कहा, "सुना है! किन्तु देखती हूँ वह मेरे कटाक्षों के वशीभूत हैं! वह मेरे हैं। वह मेरे रूप के पतंग हैं।"

सुनयना ने सुना। चित्रलेखा के विभोर प्रायः कण्ठ को उसने पहचाना। उसने उसकी ओर दृष्टि भी फेरी और पूछना चाहा 'और तुम!' किन्तु पूछा यह नहीं। उसने कहा, "यदि यशोधरा भी यही अनुभव करती हो तो।"

सुनते ही चित्रलेखा की विचारधारा जैसे भंग होगई। उसका मृदुल आवेग-युक्त स्वर न जाने किधर तिरोहित हो उठा, वह सुनयना पर दृष्टि स्थिर करके बोली, "उससे मुझे क्या? वह चाहे कुछ अनुभव करे! चाहे कुछ सोचे! बीजगुप्त के हृदय का मोह जिसे बाँधने के लिए आज दौड़ता है, वह तो मैं जानती हूँ, मेरे अतिरिक्त कोई स्त्री नहीं।"

सुनकर सुनयना चुप हो रही। उसने कुछ नहीं कहा। चित्रलेखा ने भी आगे कुछ नहीं कहा। रथ आगे बढ़ता रहा। बीजगुप्त ने अपने भवन-प्राँगण में उठी रथ-ध्वनि सुनकर वातायन से झाँककर देखा। चित्रलेखा के रथ को पहचाना।

कुछ देर में ही चित्रलेखा उसके सम्मुख आ उपस्थित हुई। उसने देखा —बीजगुप्त जैसे कहीं जाने को प्रस्तुत हुआ-सा प्रतीत होता था। बीजगुप्त ने मुस्कराकर उसका स्वागत किया, आगे बढ़ कर कहा, "पधारो देवि! पर इस समय कैसे? अभी तो, तुमने अनेकों को शय्या भी नहीं छोड़ने

दी होगी।"

चित्रलेखा ने उसे प्रणाम नहीं किया। वह भी उसी की भाँति मुस्कराती हुई बोली, "और आर्य बीजगुप्त इतने तड़के ही किधर जाने को प्रस्तुत हैं?"

चित्रलेखा एक आसन पर बैठ गई। बीजगुप्त ने भी उसी के निकट एक आसन्दी पर बैठते हुए कहा, "मैं कहीं जाने को नहीं, कहीं से आकर यह वेश त्याग करने को प्रस्तुत हूँ।"

चित्रलेखा सुनयना को भी अपने पार्श्व में खींचकर बीजगुप्त पर कटाक्ष सा करती हुई कुछ विस्मय युक्त स्वर में बोली, "कहाँ से आना पड़ा इस समय? क्या कहीं रात्रि-विश्राम भी करना पड़ा।"

बीजगुप्त मुस्करा दिया, फिर उस पर एक मोहमयी-सी दृष्टि गड़ाकर उसने कहा, "चित्रलेखा! कहीं पर रात्रि-विश्राम में क्या कुछ महत्व है? आर्य मृत्युञ्जय के गृह ब्राह्ममहूर्त में ही जाना पड़ा, पर इसके लिए भी हृदय में किसी शंका का उदय मत होने देना।"

चित्रलेखा अनजान में ही कुछ उदास हो उठी। उसका हृदय जैसे कुछ बैठ-सा गया। किन्तु झरोखे में होकर झाँकने वाली बालरवि की मुस्कराहट कुछ-कुछ उसके मुख पर भी पड़ रही थी, उसके मुखमण्डल को उसने सजा दिया था। उसके भीतर व्याप्त होगये इस भाव को उसके अतिरिक्त और कोई न समझ सका। उसने कहा, "इस मन में शंकाओं का उदय होना असम्भव नहीं है आर्य? कहीं कल यशोधरा के ही किसी संकेत पर तो तुम रंगशाला नहीं आये। मैं अर्द्धरात्रि तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही।"

सुनकर बीजगुप्त ने उसके मुख पर अपनी दृष्टि स्थिर कर दी। वह चित्रलेखा के मुख को देखकर सहसा मुस्करा न सका। उसे लगा प्राची से चलकर झरोखे में से झाँकने वाले प्रभात के कोमल आलोक में भी जैसे उसका मुखारबिन्द प्रज्वलित-सा था। उसने धीरे से कहा, "चित्रे!"

चित्रलेखा के मुख से प्रस्फुटित हुआ, "बीजगुप्त!"

और दोनों की आँखें एक दूसरे पर स्थिर हो गईं। यह देखकर सुनयना ने मुख फेर लिया, फिर सहसा उठ खड़ी हुई। उसके इस कृत्य से वह दोनों

जैसे चौंक पड़े, किन्तु चित्रलेखा ने सुनयना से कुछ नहीं कहा। वह उस प्रकोष्ठ से बाहर जाने को चली। बीजगुप्त ने हाथ बढ़ाकर सुनयना का हाथ पकड़ लिया।

सुनयना ने चित्रलेखा की ओर देखा। वह जैसे अभी भी संयत नहीं थी, फिर बीजगुप्त को देखकर उसने कहा, "क्या अन्तर के भेद खोलने वाले दो व्यक्तियों के बीच मुझे भी उपस्थित रहना चाहिए?"

बीजगुप्त ने मुस्कराकर कहा, "नहीं! कदापि नहीं।" फिर उसे खींचकर पुनः बैठाते हुए कहा, "पर तुम तो बैठो सुनयना! हृदय की क्रीड़ाओं में जो पारंगत हो उससे कैसा छिपाव? तुमने तो न जाने कितनों को बहलाया होगा?"

सुनयना पर एक हलका-सा आघात हुआ, किन्तु उसे उसको सहन करके मुस्कराना ही पड़ा। पर हाँ—चित्रलेखा का मोह जैसे भंग हो उठा। उसने सुनयना को देखा, और उसकी मुस्कान को देखकर ही जैसे वह भी मुस्कराई। बीजगुप्त ने कहा, "चित्रलेखा! मुझे कल रात सम्राट् की आज्ञा से उनके समीप उपस्थित होना पड़ा। मेरा सुवर्णगिरि जाना स्थागित रहा, वहाँ जाने की आज्ञा आर्य मृत्युञ्जय को मिली। और मुझे एक विचित्र-सा आदेश मिला!"

चित्रलेखा के हृदय में कुतूहल जाग्रत हुआ, नेत्रों की राह होकर वह जैसे झाँकने लगा।

सुनयना ने पूछा, "क्या?"

बीजगुप्त हँस दिया। चित्रलेखा की ओर देखकर उसने कहा, "एक अप्सरा को रिझाने का।"

सुनकर चित्रलेखा ने एक कटाक्ष किया। वह उसे बीजगुप्त का विनोद ही समझी, सुनयना ने भी ऐसा ही समझा, वह चित्रलेखा की ओर देख उठी। उसीसे बोली, "यह किस सम्राट् की आज्ञा है, समझी कुछ?"

चित्रलेखा ने सिर हिलाया, मना किया।

सुनयना ने हृदय पर हाथ रखकर कहा, "इसकी!"

बीजगुप्त हँसता रहा—सुनयना जो कहती है, वही सही।

अब चित्रलेखा और सुनयना जाने के लिये उठीं। बीजगुप्त ने चित्रलेखा का हाथ पकड़कर उसकी आँखों में आँखें डालते हुए कहा, "बीजगुप्त के अतिथि प्रभात में आकर बिना सन्ध्या हुए ही प्रस्थान कर जायँ! और वह भी ऐसे मनोहर पाहुने!"

उसने सुनयना की ओर भी देखा।

सुनयना ने कहा, "किन्तु मुझे तो जाना ही चाहिए! गृह पर स्वामिनी न हों तो कम से कम दासी का रहना तो आवश्यक है ही।"

"अच्छा!" बीजगुप्त ने कहा, "तुम चली जाना, पर कुछ ठहर कर।"

कुछ समय पश्चात् सुनयना को वास्तव में लौटने की आज्ञा प्राप्त हो गई। वह रथ में बैठकर जब वहाँ से चली तो उसने देखा—चित्रलेखा और बीजगुप्त गवाक्ष में खड़े होकर उसी को देख रहे थे। बीजगुप्त के पार्श्व में खड़ी हुई चित्रलेखा उसे ऐसी प्रतीत हुई जैसे अपने स्वप्नलोक के पुरुष को पाकर कोई प्रणययाचिका मुग्ध हो गई हो। उसका रथ बाहर आया। दूसरी ओर राजमार्ग पर उसे रथारूढ़ यशोधरा दिखाई दी, वह बीजगुप्त के भवन में प्रविष्ट होना चाहती थी। यशोधरा का रथ सुनयना के रथ के पार्श्व में होकर ही आगे बढ़ने को हुआ। सुनयना को यशोधरा ने भी देखा। उसने तत्काल ही पूछा, "आर्य बीजगुप्त भवन पर हैं?"

सुनयना जैसे किसी ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देने को प्रस्तुत थी। उसने मुस्कराकर कहा, "हाँ हैं। और साथ में चित्रलेखा भी।"

उसका रथ आगे बढ़ गया।

किन्तु यशोधरा के रक्त में जैसे कुछ कम्प उठ आये। सुनयना की बात ने जैसे उसको जड़ कर दिया। उसने सारथी से कहा, "रथ लौटा ले चलो सारथी! इस समय आर्य बीजगुप्त से सम्भवतः कोई बात न हो सके।"

रथ प्रांगण में पहुँच चुका था।

बीजगुप्त और चित्रलेखा भी अभी गवाक्ष से हटे नहीं थे। उस प्रांगण में प्रवेश करते हुए रथ की ध्वनि ने उनकी दृष्टि आकर्षित कर ली थी। किंतु उन्हें विस्मय हुआ—यशोधरा का आया हुआ रथ लौट चला।

बीजगुप्त ने एक दीर्घ श्वास खींची। मन कुछ उदास हो गया। मुख

पर भी वैसी ही छाया पड़ी।

चित्रलेखा के मुख पर जैसे विजय की एक किरण फूटी। वह मुस्कराती-सी प्रतीत हुई। उसने बीजगुप्त के कण्ठ में हाथ डालकर उसकी आँखों में आँखें डाल दीं, उसके हृदय से लगकर भूल-सी गई। मुख से निकला, "प्रियतम।"

बीजगुप्त न जाने उस मादक कण्ठ स्वर में या न जाने उस पिपासाकुल-सी दृष्टि में उलझकर चित्रलेखा को अनेक क्षणों तक देखता रहा, फिर जैसे किसी आवेग में पड़कर उसने उस को हृदय से और चिपका लिया, बोला, "तुमने मुझसे यह क्या कहा चित्रलेखा?"

चित्रलेखा उसकी आँखों में जैसे अभी भी डूब रही थी; जैसे अभी भी विभोर हो रही थी। उसने मन्द स्वर में कहा, "तुमसे क्या न कहूँ बीजगुप्त?"

सायंकाल में, नहीं, रात्रि आगमन पर बीजगुप्त ने चित्रलेखा को बिदा करके अपनी वीणा उठाई। वह वहाँ से चलने को उद्यत हुआ। श्वेतांक उस समय उसके पास ही खड़ा था। उसने कहा, "और दिन तो स्वामी को रंगशाला में इस वीणा की आवश्यकता नहीं होती थी।"

बीजगुप्त ठहर गया। उसने इधर-उधर देखते हुए श्वेतांक के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "आज मैं रंगशाला नहीं जा रहा हूँ श्वेतांक! हिरण्यवाहेश्वर पर निस्तब्ध रात्रियों को संगीतमय करने वाली मोहिनी के आकर्षण में पड़कर वहीं जा रहा हूँ। नगर में उसके विषय में जो चर्चा है वह तुम्हें ज्ञात है, सम्राट् तक वह कुतूहल जा पहुँचा है।"

"किन्तु सुना है वह खँडहर तो उससे भी कहीं अधिक रहस्यमय है। महाशिवरात्रि के अतिरिक्त रात्रि में भगवान् हिरण्यवाहेश्वर के मन्दिर पर भी कोई नहीं रहता; अर्द्धरात्रि में वहाँ जाने वाले पर वह भी दया नहीं करते।"

सुनकर बीजगुप्त हँस दिया।

श्वेतांक ने कहा, "मैं भी चलूँ देव!"

"नहीं।"

बीजगुप्त चला गया, श्वेतांक कुछ शंकित-सा उसे जाते हुए देखता रहा।

सारी रात उसे नींद नहीं आई, गवाक्ष में आकर बार-बार वह ताराओं की गति देखता था। घटी-यंत्र के समीप जाकर खड़ा होता था। परन्तु जब प्रभात में बीजगुप्त लौटा उसकी आँख लग गई थी। दिन चढ़ आया था। बीजगुप्त ने उसके सिरहाने खड़े होकर पुकारा, "श्वेतांक!"

श्वेतांक जैसे चौंककर जाग पड़ा। उसने देखा—बीजगुप्त की आँखें लाल थीं; श्वेतांक की आँखों में भी रात्रि-जागरण के चिह्न उपस्थित थे।

बीजगुप्त ने कहा, "क्या तुम सारी रात जागे हो?"

तभी उसे सहसा पीछे से सुनाई पड़ा, "और क्या तुम्हें भी सारी रात जागरण करना पड़ा है?"

बीजगुप्त ने मुड़कर देखा—चित्रलेखा खड़ी थी। वह उसके समीप आई, बीजगुप्त ने कहा, "हाँ! और अब मैं सोना चाहता हूँ।"

चित्रलेखा हँस दी, जैसे फूल खिल उठे। उसने मादक स्वर में कहा, "और मैं तुम्हें सुलाना चाहती हूँ।"

बीजगुप्त यह सुनकर उसे अपनी चढ़ी हुई-सी आँखों से देखने लगा, फिर वहाँ से चलते हुए एक दीर्घ श्वास खींचकर उसने कहा, "ईश्वर करे तुम ऐसा कर सको।"

चित्रलेखा उसके पीछे चली। चलते हुए उसने पूछा, "रंगशाला में कल तुम फिर नहीं आये।"

बीजगुप्त ने उसकी ओर देखा, रुककर कोई उत्तर नहीं दिया, चलते हुए भी कुछ नहीं कहा। चित्रलेखा भी उसके पीछे-पीछे चली। आगे की दीर्घिका में पहुँचकर उसने बीजगुप्त का हाथ पकड़कर कहा, "क्या मुझसे कोई त्रुटि हुई देव! या चित्रलेखा की आज्ञा, आग्रह अथवा निवेदन केवल बात ही रह गई। अथवा प्रणय का कोई अन्य मोह तुम्हें मुझसे दूर ले जा रहा है?"

बीजगुप्त ने चित्रलेखा की बात सुनकर जैसे सहसा गम्भीर भाव धारण कर लिया। उसने चित्रलेखा को उसी भाव से देखा। किन्तु चित्रलेखा उस दृष्टि का मर्म न समझ सकी। बीजगुप्त ने उसका हाथ पकड़ लिया, कुछ दबा दिया, फिर जैसे उसे साथ खींचले चला। वह अपने शयन-गृह में पहुँचा, एक पर्यङ्क पर जाकर वह बैठ गया। चित्रलेखा का हाथ उसने छोड़ दिया। वह धरती पर बैठ गई। उसे देखने लगी। बीजगुप्त भी उसी को देख रहा

था। उसने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये, और जैसे झुककर उसकी आँखों में झाँकने लगा। वह धीरे-से बोला, "तुम नहीं जानती चित्रे! ऐसी बातें सुनकर हृदय में कितना मोह उत्पन्न होता है।"

चित्रलेखा ने कुछ नहीं कहा, जैसे उसके मुख से कुछ निकल नहीं सका। उसका हृदय आवेगयुक्त हो उठा। बीजगुप्त ने उसे खींचकर हृदय से लगा लिया। अपनी आँखों का बोझ जैसे उसने चित्रलेखा के नेत्रों में भी भर दिया। उसने कहा, "चित्रलेखा!"

चित्रलेखा ने उच्छ्वासयुक्त स्वर में कहा, "बीजगुप्त!"

बीजगुप्त ने कहा, "तुम कहती हो मुझे तुमसे कोई दूर ले जा रहा है। देखती हो मैं तुम्हारे कितना निकट हूँ, कितना पास?"

चित्रलेखा बीजगुप्त के उर से लगी थी, गात में मदिर कम्पन उठते थे, नेत्रों में जैसे आकुल स्फुल्लिंग नृत्य कर रहे थे। और हृदय का भारीपन हृदय से जैसे कुछ लेकर बाहर चला आ रहा था। उसने स्वयं को शिथिल कर दिया था, और उसे लगता था जैसे वह सदैव को ही ठग-सी गई है। किसी नवल प्रणयिनी की भाँति बीजगुप्त की भुजाओं में बँधी-सी वह जैसे स्तम्भित हो रही थी। उसे अनुभव हुआ—ऐसा उन्माद उसके हृदय में कभी नहीं मचला, प्रणय के प्रथम आस्वादन में भी नहीं। उसने मन्द स्वर में कहा, "मैं तुम्हारे इतनी ही निकट रहना चाहती हूँ बीजगुप्त! इतनी ही पास। तुम्हारी निश्वासों में डूब जाऊँ, आँखों में सन्तरण करती रहूँ।"

बीजगुप्त ने उसी तरह कहा, "मेरे लिए भी तो वही रह गया है चित्रे! यह पिपासाकुल आँखें, शिथिल काया, और इसकी मादक हलचल; प्रणय की किसी क्रीड़ा के लिये यह सब क्या कम?"

कहते-कहते चित्रलेखा को उसने एक ओर से विमुक्त कर दिया और उस हाथ से पर्यंङ्क के सिरहाने चौकी पर रक्खे हुए सुरापात्र को उसने उठा लिया, उसमें से कादम्ब ढालकर चषक को उसने पूर्ण किया। और उसे उठाकर चित्रलेखा के अधरों से लगा दिया। वह उसे पी गई। फिर चित्रलेखा ने भी वही क्रिया की; उसी चषक में सुरा उँडेलकर उसने उसे बीजगुप्त के मुख से लगा दिया। बीजगुप्त ने उसे पीकर कहा, "यौवन के उन्माद और

कादम्ब की मादकता में हृदय का मोह तिरोहित हो उठे चित्रे ! स्मरण के लिए उनकी धड़कनों के बीच केवल रह जायँ—चंचल रूप-रेखाओं का खेल, मुस्कानों और अँगड़ाइयों की विवश-सी करवटें......"

चित्रलेखा के मुख से निकला, "और हमारा प्यार !"

"नहीं !" बीजगुप्त ने चित्रलेखा के अधरों पर अपने अधर रख दिये; न जाने अधरामृत का पान किया या उसे आगे कुछ कहने से रोका। और आगे कहा, "कामतृष्णा के आवेश में उफनती हुई वासना, भड़कने वाली पिपासा !'

और उसने चित्रलेखा को और गाढ़-आलिंगन में आबद्ध कर लिया। चित्रलेखा ने जैसे भिंचे हुए स्वर में कहा, "यह क्या कहते हो बीजगुप्त ?"

बीजगुप्त ने इतने समीप से कि उसकी निश्वास चित्रलेखा के मुँह पर फैलती थी, पलकों से पलक जैसे सटे जाते थे, कहा, "जीवन कानन में खिले सुमनों का संचयन कुछ ऐसा ही है चित्रे ! सोचो तो अन्तर के जिस कामना-सिन्धु में इस क्षण ज्वार उठ रहा है, प्यार की कैसी भूमिका है !"

तभी उसे प्रकोष्ठ के द्वार पर जैसे कोई छाया-सी दिखाई पड़ी। उसने देखा—श्वेतांक कुछ असमंजस में पड़ा-सा वहाँ से लौट जाना चाहता था। बीजगुप्त ने चित्रलेखा का बन्धन कुछ ढीला करके उससे कहा, "हाँ ! तुम यहाँ से जाओ श्वेतांक ! कपाट बन्द कर दो।"

श्वेतांक ने आज्ञा पालन की।

अपराह्न काल में यशोधरा ने श्वेतांक से आकर पूछा, "तुम्हारे स्वामी कहाँ हैं ?

श्वेतांक ने उसे आसन देकर कहा, "शयन-गृह में !"

यशोधरा उठकर उधर ही चलने लगी तो श्वेतांक ने कहा, "किन्तु वह वहाँ अकेले नहीं हैं देवि !"

यशोधरा ने श्वेतांक को प्रश्न भरी दृष्टि से देखा; श्वेतांक ने यह देखकर कहा, ' चित्रलेखा भी वहीं है देवि यशोधरा ! इस समय तुम्हारा उनसे मिलना किसी प्रकार भी उचित नहीं रहेगा !"

सुनकर यशोधरा ने एक दीर्घ श्वास खींची। श्वेतांक से उसकी दृष्टि मिली और जैसे अपने किसी भाव को दबाने के लिये ही उसने श्वेतांक से

कहा, "आर्य ! पूछने आई थी कि पिताजी कब तक लौटेंगे ? सम्भव है आर्य बीजगुप्त को ज्ञात हो ।"

वह चली गई । उसके जाने के कुछ पश्चात् चित्रलेखा और बीजगुप्त, दोनों शयनागार से बाहर निकले । श्वेतांक को लगा बीजगुप्त के नेत्रों की अरुणिमा कम होने के स्थान पर जैसे और बढ़ गई हो । वहाँ लाल डोरों का अभाव नहीं था । और चित्रलेखा की आँखों में न जाने यौवन का मद झमक रहा था या न जाने मदिरा और मदन ने उन्हें अपरूप बना दिया था। श्वेतांक सिर झुकाकर उनके सामने से हटा, तभी बीजगुप्त ने उसे आज्ञा दी, "श्वेतांक । चित्रलेखा को उसके भवन तक पहुँचा दो ।"

दूसरे दिन माध्याह्न में चित्रलेखा पुनः बीजगुप्त के भवन पर पहुँची । श्वेतांक ने उसका स्वागत किया । चित्रलेखा ने पूछा, "आर्य बीजगुप्त कहाँ है श्वेतांक !"

उस नर्तकी के मुख से निकला हुआ यह स्वर श्वेतांक को कुछ अच्छा नहीं लगा, जिस प्रकार से स्वामी उसे पुकारते हैं, उसी तरह से चित्रलेखा भी उसे सम्बोधित करे, यह उसे रुचा नहीं ! किन्तु उसके स्वामी तथा चित्रलेखा का सामीप्य ! उसने अपने हृदय में उठी तिक्त भावना को दबा दिया और कहा, "शयन-गृह में !"

चित्रलेखा जैसे चौंकी । वह सीधी बीजगुप्त के शयनागार में पहुँची । तब बीजगुप्त सो रहा था । वह उसके सिरहाने बैठकर उसके घुँघराले-से लम्बे-लम्बे केशों में अंगुलियाँ चलाने लगी । थोड़ी देर में बीजगुप्त ने करवट बदली, आँखें स्वतः ही खुलीं । चित्रलेखा जैसे उन्हीं में झाँक रही थी । बीजगुप्त के मुख से निकला, "तुम !"

चित्रलेखा ने कहा, "क्या आजकल रात-रात भर जागना पड़ता है ?"

बीजगुप्त ने इसका उत्तर न देकर चित्रलेखा के मुख पर दृष्टि जमाकर कहा, "तुम्हारा भी तो मुँह उतर रहा है चित्रलेखा ! आँखों में जैसे नींद का ज्वार भर रही हो ! क्या रात्रिजागरण से तुम्हें भी मोह हो गया है ?"

सुनकर चित्रलेखा कुछ सहमी, फिर जैसे उसने उदास मुद्रा धारण करली,

बाद में हँसती हुई-सी वह बोली, "मेरे व्यवसाय को देखते हुए क्या तुम्हें यह पूछना उचित है बीजगुप्त ?"

बीजगुप्त के हृदय पर अनजान में ही जैसे एक आघात लगा। वह कुछ उठकर अधलेटा-सा हो गया। क्या सचमुच ही इस नवल नर्तकी के कोमल अंग विभिन्न पुरुषों की अंकछाया में विश्रान्ति पाने लगे हैं ? और यह सरल-सी युवती, निष्पाप सी रूपराशि कंचन समेटने के इस मार्ग पर भी आगई है ? चित्रलेखा को वह टकटकी लगाकर देखने लगा। उसने कहा, "चित्रलेखा ! तुम तो एक श्रेष्ठ नर्तकी हो !"

उस कथन का मर्म चित्रलेखा ने समझा। बीजगुप्त के हृदय से उठा हुआ यह उद्रेक उसके लिये कुछ सुखद हुआ। उसने बीजगुप्त के हृदय में सहसा उठी तिलमिलाहट को समझा और कहा, "तो उससे क्या हुआ ?"

बीजगुप्त ने दृष्टि दूसरी ओर फेर ली, जैसे उदास हो उठा। एक गंभीर निश्वास उसने त्याग दिया। और जैसे किसी पीड़ा का अनुभव करता हुआ-सा वह लेट गया। फिर जैसे स्वयं से ही बोला हो, "हे ईश्वर ! मनुष्य अपने मन की तृष्णा-तुष्टि के लिए कैसी-कैसी बातें करता है !"

यह बात चित्रलेखा के कानों में भी पड़ी। उसे सुनकर उसने क्या अनुभव किया, वही जाने। किन्तु उसने कहा कुछ नहीं। कुछ क्षणों तक वातावरण में शान्ति रही फिर चित्रलेखा ने अपना हाथ बीजगुप्त के मस्तक पर रखते हुए कहा, "रंगशाला में आना क्या छोड़ ही दिया बीजगुप्त ! तुम कल फिर नहीं आये !"

चित्रलेखा के प्रश्न पर बीजगुप्त की आँखें उस पर लग गईं। उसने धीमे स्वर में कहा, "चित्रलेखा ! अभिनय क्या केवल रंगशाला में ही होता है ? उसके लिए जीवन में और भी तो अनेक स्थान हैं।"

चित्रलेखा ने यह सुना; जैसे स्तब्ध रह गई। बीजगुप्त का यह उदासीन-सा उत्तर उसके हृदय को कचोट उठा। उसने शुष्क-सी वाणी में कहा, 'क्या 'तुम ऐसी कठोर वाणी भी बोल सकते हो बीजगुप्त ?"

बीजगुप्त हँस दिया। उसने कर उठाकर चित्रलेखा के कण्ठ में डाल दिये। उसके भार से चित्रलेखा जैसे उसके ऊपर झुक गई। बीजगुप्त ने कहा,

"किसी को दुखी करके मुझे पश्चाताप होता है, इस कारण मैं चेष्टा करता हूँ कभी कठोर वाणी न बोलूँ ! किन्तु स्वयं से तो कुछ न कुछ कहने-सुनने को मन किया ही करता है ! मैं तो वह जैसे अपने से ही कहता था चित्रलेखा !"

चित्रलेखा कुछ न कह सकी । बीजगुप्त उसे मुक्त करके उठ बैठा। खड़े होकर उसने कहा, "चित्रे ! जीवन के इस खेल में पर कभी-कभी मुख से जसा निकल जाता है, हम वैसा कर भी तो सकें । देखती नहीं हो मैं तुम्हारे मोह में कैसा फँस गया हूँ !'

और वह हँस दिया ।

चित्रलेखा भी मुस्करा उठी । बीजगुप्त भी उस मुस्कराहट का अभिनन्दन करता-सा उस प्रकोष्ठ से बाहर चला । चलते हुए उसने कहा, "मैं अभी आया तुम बैठो !" फिर सहसा मुड़कर कहा, "या जाओगी ?"

चित्रलेखा ने मदिर दृष्टि से उसे देखते हुए कहा,"नहीं ! रात्रि जागरण का शैथिल्य बहुत है, यहीं विश्राम करूँगी !"

सन्ध्या समय दोनों एक रथ में बैठकर बाहर निकले । बीजगुप्त का सरथित्व पाकर रथारोहिणी का हृदय उमंग उठा । राजमार्ग पर आकर उसने गौरव से चारों ओर देखा ।

लोग बीजगुप्त को विस्मय और आनन्द से, चित्रलेखा को तृषाकुल पिपासा और प्रशंशा से देखते थे ।

एक चतुष्पथ पर पहुँच कर वह रथ गंगा और शौण के संगम की ओर चला । लोग उन युगल मूर्तियों को देखकर कह उठे, "देखो तो सामन्त बीजगुप्त चित्रलेखा के सारथी बन कर जा रहे हैं ।"

और भी शब्द हुए, "सामन्त बीजगुप्त ! और चित्रलेखा !" सुन्दरी और उसका पुजारी !" "नृत्य और संगीत !"

सुनकर बहुत-से लोग उधर ही देख उठे । दूसरी ओर से आती हुई एक प्रवाहण के परदे को उठाकर उसकी आरोहिणी ने भी चित्रलेखा और बीजगुप्त के रथ को देखा।वह यशोधरा थी। उसने तत्काल ही आगे का परदा उठाकर सारथी को आज्ञा दी, "सामन्त बीजगुप्त के रथ के पीछे चलो !"

आज्ञा पालन हुई । यशोधरा की प्रवाहण उधर ही चली ।

आगे का रथ संगम-तट पर जाकर रुका। बीजगुप्त ने हाथ पकड़कर चित्रलेखा को नीचे उतारा। और दोनों घाट से लगी एक सुसज्जित नौका पर जा बैठे, मांझी उसे खे ले चला।

यशोधरा संगम के एक स्फटिक घाट पर जा बैठी। ऊपर से उतर कर पृथ्वी पर फैली हुई सन्ध्या की तरह उसकी दशा हो रही थी। आँखों की तीव्र दृष्टि जैसे एक गहन शान्ति लेकर दूर तक फैल रही थी; हृदय में कोई उद्विग्नता, कोई उथल-पुथल थी भी या नहीं, कुछ भी ज्ञात न होता था। संगम-वक्ष पर बीजगुप्त और चित्रलेखा को लेकर दूर बढ़ जाने वाली तरी की तरह उसकी दृष्टि भी बढ़ती थी, उसी के साथ चलती थी। अंत में उसने उधर से ध्यान फेर लिया, या न जाने अन्धकार की गोद में छिप गये वह उसकी दृष्टि से स्वयं ही परे हो गये। उसने एक दीर्घ श्वास खींची और ऊपर गगन में फैल रही ताराओं को देखने लगी। कब तक वह इसी प्रकार बैठी रही, उसे नहीं ज्ञात। धीरे-धीरे सामने की लहरियाँ झिलमिल करने लगीं। हलकी-सी चन्द्रिका चारों ओर फैल गई। किन्तु यशोधरा तो जैसे शून्य में देखती थी। उसे जल की झिलमिल से कोई प्रयोजन नहीं। अपने उर की गति के फेर की भी जैसे कोई चिन्ता नहीं। अन्त में अपनी इस दशा का अन्त करके वह उठी ही। विस्तृत जलराशि पर उसने आँखें फैलाईं। कहीं कोई नौका नहीं दीखती थी। चौंककर उसने तट पर देखा। वहाँ भी केवल उसकी प्रवाहण खड़ी थी। उसने शीघ्रता से उसमें बैठकर सारथी को आदेश दिया, "सामन्त बीजगुप्त के भवन पर चलो।"

प्रवाहण वहीं पहुँची। यशोधरा शीघ्रता से भीतर भवन में गई। उसका स्वागत करने के लिए श्वेतांक वहाँ उपस्थित था। श्वेतांक से पूछा, "क्या आर्य बीजगुप्त नहीं लौटे?"

"लौटे थे, परन्तु फिर चले गये!"

"क्या चित्रलेखा के यहाँ?"

"नहीं देवि! वह हिरण्यवाहेश्वर गये हैं।"

"इस समय!"

"हाँ देवि! जिसके गायन ने चारों ओर एक कुतूहल विस्मय और भय

की सृष्टि कर दी है, तुम्हें तो ज्ञात है वह रात्रिचारिणी है।"

सुनकर यशोधरा सन्न रह गई। कितना भयानक प्रदेश है वह ! वहाँ से चलकर बाहर प्रांगण में आई। ऊपर आकाश में खिल रहे कुसुम जाल को देखा, उनके बीच मुस्कराते हुए दिव्य पुरुष को देखा और प्रवाहण में बैठ गई।

× × ×

हिरण्यवाहेश्वर महादेव का मन्दिर विशाल नहीं था। विशेष शिल्य वैचित्र्य की सजावट भी उसमें नहीं थी। तीन ओर दीर्घिकायें, एक ओर से भीतर पहुँचने को मार्ग बीच में मण्डप, कोठरी की तरह गर्भगृह—लिंगरूप में प्रतिष्ठित महादेव की मूर्त्ति आठों प्रहर जलने वाले दीप की किरणों में वहाँ उद्भासित रहती थी। मन्दिर शिखर पर लहराती हुई ध्वजा उस द्रह पर चढ़ते समय दृष्टिगोचर होती थी।

बीजगुप्त ने विग्रह के सामने जाकर शीश झुकाया। फिर सीधा बैठा। आँखें स्वतः ही बन्द हो गई थीं, वह भी खुलीं। एक दीर्घश्वास खींचकर उसने कहा, "समय के चित्र कभी-कभी हृदय में अपार पीड़ा का संचार कर उठते हैं प्रभु ! सब कुछ जैसे किसी अज्ञात दिशा से प्रकट होता है, अनजान प्रदेश पर दूर चला जाने को आतुर-सा; जैसे कोई झकझोर कर किसी का स्वत्व हरण करता हो। किन्तु हृदय को आच्छन्न कर हँसने वाला कोई स्वर्णिम मोह क्या सदैव ही किसी का छलमात्र है।"

वह चुप हुआ। दृष्टि विग्रह पर ही लगी रही, जैसे एक मोहमयी पीड़ा उन आँखों में झलक उठी हो। उसके मुख से उच्छ्वास भरी वाणी फूटी, "चित्रलेखा !" आँखें बन्द करलीं।

फिर सहसा उठ खड़ा हुआ। नेत्रों में दृढ़ता आगई। अपनी काया में भी जैसे उसने किसी स्फूर्ति का अनुभव किया हो। किन्तु दूसरे ही क्षण वह पुनः बैठ गया। क्षण भर को प्राप्त हुई-सी दशा को उसने और दृढ़ करना चाहा, जैसे सब कुछ भुला देना चाहा। पार्श्व में रक्खी वीणा उसने कब सामने करली, उसे नहीं ज्ञात ! वीणा के तार सहसा झंकृत हो उठे। महादेव के सम्मुख निरन्तर जलने वाली शान्त ज्योति पर जैसे जादू हुआ।

वह लहरा उठी।

पुनः शब्द हुआ, "द्रिम"

फिर ध्वनि उत्पन्न हुई, "द्रिम !"

ज्योति लहरा उठी, एक बार, दो बार, तीन बार, अनेकबार !

कहीं दूर से जैसे किसी के हृदय से खिंचकर आती हुई कोई कंठ-ध्वनि उस वीणा के संगीत को और सहारा दे उठी। बीजगुप्त के कानों में जैसे सुधा-बिन्दु पड़ने लगे, वह उन्हीं को अँगुलिओं की चपलता के सहारे चारों ओर टपकाने लगा।

उसे लगा जैसे वह गायिका उसके अत्यन्त समीप आ रही हो। बीजगुप्त उठकर बाहर चंक्रम पर आ गया। चारों ओर देखा—कहीं कोई नहीं, केवल स्वर—हृदय को मूर्छित कर देने वाले मधुर प्रकंपन ! वह वहीं बैठ गया। वीणा के स्वर पुनः फैलने लगे। मन ने चारों ओर वायुमण्डल में फैलने वाले कंठ-स्वर पकड़ लिए।

गायन और संगीत की धूम का विस्तार हो उठा।

बीजगुप्त स्वयं में मग्न हो गया, आँखें स्वतः ही बन्द हो गईं। किधर से आकर वह स्वर उसके कानों में गूँजते थे, हृदय से टकराकर उसका संगीत मांगते थे, उसने जानने की चेष्टा नहीं की। वह तो जैसे उसको अभिमंत्रित कर अपने ही समीप बुला लेना चाहता था।

चन्द्रिका की धवल कान्ति में दूर तक चमकने वाला वह खँडहरों का ढूह जैसे ठंडी स्वासों का खेल खेल रहा हो। वीणा का संगीत पाकर वह उदास-सा वायुमण्डल जैसे मन की कुछ कहने लगा हो। कोई मनोहारी कंठ, वक्ष, उदर और मस्तिष्क में घुमड़ने वाली वायु के साथ खेल कर रहा था।

और उस रात्रिचारिणी को वीणा पर होने वाला कोई अँगुलियों का समारोह उसे बार-बार अपने समीप बुलाता था।

धीरे-धीरे खँडहरों पर बिचरने को निकली कोई अप्सरा मंदिर के पार्श्व भाग से सामने आकर जैसे बीजगुप्त के सामने ही जम गई। किन्तु बीजगुप्त के नेत्र बन्द थे। गायन चलता रहा। चन्द्रिका-से धवल उसके वस्त्र थे, विचित्र पहनाव-उढ़ाव, अङ्गों की कान्ति फूटती थी, किन्तु अलकों से जैसे

मुख ढँका था।

सहसा गायन रुका।

संगीतज्ञ को ज्ञात हुआ। उसने आँखें खोलीं। देखा—जैसे रूप-राशि की झलक उसके सामने से चली जा रही थी। उसके साथ-साथ कोई और भी जा रहा था, उसने पहचाना—कुमारगिरि! उसे विस्मय हुआ। वह वीणा रखकर खड़ा हो गया, उधर ही चलने लगा।

सामने एक उठे हुए दूह के पीछे वह दोनों अदृश्य हो गए। बीजगुप्त भागकर उस दूह पर चढ़ा, वह पुनः दिखाई पड़े। कुमारगिरि का हाथ अन-जान सुन्दरी ने पकड़ रक्खा था, वह उसे न जाने कहाँ ले जा रही थी।

बीजगुप्त उस स्थाणु से उतरकर उनके पीछे चला। छिपता हुआ-सा। एक स्थान पर वह दोनों खड़े हो गए थे। वह भी रुका। कुमारगिरि का कंठ-स्वर उसके कानों में पड़ा। उसने कहा, "तुम कौन हो देवि?"

वह कुछ नहीं बोली।

कुमारगिरि ने पुनः कहा, "बोलो न सुन्दरी! तुम कौन हो? देवलोक से आई हुई कोई कन्या हो, अप्सरा हो या विचित्र रूप धारण करके इस पृथ्वी पर विचरने वाली कोई दानवी हो, यक्षकन्या हो अथवा किन्नरी हो! अथवा मेरी ओर आकृष्ट होकर इस रूप में मुझे बुलाने वाली कोई मानुषी हो?"

बीजगुप्त ने अनुभव किया, कुमारगिरि को उसकी बात का जैसे कोई उत्तर मिला हो; उसे वह सुन नहीं सका। और वह कुमारगिरि को साथ ले चली। सामने के एक स्थाणु की ओट में वह अदृश्य हो गए। वह दौड़कर वहीं पहुँचा, किन्तु वहाँ कोई नहीं था। उसने इधर-उधर देखा। पीछे से एक खिलखिलाहट की मधुर ध्वनि सुनाई दी। बीजगुप्त का हृदय धड़क उठा। उसने उधर देखा—कुछ दूर पर चन्द्रिका में वही तो खड़ी थी, और वह भी अकेली। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह उधर ही बढ़ा। संकेत से वह भी उसी को बुलाती हुई आगे चली। बीजगुप्त ने दौड़कर उसे पकड़ लेना चाहा; वह आगे के खण्डहर में विलीन हो गई। बीजगुप्त ने उसे पुनः खोजा। कुछ दूर पर वह उसे फिर दिखाई दी। बीजगुप्त ने अब खड़े होकर कहा, "तुम कौन हो सुन्दरी?"

किन्तु उसे उत्तर नहीं मिला, उसने उसे पकड़ लेने की एक बार और चेष्टा की। इस बार वह खड़ी रही, बीजगुप्त के समीप आते ही उसने धीरे से कहा, "मुझसे दूर रहना, युवक!"

बीजगुप्त ठिठक गया, किन्तु वह दृढ़ स्वर में बोला, "नहीं, मैं जान लेना चाहता हूँ कि तुम कौन हो?"

और उसने उसे पकड़ लेने के लिए हाथ बढ़ाया। वह हट गई। उसने कहा, "तुम्हारा वीणावादन कितना अद्भुत है युवक! मैं तुम्हारे संगीत की महारात्रि को प्रतीक्षा करूँगी। देवार्चन करने आऊँगी!"

बीजगुप्त के कानों में वह फुसफुसाहट भरा स्वर पड़ा। वह अब वहाँ से चलदी थी। बीजगुप्त उसकी ओर झपटा। वह चिल्लाया, "ठहरो सुन्दरी!"

किन्तु वह एक पग भी आगे नहीं रख पाया, पीछे से उसका पैर सहसा किसी ने जकड़ लिया और उसे सुनाई पड़ा, "यह क्या करते हो तुम? कहाँ जाते हो? मैं तुम्हें उसके पास नहीं जाने दूँगी। वह कौन है, देवी है या दानवी, कोई नहीं जानता। उसके फेर में मत पड़ो।"

इस असम्भावित व्याघात से बीजगुप्त गिर पड़ा। तो भी उसने बाधा देने वाले को नहीं देखा, आगे उसकी दृष्टि गई। वह रमणी खँडहरों की छाया में विलीन हो रही थी। उसके बाद उसने पीछे देखा। उसके पैरों से एक स्त्री लिपटी थी। झुँझलाकर चिल्लाया, "तुम कौन हो? मुझे क्यों रोकती हो?"

उसे उसने अलग कर देना चाहा। किन्तु उसके बन्धन प्रबल थे। वह अलग नहीं होती थी। उसका सिर बीजगुप्त के चरणों के साथ जैसे बँध गया था, उसकी आकृति दिखाई नहीं देती थी। वह आतुर स्वर में बोली, "तुम मेरे सर्वस्व हो देव! मेरे स्वामी हो नाथ! मैं तुम्हें वहाँ नहीं जाने दूँगी।'

बीजगुप्त ने शिथिल होकर उसे देखा।

यशोधरा ने सिर उठाया, पहचाना, "यशोधरा!"

दोनों उठ खड़े हुए।

बीजगुप्त बोला, "तुम यहाँ क्यों आई यशोधरा?"

"तुम भी तो इस विपत्ति में चले आये देव!"

बीजगुप्त उत्तेजित हो रहा था, उत्तेजना और बढ़ गई। उसने कहा, "मुझसे तुम्हें क्या है ! तुम्हें मुझसे दूर रहना चाहिये।"

वह वहाँ से चल दिया।

यशोधरा हतचेत-सी उसे देखने लगी। फिर उसने आँखों में आँसू भर कर कहा, "जो सब कुछ कहकर मेरे हृदय की उद्विग्नता शाँत हो जाती है, जिसे विचार कर मैं जैसे किसी स्वप्नलोक में चली जाती हूँ, वह मेरे हृदय की बात है आर्य ! वह तुम हो देव ! कितना चाहा कि मैं न कहूँ, कितना चाहा कि इस मुख से कुछ न निकले। किन्तु अब नहीं रोक सकती, मेरे हृदय में तुम निवास करते हो, मैं तुमसे प्रेम करती हूँ।"

बीजगुप्त ने सुना। वह जैसे और उत्तेजित हो उठा। उसने तीव्र स्वर में कहा, "तुम मूर्ख हो यशोधरा ! यौवन के आवेश और मोह की उत्तेजना ने तुम्हें पागल कर दिया है। तुम नहीं जानतीं कि तुम क्या कह रही हो ? कोई किसी से प्रेम नहीं करता। तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं, मैं तुमसे प्रेम नहीं करता। मैं किसी से प्रेम नहीं करता !"

सामन्त मृत्युञ्जय सुवर्णगिरि की यात्रा करके लौट आये हैं।

यशोधरा अब विवाह के योग्य हो गई है—मृत्युञ्जय को ऐसा अनुभव, जब से वह तक्षशिला से लौटकर आई है तभी से हो रहा था। उसके लिये जैसी वह है वैसा ही योग्य वर भी होना चाहिए; वह उसकी खोज में थे। बीजगुप्त उनकी दृष्टि में था, किन्तु वह तो जैसे विवाह करना ही नहीं चाहता था, यही एक बाधा थी। वह उससे इस सम्बन्ध में चर्चा चलाकर न जाने किस प्रकार का उत्तर पावें, यही विचार उन्हें उसके सामने मुँह खोलने की आज्ञा नहीं देता था।

किन्तु विधि का विधान, यशोधरा और बीजगुप्त की भेंट कुछ विचित्र ढङ्ग से ही हुई। दस्युओं से उसकी प्राणरक्षा में बीजगुप्त हेतु हुआ। यशोधरा को जैसे उसके परिचय की आवश्यकता न रही।

मृत्युञ्जय चुप रहे। यशोधरा के लिये वर की खोज—हृदय की यह उद्विग्नता उन्हें जैसे कुछ घटती-सी ज्ञात हुई। यशोधरा का मन जैसे उनके लिये अगम्य नहीं रहा। कभी-कभी उन्हें आभास होता जैसे बीजगुप्त से उसका परिचय केवल परिचय नहीं है, बीजगुप्त से उसका स्नेह केवल सहृदयता ही नहीं है।

किन्तु फिर भी द्विविधा थी।

क्या वह बीजगुप्त के सामने यशोधरा के पाणिग्रहण का प्रश्न रख दें?

अपनी समग्र द्विविधा को एक ओर रखकर उन्होंने अन्त में कुछ निश्चय किया ही। अब यदि वह केवल इसी विचार से चुप रहें कि कहीं बीजगुप्त ने यह सम्बन्ध अस्वीकार कर दिया तो! तो भी ठीक नहीं रहेगा। यशोधरा के मन का कोमल परिवर्तन उनकी ही भूल ने संतप्त कर दिया तो! यदि बीजगुप्त आज अस्वीकार भी करता है तो वह अपनी एकमात्र संतान के लिये कुछ प्रिय करने की चेष्टा से तो कम से कम संतुष्ट होंगे ही।

पर क्या बीजगुप्त अस्वीकार कर देगा?

अब उनके मन को न जाने क्यों इस पर अविश्वास-सा हो चला था। उन्होंने यशोधरा की वर्षगाँठ के अवसर पर ही इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने का विचार किया।

उनके भवन में आज उसी की धूम थी।

यशोधरा के पाटलिपुत्र लौटने के पश्चात् पहली बार मृत्युञ्जय के गृह में ऐसा उत्सव हो रहा था। नगर के अनेक प्रतिष्ठित सामन्त, श्रेष्ठि, ब्राह्मण आदि वहाँ निमन्त्रित थे। चित्रलेखा और सुनयना को भी निमन्त्रण गया था। मृत्युञ्जय के भवन में आ-आकर उनके वाहन खड़े हो रहे थे।

परिचारक लोग अपने कार्य में व्यस्त थे।

यशोधरा को उसकी सखियाँ घेरे हुए थीं।

मृत्युञ्जय अभ्यागतों का अभिनन्दन करने में लगे थे। सब को वह भवन के मुख्य प्रकोष्ठ में लेजा-लेजाकर आसन देते थे।

वहाँ स्त्री-पुरुषों का बृहद् जमाव था। प्रकोष्ठ के मध्य में परदे लटकते थे। उसमें एक ओर स्त्रियों का कलरव होता था, यशोधरा सखियों सहित उनका सत्कार करती थी। दूसरी ओर पुरुष समुदाय का हास-परिहास चल रहा था।

मध्यान्ह काल था; वसन्त ऋतु का दिन! जैसे वसन्तोत्सव मनाया जा रहा हो।

मृत्युञ्जय द्वार पर से चित्रलेखा और सुनयना को लेकर प्रकोष्ठ में पहुँचे। यशोधरा ने उनका अभिनन्दन किया। मृत्युञ्जय ने आगे बढ़कर अपने सम्मानित अतिथियों की ओर देखा—लगभग सभी आमन्त्रित लोग वहाँ उपस्थित थे। किन्तु जिसके आगमन की उन्हें अत्याधिक प्रतीक्षा थी, वही अब तक नहीं आया था। सहसा यशोधरा का स्वर उन्हें सुनाई पड़ा, "आइये देव!"

मृत्युञ्जय ने चौंककर देखा—यशोधरा ने किसका सत्कार किया—योगी कुमारगिरि!

उन्होंने भी बढ़कर उसको प्रणाम किया। उसके साथ विशालदेव और मधुपाल भी थे। तीनों बढ़कर आगे आये। कुमारगिरि की दृष्टि सहसा चित्रलेखा पर पड़ी। वह भी उसी को देखती थी, हाथ जोड़कर खड़ी होगई।

कुमारगिरि ठिठक गया। पर आशीर्वाद देने के लिए उसका हाथ न उठ सका, मुख से भी कोई आशीष-वचन नहीं निकले। केवल आँखें मिली थीं। विस्मय से सब उन्हें देख उठे। चित्रलेखा ने कहा, "योगिराज !"

कुमारगिरि के मुख से निकला, "चित्रलेखा !"

चित्रलेखा ने कहा, "मुझे भी यहाँ आने का निमन्त्रण मिला है और आपको भी ! और राज्य सभा में आपके द्वारा प्राप्त हुआ अपमान मुझे स्मरण है। आशीर्वाद मुझे अब भी नहीं मिल रहा।"

योगी के मस्तक पर जैसे उसी क्षण स्वेद-बिन्दु झलक आये। उसने तत्काल ही दक्षिण हाथ उठाकर कहा,"प्रसन्न रहो सुन्दरी ! मैं द्विविधा में पड़ गया था कि तुमसे क्या कहूँ ! तुम कला की पुजारिन हो, तुमसे घृणा करना व्यर्थ है।"

वह आगे बढ़ गया। अन्य लोगों ने भी उसे प्रणाम किया। उन्हें आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। योगी के आसन ग्रहण करने के बाद मृत्युञ्जय ने चारों ओर देखते हुए कहा, "केवल आर्य बीजगुप्त का अभाव है।"

उधर सुनयना ने यशोधरा से पूछा, "क्या आर्य बीजगुप्त आगये ?"

"नहीं !" यशोधरा ने रूखे स्वर में उत्तर दिया, और वह जैसे कुछ व्यस्त भाव से एक ओर चली गई। चित्रलेखा और सुनयना ने उसकी ओर देखा, फिर परस्पर उनकी आँखें मिलीं।

मृत्युञ्जय भी अपने अतिथियों के बीच बैठे। उनकी व्यग्रता को पहचानकर कुछ लोगों ने कहा, "आर्य बीजगुप्त को अब तक आ जाना चाहिए था।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "हाँ।"

किसी ने कहा, "मनुष्य में दुर्बलतायें होती ही हैं आर्य मृत्युञ्जय।"

दूसरे ने अपने समीप ही बैठे हुए योगी कुमारगिरि, विशालदेव तथा मधुपाल की ओर देखकर कहा, "और वह स्वाभाविक है।"

सुनकर योगी ने उसकी ओर देखा। किन्तु उसने उस बात का उत्तर नहीं दिया। वह जैसे अपने हृदय को कुरेदने लगा। विशालदेव ने उसकी ओर देखा, कुछ समझा और सहसा उसके मुख से निकला, "नहीं ! मनुष्य अपने को जिस प्रकार से भी परिचालित करता है, वह उसी तरह से चलता भी है।

दुर्बलताओं के जाल में वह अपने आप फँसता है फिर उन्हें स्वभावजन्य बता कर स्वयं से छल भी करता है।"

योगी ने विशालदेव की ओर देखा। अन्य लोगों ने भी उसे देखा। किसी ने उसके कथन पर शंका की। उससे पूछा, "किन्तु ब्रह्मचारिन्! मनुष्य फिर जान बूझकर भी यह जानते हुए कि वह किसी चक्र में फँस रहा है, क्यों उसी की ओर घिसटता है? क्या अपने स्वभाव के वशीभूत होकर नहीं?"

योगी के मन में जैसे धूम्र उठने लगा। उसने विशालदेव को देखा। विशालदेव उसकी दुर्बलता से परिचित था, पर उसने कुमारगिरि के नेत्रों से अपनी आँखें नहीं मिलाईं। उसने उत्तर दिया, "नहीं! उसे यह ज्ञान होता है कि मैं किसी ओर बढ़कर अपनी दुर्बलता का परिचय दूँगा। फिर क्यों बढ़ता है? यह उसका स्वाभाविक दौर्बल्य नहीं! अपने ही ज्ञान से उत्पन्न उसकी अपनी ही क्षुद्रता है। उसके अपने ही विचार की कमी है।"

और उसने कुमारगिरि की ओर देखा, जैसे उससे ही कुछ कहा।

उसी समय चित्रलेखा सुनयना सहित स्त्रियों के समुदाय से उठकर उधर आ बैठी। मृत्युञ्जय ने विस्मय से उसकी ओर देखा। चित्रलेखा ने हँसते हुए, ज्योंही उनसे आँखें मिलीं, कहा "देव! भद्र नारियों को सम्भवतः हमें अपने मध्य कुछ स्थान देने में आपत्ति है। और पुरुषवर्ग से हमारा दिन-रात का खिलवाड़ चलता है, इस कारण हम इधर आ गई हैं।"

मृत्युञ्जय हतप्रभ हो उठे। उन पर जैसे कोई प्रहार हुआ हो। उन्होंने प्रकोष्ठ में सामने ही बैठी हुई स्त्रियों की ओर देखा। चित्रलेखा के पीछे ही पीछे यशोधरा आई थी। उससे उनके नेत्र मिले।

चित्रलेखा ने यह देखा, कहा, "आप खिन्न न कीजिए आर्य! मैं यहाँ से चली जाकर आपका अपमान नहीं करूँगी। मुझे यहाँ बैठने में कोई आपत्ति नहीं है।"

मृत्युञ्जय चुप रह गए। किन्तु चित्रलेखा की इस बात ने चारों ओर फैलकर एक क्षुब्ध वातावरण की सृष्टि की। जैसे भद्र समुदाय का उसने अपमान किया हो। सब एक दूसरे की ओर देख उठे। प्रतिक्रिया से जैसे वह स्थान भर गया।

चित्रलेखा ने यह समझा और उसने विशालदेव की ओर देखकर पूछा, "आर्य विशालदेव ! तो तुम्हारे विचार में मनुष्य की दुर्बलतायें स्वभावजन्य नहीं होतीं, वह अपने आप स्वयं में उनकी सृष्टि करता है।"

चित्रलेखा के इस प्रश्न ने वातावरण में फैली क्षुब्धता को दूर कर दूसरा रूप दे दिया। लोगों ने उसकी ओर अब अन्य भाव से देखा।

कुमारगिरि चित्रलेखा को टकटकी लगाकर देखता था; न जाने उसके रूप के कारण या न जाने उसकी बात को सुनकर।

विशालदेव ने कहा, "हाँ।"

"तो फिर मैं पूछती हूँ ब्रह्मचारी, स्वभाव क्या है?"

चित्रलेखा के प्रश्न से लोगों का विस्मय बढ़ा।

विशालदेव ने उत्तर दिया, "मनुष्य की प्रवृत्ति जिसका सहारा प्राप्त कर फलती फूलती है, उसी प्रकृति के दूसरे नाम को स्वभाव कहना उचित होगा। इस पंचभूत शरीर को चेतना प्रदान करने वाली आत्मा जन्म जन्मान्तर से उसे साथ लिए चलती है।"

"ठीक है।" चित्रलेखा मुस्कराई। उसने आगे पूछा, "पर क्या मनुष्य स्वभाव से ही स्वयं को चतुर नहीं समझता, बुद्धिमान नहीं समझता?"

"ऐसा भी है" विशालदेव ने जैसे कोई तिक्त पदार्थ कंठ से नीचे उतारा।

"और ब्रह्मचारिन्! उसी स्वभावजन्य चतुरता और बुद्धिमता के वशीभूत होकर वह जो कुछ करता है, उसे क्या स्वाभाविक प्रेरणा से विलग कुछ और समझा जायगा?

"नहीं!" यह बात योगी कुमारगिरि के मुख से निकली।

चित्रलेखा उसकी आँखों में झाँककर जैसे मुस्कराई, उसके आगे बढ़ने के लिए योगी ने मार्ग प्रशस्त किया इस कारण। वह बोली, "तो फिर विशालदेव! क्या मुझे यह समझना पड़ेगा कि मनुष्य का वह भाव जो किसी द्विविधा से उद्भासित रहता है, वह स्वभावजन्य नहीं होता? और उसके उपरान्त वह जो कुछ करता है, स्वभाव से विपरीत करता है? मैं तो कहूँगी मनुष्य में दुर्बलतायें स्वाभाविक हैं।"

कुमारगिरि के मुख से निकला, "तुम ठीक कहती हो।"

मधुपाल, जिसको चुप रहना अखर रहा था, भी बोला, "तुम ठीक कहती हो।"

विशालदेव जैसे निस्तेज हो उठा। उसने कहा, "देवि चित्रलेखा! इस पर मैं विवाद नहीं करता, यह विवाद करने का स्थल भी नहीं है। मैं तो यही कहूँगा कि मनुष्य को अपनी दुर्बलताओं को स्वभावजन्य समझ कर स्वयं को और भी निर्बल नहीं बना लेना चाहिए। नहीं तो दुष्कर्मों की ओर प्रेरित हुई बुद्धि को रोका नहीं जा सकता, साथ ही उसके प्रोत्साहन का मार्ग प्रशस्त होता है।"

चित्रलेखा हँस गई।

वहाँ बैठे हुए सभी लोगों की दृष्टि चित्रलेखा पर टिक गई। मन ही मन जैसे कुछ चित्रलेखा का, कुछ विशालदेव का समर्थन कर उठे।

चित्रलेखा कुछ कहना चाहती थी कि उसे सुनाई पड़ा, "विशालदेव! तुम्हारी बात सर्वथा उचित है, चित्रलेखा को उस पर विवाद नहीं करना चाहिए।"

सबने देखा—बीजगुप्त वहाँ आकर खड़ा हो गया था। उसके पीछे श्वेतांक था।

चित्रलेखा ने बीजगुप्त को देखा। फिर हँसकर कहा, "आज्ञा शिरोधार्य है।"

कुमारगिरि ने भी बीजगुप्त को देखा, चित्रलेखा की मधुर हँसी को भी उसने लक्ष्य किया। चित्रलेखा के तर्क से वह प्रभावित था, उसे वह अच्छे लगे थे। किन्तु बीजगुप्त पर पड़ी उसकी मुस्कराती हुई दृष्टि? मधुर वाणी। उससे वह अपने मन का मेल न मिला सका।

बीजगुप्त ने मृत्युञ्जय से कहा, "आर्य मृत्युञ्जय! कुछ विलम्ब से उपस्थित हुआ हूँ, इसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।"

मृत्युञ्जय ने खड़े होकर उसे आसन दिया। फिर वह अपने सभी अभ्यागतों को देखकर भोज देने की प्रस्तावना करने में लगे। वह वहाँ से चले गए। किन्तु जब वह वहाँ लौटे तो देखा बात दूसरी ही चल रही थी। लोग चित्रलेखा से नृत्य करने का आग्रह कर रहे थे।

चित्रलेखा हँसते हुए जैसे उनके आग्रह का अभिनन्दन कर रही थी और उसकी रक्षा करने के लिए कह रही थी, "चूँकि आर्य बीजगुप्त की हम सबको बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी है, इस कारण वही हमारा मनोरंजन करके कुछ प्रशंसा लाभ करें तो अधिक उपयुक्त होगा !"

बीजगुप्त ने उसकी ओर देखा, और कहा "स्वीकार है।"

उसके सामने वीणा प्रस्तुत की गई। उसने चित्रलेखा की ओर देखकर उसे एक ओर रखते हुए कहा, "चूँकि चित्रलेखा की इच्छा नृत्य करने की नहीं है, वीणा मैं नहीं बजाऊँगा। मैं केवल गाऊँगा !"

चित्रलेखा ने कहा, "मैं वीणा बजाऊँगी।"

मृदंगवादन का काम सुनयना ने लिया।

बीजगुप्त ने गम्भीर होकर चारों ओर देखा, परदों के बीच में उसकी आँखें क्षण मात्र को स्थिर हुईं, वहाँ यशोधरा खड़ी थी। उससे उसकी दृष्टि मिली। फिर वह गाने लगा।

गीत का आशय था—

मेरा निवास स्थान कहीं दूर नहीं है, मैं यहीं कहीं का रहने वाला हूँ; सभी मेरे स्नेही हैं, किन्तु मुझे कोई नहीं पहचानता।

असंख्य ताराओं में से मैं भी एक हूँ, उन्हीं की तरह मुस्कराता हूँ, उन्हीं की भाँति टिमटिमाता हूँ; न जाने कहाँ से आकर भूल गया हूँ, न जाने कहाँ टूटकर गिर जाऊँगा। सभी मेरी चमक देखते हैं, किन्तु मुझे कोई नहीं पहचानता।

मेरे मन में भी उमंगें हैं, मेरा भी अपना कोई संसार है, उसमें न किसी की वेदना है, न किसी का उल्लास, वहाँ मैं ही हर्षित हूँ, मैं ही बावला हूँ, मेरी ही पीड़ा है, लोग इसे अपनी समझ लेते हैं, किन्तु मुझे कोई नहीं पहचानता।'

गीत समाप्त हुआ। लोगों ने बीजगुप्त की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

उसके बाद सब भोज में सम्मिलित होने को सन्नद्ध हुए।

कुछ काल में वह भी समाप्त हुआ।

मृत्युञ्जय ने आमन्त्रित लोगों को विदा किया। सब लोग जाने लगे।

बीजगुप्त ने भी उससे कहा, "यशोधरा कहाँ है आर्य ? उसके लिए कुछ उपहार, कुछ कामनायें लेकर मैं भी आया हूँ।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "आर्य बीजगुप्त ! थोड़ा ठहरो। मुझे तुमसे कुछ कार्य है!"

बीजगुप्त ने स्वीकार किया।

देखते-देखते जैसे भवन खाली होगया। अधिकाँश स्त्रियाँ भी चली जा रही थीं। यशोधरा अपनी सखियों सहित उनकी विदाई में लगी थी। चित्रलेखा भी उसके सामने आई। इच्छा न होते हुए भी उसने शिष्टाचारवश उससे कहा, "देवि ! तुम्हारा जो अपमान हुआ, उसके लिये मैं क्षमा माँगती हूँ।"

चित्रलेखा मुस्करा उठी, और कहा, "यशोधरा ! यह तुम्हारा शिष्टाचार है। भला एक मार्ग पर हम दोनों मुस्कराती हुई चल सकें ऐसा समय भी तो नहीं!" फिर सहसा गम्भीर होगई, आगे बोली, "और यही बात उस स्त्री-समुदाय के साथ भी है। मेरा संसार और है, उनका और।"

और वह चलने को उन्मुख हुई।

तभी श्वेतांक ने दौड़ते हुए आकर उससे कहा, "देवि चित्रलेखा ! वाह ! जिसके कारण स्वामी को यहाँ आने में इतना विलम्ब हुआ, वही तुम चली जा रही हो। स्वामी से मिली भी नहीं। चलो वह तुम्हें बुलाते हैं।"

चित्रलेखा रुक गई। वह श्वेतांक के साथ हो ली।

श्वेतांक की बात सुनकर यशोधरा के हृदय में जैसे कुछ छिद गया। वह उसके साथ जाती हुई चित्रलेखा को देख उठी। अनेक क्षणों तक जैसे वह अपने अतिथियों का विदा करना भूल गई। वहीं रुक गई सुनयना उसे देखने लगी—जैसे वह उसकी मनोदशा का अनुमान लगाती थी।

यशोधरा वहाँ अधिक न रुकी। वह उद्विग्न हो रही थी, शीघ्र ही भीतर चली। बीजगुप्त जिस कक्ष में बैठा था, उसके द्वार पर वह सहसा ठिठक गई। बीजगुप्त का स्वर उसके कान में पड़ा।

"चित्रे ! संसार में जो कुछ भी अपने मार्ग को प्रशस्त करे बुद्धिमानों

को वही करना उपयुक्त है। सम्राट् की रंगशाला में तुम्हारा अभिनय तुम्हें कहाँ पहुँचा देगा तुम नहीं जानती; तुम्हें वह करना चाहिए! व्यर्थ ही किसी झूठे मोह में पड़कर जीवन मार्ग को संकीर्ण करना उचित नहीं। जैसे ही मैंने सुना कि तुमने मेरे कारण रंगशाला के निमन्त्रण की अवहेलना करदी है, मैं तुम्हारे यहाँ पहुँचा; और मुझे यहाँ आने में विलम्ब हो गया।"

चित्रलेखा ने कहा, "तुम्हारे बिना वहाँ मेरा मन नहीं लगता बीजगुप्त!"

बीजगुप्त हँस पड़ा।

यशोधरा वहाँ अधिक खड़ी न रह कर आगे चली। उसकी सखियाँ उसे घेरने को वहाँ आती दीख पड़ीं। वह वहाँ न रुक सकी।

उसके वहाँ से जाते ही उस कक्ष में मृत्युञ्जय ने प्रवेश किया। चित्रलेखा उनसे विदा लेकर चल दी। वह बीजगुप्त के समीप ही एक आसन पर आकर बैठे। दोनों ने एक दूसरे को देखा।

मृत्युञ्जय ने कहा, "आर्य बीजगुप्त! मैंने तुम्हें एक विशेष कार्य से रोक लिया है और वह मेरे जीवन का बहुत बड़ा कार्य है।"

बीजगुप्त कुछ न बोला।

मृत्युञ्जय ने आगे कहा, "तुम देखते हो, यशोधरा विवाह के योग्य हो गई है और वह मेरी इकलौती कन्या है; मुझे वह बहुत प्रिय है।" कुछ क्षण को वह चुप हुए, फिर कहा, "और वह कितनी योग्य है, कितनी गुणवान! तुम उसकी हर एक बात से परिचित हो।"

बीजगुप्त जैसे कुछ समझा।

मृत्युञ्जय ने कहा, "मेरी इच्छा है कि तुम उसके अनुरूप वर हो; तुम उसका पाणिग्रहण करो।"

सुनकर बीजगुप्त ने एक दीर्घश्वास खींची। उसने श्वेतांक की ओर देखा, फिर कहा, "इसका उत्तर क्या तुरन्त ही देना होगा?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "यह तुम्हारी इच्छा पर है।"

बीजगुप्त उठ खड़ा हुआ। उसने मृत्युञ्जय से पूछा, "यशोधरा कहाँ है?"

मृत्युञ्जय ने परिचारिका को बुलाकर पूछा, "यशोधरा कहाँ है?"

"अपनी सखियों सहित अट्टालिका में देव!"

"उसे यहाँ बुला लाओ।"

परिचारिका चली गई। बीजगुप्त पुनः बैठ गया। कुछ काल में ही परिचारिका ने लौट आकर कहा, "वह अस्वस्थ हैं, विश्राम कर रही हैं।"

यह सुनकर बीजगुप्त ने कहा, "अच्छा, वहाँ मैं ही चलता हूँ।"

वह ऊपर पहुँचा। यशोधरा सखियों से घिरी पर्यंक पर लेटी थी। बीजगुप्त के सहसा आगमन पर वह उठ खड़ी हुई। बीजगुप्त ने उसे एक एकावली पहनाने को हाथ बढ़ाया।

यह देखकर यशोधरा कुछ दूर छिटक गई। जैसे उसने तिरस्कार प्रकाश किया हो।

बीजगुप्त ने कहा, "तुम्हारे इस जन्मदिन के अवसर पर यह मेरी क्षुद्र भेंट है देवि! इसे स्वीकार करो।"

यशोधरा ने कहा, "इसे आप अपने ही पास रक्खें आर्य!"

बीजगुप्त बोला, "यह तुम्हारी अभद्रता होगी।"

यशोधरा सहसा उसकी ओर देख उठी। और हृदय न जाने भरा हुआ था, क्या जाने इसी कारण आँखों में उत्तेजना उतर आई। उसने कहा, "मैं अभद्र! सदैव ही रंगीनी में खोये रहने वालों की दूषित आँख अपने ही अनुरूप विश्व की किस वस्तु को नहीं देखतीं। जो लोग इस प्रकार स्त्रियों के मध्य आकर अपनी कलुषित प्रवृत्ति का परिचय देते हैं, मैं उनसे घृणा करती हूँ।"

बीजगुप्त के उठे हुए हाथ झुक गये। वह यशोधरा को अनेक क्षणों तक देखता रहा, फिर वहाँ से चलते हुए उसने कहा, "और देवि! जो संसार की इस आनन्द-यात्रा में साथ-साथ चलने पर भी, एक दूसरे से दूर भागने का, अलग-अलग रहे आने का दम्भ प्रदर्शित करते हैं, मुझे उन पर दया आती है।"

मृत्युञ्जय द्वार पर आकर खड़े हुए थे। उनसे बीजगुप्त की आँखें मिलीं। एकावली को उन्हें देते हुए उसने कहा, "आर्य! जो जिसके लिये है उसे मैं लौटा नहीं ले जा सकता। यदि यशोधरा का क्रोध शान्त हो जाय तो इसे मेरी ओर से प्रदान कीजियेगा!"

मृत्युञ्जय ने वह माला ले ली। और वह उसके साथ चले।

उनके चले जाने पर यशोधरा से उसकी एक सखी ने विकल होकर कहा, "तूने यह क्या किया यशोधरा? अभी-अभी मैं सुनकर आई थी, पिताजी उनसे तेरे विवाह की चर्चा चलाते थे। आर्य बीजगुप्त से अच्छा वर तो तुझे भगवान हिरण्यवाहेश्वर की आराधना करने पर भी नहीं प्राप्त हो सकेगा। तू बड़ी अभागिन है।"

यशोधरा जो अब तक चुपचाप खड़ी थी, जैसे जड़ हो रही थी, सहसा फफक पड़ी। उसके मुख से निकला, "हाँ मैं बड़ी अभागिन हूँ।"

आज महाशिवरात्रि है।

हिरण्यवाहेश्वर घाट पर मेला लगा है। भीड़ का अभाव नहीं और उसका मन बहलाने के लिये वहाँ कौतुक क्रीड़ा का व्यापार करने वालों की भी कोई सीमा नहीं। हिरण्यवाह का विस्तृत पाट नौकाओं से पटा दीखता है।

और खण्डहरों के उस दूह पर कोलाहल की कमी नहीं; जैसे इसी दिवस की प्रतीक्षा में वर्ष भर स्तब्ध भाव से खड़ा रहने वाला वह शैल अपना मौन त्याग बैठा हो। लोग उस पर राह-कुराह से चढ़-उतर रहे हैं, उन खण्डहरों में घूम रहे हैं; परस्पर चर्चा करते हैं। कोई कहता है, "क्या सचमुच ही इन भयानक खण्डहरों में रात को कोई अप्सरा आती है?"

दूसरा कहता है, "और सुना है, वह बड़ा मधुर गाती है।"

कोई और कहता है, "अरे भाई मानवी तो है नहीं; स्वर्गीय कंठ है, स्वर्गीय संगीत है उसका!"

लोग विस्मय करते हैं। उन्हें अविश्वास भी होता है और विश्वास भी।

अविश्वास करने वालों के मुख से निकलता है, "अरे कहीं नहीं जी। ऐसा भी सम्भव है?"

इसी बात को दूसरा कहता है, "हाँ मुझे भी विश्वास नहीं होता! रात्रि की निस्तब्धता, भयानक प्रदेश, वह लोगों का केवल भ्रम होगा! सम्भव है कहीं और कोई गाती हो।"

विरोध होता है, "वाह! ऐसा कैसे होगा। जिन्होंने उसे देखा है, उन पर क्या अविश्वास करना होगा!"

"किसने देखा है?" लोग पूछते हैं।

उत्तर मिलता है, "अनेकों ने!"

उसका साथ देने वाले लोग कहते हैं, "इसीलिये तो महारात्रि के

अतिरिक्त इस मन्दिर पर भी रात को कोई नहीं रहता, और कहीं की तो बात ही क्या ?"

साहसी कहते हैं, "लोग भय के कारण नहीं रहते।"

"वाह ! श्रीमान् वाह ! रात में यहाँ रहने वालों को सुफल नहीं मिलता; फिर अब तो यहाँ की माया स्पष्ट फैली दीखती है।"

"हम इस पर विश्वास नहीं करते; जिसने उसे देखा है, उसे लाओ।"

चारों ओर विवाद उठा हुआ दीखता है। उससे अच्छी चर्चा और विवाद उस समय किसी के पास क्या होगा ?

सबका एक ही उत्तर है, "चलो ! योगी कुमारगिरि ने उसे देखा है, वह तो असत्य नहीं बोलेंगे।"

और कुमारगिरि की कुटी की ओर जाने वालों का ताँता लग रहा है।

ऊपर हिरण्यवाहेश्वर भगवान के भक्तों की पंक्ति लग रही थी। भोलानाथ की पूजा करने वालों का समूह उधर आता-जाता दिखाई देता था।

घाट पर दर्शकों का कोलाहल, भीड़ में रमने के लिये आये हुए लोगों की चहल-पहल और शोण के विस्तृत पाट पर नौकाओं की भाग-दौड़—चारों ओर एक अपूर्व दृश्य दीखता है।

अपराह्न हो चला था। मेले की भीड़-भाड़ कम नहीं होती थी। योगी के आश्रम की ओर जाने वालों में भी किसी प्रकार से कोई अभाव नहीं दिखाई पड़ता था।

किन्तु कुमारगिरि की समाधि लगी थी।

विशालदेव को बार-बार बताना पड़ता था, "हाँ ! इस द्रह पर विचरने वाली उस माया को हमने देखा है।"

मधुपाल उद्विग्न था। वह भी विशालदेव के पास बैठा था; उन आने-जाने वालों को देखता था और जैसे कुछ बेचैनी का अनुभव करता था। अन्त में वह उठ खड़ा हुआ। अपनी कुटी में चला गया। वहाँ से एक पट्टा लिये हुए वह निकला। विशालदेव ने उससे पूछा, "क्या करते हो मधुपाल ?"

उसने कुछ व्यस्त भाव से कहा, "कुछ यत्न करता हूँ।"

वह लकड़ी भारी थी। आश्रम-द्वार तक ले जाते-ले जाते उसके हाथ से वह छूट पड़ी।

विशालदेव उसके अंट-पटांग कार्यों से परिचित था। वह उठ खड़ा हुआ। उसके साथ वहाँ जमे हुए लोग भी उधर भागे।

मधुपाल उसे उठाकर पुनः चला और आश्रम-द्वार को अवरुद्ध कर वहाँ रख दिया।

विशालदेव चिल्लाया—"क्या करते हो? द्वार क्यों बन्द करते हो?"

"नहीं, इसे एक ओर रखता हूँ!" कहकर मधुपाल ने पट्टे को एक ओर खींचा।

विशालदेव तथा अन्य लोग तब तक वहाँ पहुँचे। उन्होंने विस्मय से देखा, पट्टे पर गेरू से लिखा था—

"यह सत्य है, किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं कि इन खण्डहरों में कभी-कभी रात्रिकाल में कोई देवी या दानवी, गन्धर्व कन्या अथवा किन्नरी, प्रेतात्मा या मानुसी विचरती है। उसे हमने गाते हुए सुना है, देखा है। इस आश्रम पर भी उसकी विकट छाया है। हे भगवान्! आप लोग यदि यह पूछने आये हैं तो लौट जायँ।"

विशालदेव मुस्कराया। उसने मधुपाल की ओर देखकर कहा, "कभी-कभी बुद्धिमता का काम भी कर लेते हो तुम, यह मुझे आज ज्ञात हुआ।"

मधुपाल ने अपने को धन्य समझा, किन्तु जैसे क्षण मात्र में ही उसे कुछ ध्यान आया, उसने चौंककर कहा, "एँ! क्या कभी बुद्धिमता से रहित भी कुछ करता हूँ?"

विशालदेव हँस दिया, "नहीं, नहीं।"

धीरे-धीरे रात्रि हो चली। अन्धकार फैल गया। योगी की भी समाधि जैसे खुली। उसने बाहर चंक्रम पर आकर काले आवरण में लिपटे-से खण्डहरों के उठान को देखा; वहाँ घूमने वाली आकृतियों को देखा।

भक्त लोग रात्रि जागरण करेंगे; हिरण्यवाहेश्वर मंदिर पर बहुत-से लोगों का जमाव था। कुछ कुतूहल के कारण भी वहाँ डटे थे। रात्रि में कुछ गायेंगे, बजायेंगे और इसी प्रकार रात्रि व्यतीत करेंगे; यही उनकी अन्य वर्षों

की भाँति व्यवस्था थी। उन्होंने उसी तरह से रजनी के बढ़ते हुए पगों का स्वागत आरम्भ किया। सामगान होने लगा। अर्द्धरात्रि गये योगी कुमारगिरि भी भगवान भूतेश्वर के दर्शन करने चला। साथ में विशालदेव था। मधुपाल आनन्दगान में पहले ही सम्मिलित हो चुका था।

खण्डहरों में निस्तब्धता व्याप्त थी। मंदिर से उठकर फैलता हुआ मधुर संगीत जैसे ऊपर ही ऊपर वायुमण्डल में सन्तरण करता-सा चला जाता था। वहाँ कुमारगिरि और विशालदेव की पदचाप मात्र सुनाई पड़ती थी। वह चुपचाप चले जा रहे थे। सहसा वहाँ फैली कालिमा के बीच कहीं से स्वर फूटा, "योगी!"

सुनते ही योगी को रोमांच हो आया। उसने विशालदेव को देखा। विशालदेव ने उधर देखा जिधर से वह शब्द आया था।

कुछ क्षणों में वहाँ जैसे पुनः निस्तब्धता छा गई। वह आगे चले। कुछ दूर ही बढ़ पाये थे कि उन्हें पुनः और कहीं निकट से ही सुनाई पड़ा, "योगिराज!"

विशालदेव ने कुमारगिरि की ओर देखा। फिर सहसा कुमारगिरि ने अन्धकार में देखकर कहा, "सुन्दरी!"

विशालदेव का मुख जैसे विस्मय की छाया से और कुमारगिरि अन्धकार के आवरण से प्रच्छन्न हो रहा था। विशालदेव ने कुमारगिरि का हाथ पकड़ कर कहा, "वह माया है गुरुदेव!"

कुमारगिरि ने उसकी ओर देखा; वह चुप ही रहा। वह जैसे अपने हृदय की धड़कनों को बल करके साध रहा था। विशालदेव उसे खींच ले चला। पर कुछ चलने पर ही फिर किसी ने कहा, "कुमारगिरि! अपनी वियोगिन की इस तरह से उपेक्षा करके चले जाना चाहते हो!"

योगी ठिठक गया। वह चिल्लाया, "नहीं देवि! अब ऐसा कैसे हो सकता है!"

विशालदेव ने कहा, "यहाँ से भाग चलो देव! यहाँ से भाग चलो!"

सुनाई दिया, "रस्सियों के विकट बंधन, शृङ्खलाओं की जकड़ तोड़कर मनुष्य भाग सकता है युवक! किन्तु हृदय के कोमल आलिंगन को छिन्न

करदेना खेल नहीं ! तुम जाओ। तुम्हारे गुरुदेव मेरे प्रणय का तिरस्कार नहीं कर सकते, इस अभिसारिका से दूर नहीं रह सकते। हम दोनों इस नीरव स्थली पर अपने कल्पना-कुंजों का शृंगार करेंगे !"

योगी रुक गया। उसने विशालदेव से कहा, "तुम जाओ विशालदेव !"

विशालदेव की श्वास तीव्रगति से चल उठी। उसने कुमारगिरि को दृष्टि गड़ाकर देखा और बलपूर्वक उसे घसीटते हुए उसने कहा, आप भ्रम में पड़ गये हैं गुरुदेव ! मत भूलो कि स्त्री माया है, अन्धकार है। यह सब मिथ्या है। और लौकिक-अलौकिक किसी भी भोग में शान्ति नहीं। वह सब नश्वर हैं !"

सहसा विशालदेव ठिठक गया। उसका मार्ग रुका हुआ था। मार्ग रोक कर जो खड़ी थी, उसने उसे पहचाना, वही नित्य की पहचानी-सी श्याम मूर्त्ति। वह पीठ फेरकर एक स्थाणु के सहारे खड़ी थी। वह बोली, "तुम भूलते हो युवक ! जिसे तुम माया और अन्धकार कहते हो, वह तो कहीं दूर पर ले जाने वाली प्रेरणा है, लोक में जगमगा देने वाला आलोक है। जिसे तुम मिथ्या कहते हो, उसी पर तो कल्पना के वितान बनाकर मनुष्य उठता है और किसी भोग के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। भोगों की रुचिर क्रीड़ा का मोह महान शान्तिदायक है, इसी कारण उनका इस सृष्टि पर कभी अभाव भी नहीं होता; वह सदैव मुस्कराने वाले ज्योतिर्बिन्दु हैं।"

"नहीं !" विशालदेव चिल्लाया, "तुम झूठ कहती हो।"

उस प्रदेश में एक मधुर खिलखिलाहट गूँज उठी। वही मधुर स्वर सुनाई पड़ा, "मैं झूठ कहती हूँ; बड़ी विचित्र बात कहते हो युवक ! इस चराचर का खेल उपस्थित करने वाले उस नियन्ता की कौन-सी मुस्कान माया है और कौन-सी अन्धकार ? बताओ तो ब्रह्मचारी ! किसी अनिश्चित दिशा की ओर बढ़ने वाले इस जीवन के लिये वह दिशा क्या है ? और भी बताओ तपस्वी ! इस सृष्टि का कण-कण, उसकी प्रत्येक ध्वनि से निकलता हुआ संगीत और इसी विश्व के बीच इसी के शृंगार को लपेटकर अवतीर्ण होने वाले उसी प्रभु की लीलाओं का गान, बताओ तो वह सब क्या है ? उन्हें यदि तुम मिथ्या कहते हो, नश्वर जानते हो तो फिर उस परमब्रह्म के अस्तित्व पर भरोसा करके

क्यों अग्रसर होते हो ?"

योगी चिल्ला उठा, "तुम सत्य कहती हो ! विशालदेव तुमसे नहीं जीत सकेगा ।"

विशालदेव मूर्ख की भाँति उसे देख उठा । कब कुमारगिरि उसके बन्धन से छूट गया उसे नहीं ज्ञात । कुमारगिरि उसी अनजान सुन्दरी के समीप जा पहुँचा । वह उसे लेकर एक ओर चलदी । विशालदेव मन्दिर की ओर बढ़ा।

अकस्मात् वायुमण्डल में वीणा के मधुर गुंजन लहर ले उठे । विशालदेव ने सुना—वह ठिठककर पीछे की ओर देख उठा । किन्तु वहाँ कोई नहीं था।

उधर उस मनोहर वेशधारिणी के कानों में भी वह वीणा की ध्वनि पड़ी, कुमारगिरि ने भी सुना, वह बोला, "तुम गाओ देवि ! तुम नाचो सुन्दरी ! अब यहाँ पर केवल मैं हूँ और तुम ।"

उस सुन्दरी का भी ध्यान उधर लगा था, जैसे उसके अंगों में स्वतः ही एक थिरकन दौड़ उठी थी । योगी की बात सुनकर वह बोली, "प्रियतम की आज्ञा शिरोधार्य ।"

और वह वहीं से थिरक उठी । नूपुर-ध्वनि वीणा के स्वरों का मोह लेकर जैसे तरंगित हो उठी । उन खण्डहरों में नृत्य के गुंजन बढ़ने लगे । योगी मन्त्र-मुग्ध-सा उसके पीछे चलता था ।

एक टीला पीछे रह गया, मिट्टी के उठे हुए स्थाणु बगल में छूटते चले गये । वह नर्तकी अग्रसर होती गई ।

उसके अंग-अंग से थिरकन फूटती थी, जैसे हरएक अवयव का अपना-अपना लोच कोई क्रीड़ा करता हो । वह बढ़ती चली जा रही थी ; वीणा के स्वर जैसे उसे अभिमंत्रित कर खींच रहे थे ।

और कुमारगिरि पर जैसे उसने जादू कर दिया था ।

सहसा वह उस ढूह के ऊपर कुछ प्रशस्त-से प्रदेश पर ठहर गई । जैसे अन्धकार की अंक से निकलकर आलोक-पुष्प ही वहाँ खिल उठा । सब कुछ भूलकर वहाँ वह नृत्य करने लगी । प्रकाश की वहाँ जगमग थी ।

योगी एक ओर खड़ा होकर उसी को देखने लगा । कौन वीणा बजाता था उसे नहीं मालूम ! कौन-कौन उस नृत्य को देखने चला आ रहा था, और

कौन कहाँ से देखता था, उसे नहीं मालूम।

कुछ दूर पर वीणा बजती थी। मन्दिर के चंक्रम पर आकर लोग एकत्र हो रहे थे। वहाँ जलने वाली उल्काओं का आलोक उन्हें जिस रंगीन लीला के दर्शन कराता था, वह अपूर्व थी। फिर भी वह उसे दूर से ही देखते थे। कहीं इस टीले का रहस्य वही तो नहीं। वीणावादक दिखाई न पड़ता था। तरंग में आकर मंदिर पर जागरण करने वाले वादक भी अपने-अपने बाजे बजा उठे थे।

वहाँ एक अपूर्व संगीत, अद्भुत रंगलीला हो उठी—किसीने नहीं देखा था, ऐसा नृत्य; किसीने नहीं सुना था, ऐसा संगीत! महारात्रि का मेला जैसे अपने अवसानकाल में और मनोरम हो उठा हो।

सहसा वीणा बन्द हुई। नृत्य रुक गया, नर्तकी जैसे झूमती-सी वीणा-वादक की ओर बढ़ी। उसने उसके निकट जाकर अपनी अलसाई-सी पलकों को उठाकर कहा, "अभी से क्यों रुक गये तुम? मैं तो इन स्वरों पर सदैव नृत्य करती रहना चाहती हूँ।"

वीणा त्यागकर उसका वादक उठ खड़ा हुआ, निकट आती हुई नर्तकी को उसने देखा—वह न जाने मादकता का स्फुरण करती थी या न जाने स्वयं ही उसके वशीभूत थी। वह चिल्लाया, "चित्रलेखा!"

प्रत्युत्तर मिला—"बीजगुप्त!"

दोनों एक दूसरे की ओर बढ़े। उन क्षणों की स्वर्गीय उत्तेजना में वह दोनों आलिंगन-बद्ध हो जाना ही चाहते थे कि सहसा बीजगुप्त को एक धक्का लगा। वह सम्हलता कैसे! वह तो जैसे सबकुछ भूल गया था। वह नीचे गिरा।

चित्रलेखा ने फटी हुई दृष्टि से देखा—वह उस गगनचुम्बी द्रूह का किनारा था और बीजगुप्त नीचे चला जा रहा था। वह चीख उठी। उसने धक्का देने वाले की ओर देखा—कुमारगिरि!

कुमारगिरि जैसे हतचेत-सा खड़ा था। वह मूर्ख की भाँति चित्रलेखा को देख उठा। हाथ फैलाकर उसी की ओर बढ़ा। उसने कहा, "मैं यह नहीं देख सकता था चित्रलेखा!"

किन्तु चित्रलेखा ने यह नहीं सुना। वह उसीकी भुजाओं में मूर्च्छित हो गई।

तभी सहसा किसी ओर से आई हुई सुनयना ने कहा, "तुम भाग जाओ योगी!"

किन्तु कुमारगिरि तो जड़ हो रहा था। वह सुनयना की ओर देख उठा। चित्रलेखा को शीघ्रता से सुनयना ने सम्हाला। विशालदेव भी उसी क्षण वहाँ आकर रुका। सुनयना ने उससे कहा, "तुम योगिराज को ले जाओ युवक! यहाँ से शीघ्र ले जाओ।"

विशालदेव बलपूर्वक योगी को वहाँ से ले चला।

सुनयना उसी क्षण चिल्लाई, "रक्षा करो! रक्षा करो!"

देखने वालों को वैसे ही किसी दुर्घटना का आभास हो चुका था। उनमें से कुछ चले भी आ रहे थे। और सहसा ही उठे सुनयना के स्वर ने उन्हें और शीघ्र आमंत्रित किया। लोग सुनकर दौड़ पड़े।

"तुम आर्य बीजगुप्त से प्रेम करती हो।"

सुनकर चित्रलेखा ने अपनी सखी सुनयना की ओर देखा। वह गम्भीर भाव से खड़ी हुई शुक-सारिका के पींजरे में उनके लिए कुछ चुगा रखती थी। चित्रलेखा न जाने कितने क्षण तक उसे देखती रही, फिर सहसा पर्य्यंङ्क से उठकर खड़ी हो गई। सुनयना के पास आकर खड़ी हो गई। उससे बोली, "क्या कहती है सुनयना?"

सुनयना ने कहा, "तू बीजगुप्त से प्रेम करती है।"

चित्रलेखा जैसे चीख उठी, "नहीं, नहीं! मैं किसी से प्रेम नहीं करती। यह बात मत कहो सुनयना, मत कहो!"

सुनयना चुप रही। अपना काम करती रही।

चित्रलेखा उसको झकझोरती-सी फिर बोली, "जो कुछ मेरे लिये अभिशाप है, मैं वही करूँगी? प्रेम! प्रेम!"

"सखी! तुम चाहे जो कहो, किन्तु तुम्हारे हृदय की वह विभोरता जो बीजगुप्त के सामने तुम्हारी आँखों में छा जाती है, वह आकुलता जिसे लेकर तुम उनके भवन पर जाया करती थीं और वह उल्लास और उदासी जो उनके संसर्ग से तुम पर प्रकट होती थी, सब यही कहते हैं कि तुम उनसे हार गई हो।" कहकर सुनयना फिर अपने कार्य में लगी।

चित्रलेखा उसकी ओर न जाने किस दृष्टि से देखती रही, फिर कहा, "सुनयना! प्रेम के विषमय फल को चखकर भी क्या तुम समझती हो कि मैं उसका आस्वादन करने पुनः दौड़ूँगी! क्या तुम्हें विश्वास है कि किसी पुरुष के झूठे नेहजाल में मैं फिर पड़ जाऊँगी? मुझे पुरुषों से घृणा है।"

सुनयना चुप रही।

चित्रलेखा उद्विग्न हो उठी थी। वह प्रकोष्ठ में इधर-उधर घूमने लगी। कुछ क्षण में वह पुनः बोली, "सुनयना! जिसे कुचलकर लोगों ने नागिन से भी कहीं अधिक विषमय और प्रतिशोधमयी बना डाला है; जिसे

इस जगह में फेंककर किसी दूषित स्थान में विचरने वाली मक्षिका से भी कहीं अधिक छूत का विस्तार कर देने वाली बना दिया है, वह उन्हें अमृत पान करायेगी ? उनका व्याधियों से त्राण करेगी ?" चित्रलेखा कुछ क्षण को चुप हुई, फिर उसने सुनयना के समीप आकर कहा, "तुम देखती हो सुनयना ! जिसने मुझे भरी सभा में दुर्वचन कहे, मुझे धिक्कारा, उसी वासनाओं के विजेता योगी को मैंने कामी कुत्ता बना डाला है। और बीजगुप्त ! सुनते हैं जिस पर सहज ही अनुरक्त हो जाने वाली रमणियाँ उसके अनुराग का पार नहीं पा सकतीं, उस छली को भी मैंने वशीभूत कर लिया है। इस भयंकर डसकर भूल जाने वाली सर्पिणी के पलट जाने पर इन्हें जब ज्ञान होगा तब तुम देखोगी सुनयना कि मैं किस से प्रेम करती हूँ।"

सुनयना उस उत्तेजित रमणी को देख रही थी। वह उस क्षण कुछ नहीं बोली। चित्रलेखा उसके पास से हटकर जब कुछ दूर चली गई, तो उसने कहा, "चित्रलेखा ! अभी तुम इतनी कठोर नहीं हो। इतना गणिका-भाव अभी तुममें कहाँ से आया ? आर्य बीजगुप्त के लिये तुम आज्ञाकारिणी दासी हो, उनमें अनुरक्त रहने वाली कामिनी हो।"

चित्रलेखा पलट पड़ी। जैसे तप्त तवे पर जल की बूँदें आ पड़ी हों। उसने कहा, "मत कहो ! मत कहो सुनयना ! मैं किसी से प्रेम नहीं करती।"

सुनयना ने कहा, "शान्त हो चित्रे ! प्रेम कर उठना कोई पाप तो नहीं है, और हृदय जिसके सामने स्वतः ही झुक जाय, उसके लिए कैसी ही कामनाओं में निमग्न रहना कोई अपराध तो नहीं है ! फिर तुम अशान्त क्यों ? किसी की दिन-रात बड़ाई करने वाली कोमला, किसी की आज्ञानुवर्तिनी सुन्दरी और किसी के सहसा ऊपर से गिर जाने पर मूर्च्छा को प्राप्त हुई कमलिनी, तुम्हें यह सब कुछ शोभा देता है ?"

"नहीं ! नहीं ! मुझसे यह मत कहो।" चित्रलेखा तड़प उठी।

सुनयना उसे अकेली छोड़कर वहाँ से चली गई। वह पुनः पर्य्यङ्क पर आ बैठी ; सिर पकड़कर बैठ गई, "हाय रे भाग्य !" आँखें बन्द करलीं।

वह कितनी देर तक वहाँ बैठी रही, उसे नहीं ज्ञात। अचानक उसके कानों में पड़ा, "देवि चित्रलेखा !"

किन्तु उसने आँखें नहीं खोलीं।

तब पुनः सुना, "चित्रे !" कुछ अधिक सबल स्वर।

चित्रलेखा ने आँखें खोल दीं, देखा—योगी कुमारगिरि द्वार में खड़ा था। वह उसके समीप आया। चित्रलेखा ने उस पर से क्षणमात्र को भी दृष्टि नहीं हटाई। वह उसे जैसे फटी हुई दृष्टि से देखती थी। कुमारगिरि ने कहा, "प्रिये !"

चित्रलेखा के मन में आया कि उसे फटकार दे, उसे अपनी आँखों के सामने से दूर कर दे, किन्तु ऐसा उसने नहीं किया। वह सहसा उससे लिपट गई, फिर जैसे भावावेश में होकर बोली, "हाँ योगी ! मैं तुमसे प्रेम करती हूँ ! मैं तुम्हीं से प्रेम करती हूँ।"

कुमारगिरि ने कहा, "और सुन्दरी ! मैं तुममें खो गया हूँ।"

चित्रलेखा उससे अलग नहीं हुई। कुमारगिरि ने भी उसको अलग नहीं किया। एक जैसे इस प्रकार लिपटकर अपने मन की भभक से मुक्ति पा लेना चाहती थी, दूसरा जैसे अपनी तृषा को प्रज्वलित कर रहा था। उसी ने कहा "चलो चित्रे ! मैं तुम्हें लेने आया हूँ।"

चित्रलेखा अलग हुई, पूछा, "कहाँ ले चलोगे ?"

"दूर ! इस रात में हम जितनी दूर जा सकें आज उतनी ही दूर, कल फिर इतनी ही दूर और परसों इतनी ही दूर और—राजकोप से दूर।"

चित्रलेखा चौंकी। मन ही मन कहा, "राजकोप से दूर !" योगी पर दृष्टि गड़ा दी। योगी राजकोप से दूर जाना चाहता है। उसने एक दीर्घ-श्वास खींचकर कहा, "राजकोप की तुम चिन्ता न करो योगी ! सब देखा जायगा। भागने में तो कैसी भी गति नहीं है।"

कुमारगिरि ने कहा, "जैसी तुम्हारी इच्छा ! तुम्हारे प्रेम ने मुझे मृत्यु से लड़ने का भी साहस प्रदान किया है।"

चित्रलेखा मन ही मन हँसी। उसने कहा, "चलो ! उद्विग्न मन यहाँ शान्त नहीं होता।"

दोनों बाहर आ गये; शोण और गंगा के संगम पर पहुँचे।

नौकारूढ़ होने को सन्नद्ध होती हुई चित्रलेखा बोली, "आज मेरी परम

विजय है योगी ! मैंने तुम्हें अपनी अङ्क में समेट लिया है ।"

योगी विभोर होकर उसे देख उठा । उसने कहा, "जीवन में ऐसे स्वर्ण दिवस भी आयेंगे, ज्ञात नहीं था ।"

नौका उन्हें लेकर चली गई । संगम वक्ष पर कितनी दूर गई, नहीं ज्ञात । जब वह उन्हें लेकर लौटी, पहरभर रात्रि व्यतीत हो गई थी । चित्रलेखा ने नौका से उतरते हुए कहा, "कल से आश्रम पर तुम्हारी यह अनुचरी ही आयेगी योगी ।"

योगी को लेकर नौका शोण-वक्ष पर चल पड़ी ।

चित्रलेखा अपने भवन में पहुँच कर सीधी अपने शयन-कक्ष में जा लेटी। उसका चित्त अस्थिर था । सुनयना ने आकर यह देखा और कहा, "मैं आर्य बीजगुप्त को देखने गई थी ।"

चित्रलेखा ने कुछ नहीं कहा । वह आँखें बन्द किये हुए पड़ी रही ।

सुनयना ने कहा, "उनकी मूर्च्छा अभी नहीं टूटी ।"

चित्रलेखा ने आँखें खोलीं । उसने कहा, "मुझे उनकी मूर्च्छा से क्या ? योगी मूर्च्छित है ! उसकी भी मूर्च्छा टूटेगी । जिन सम्राट् के सामने उसने मुझे धिक्कारा था, वही उस कामी का न्याय करेंगे । सारे नगर में उस कामी कुत्ते की तब चर्चा होगी, और मैं उस पर थूकूँगी ।

चित्रलेखा के प्रलाप पर जैसे सुनयना ने ध्यान नहीं दिया । उसने कहा, "वह अभी भी मूर्च्छित हैं चित्रे ! आज उन्हें तीसरा दिन है ।"

चित्रलेखा सहसा बैठ गई । उसने सुनयना को पकड़ कर कहा, "तीसरा दिन ।"

सुनयना ने गम्भीर स्वर में कहा, "हाँ ! यशोधरा किसी क्षण को भी उनके पास से नहीं हटती ।"

चित्रलेखा पर सम्भवतः यह वज्र प्रहार था । वह उठ खड़ी हुई । विकल होकर इधर-उधर घूमने लगी । फिर आकर वह पर्य्यङ्क पर बैठ गई । शय्या में मुँह दबाकर वह लेट गई ।

दूसरे दिन कुमारगिरि की कुटी की ओर जाते हुए उसका रथ बीजगुप्त के भवन के सामने होकर आगे बढ़ा । उसे लगा जैसे बीजगुप्त के भवन पर

शोक की उदासी छाई थी। चारों ओर एक विकराल शान्ति। जब तक वह भवन उसे दिखाई दिया रथ में बैठी हुई वह उसे मुड़कर देखती रही।

अन्त में उसने एक दीर्घश्वास खींचकर आँखें फेर लीं।

रथ हिरण्यवाहेश्वर घाट पर पहुँचा। कुमारगिरि जैसे प्रतीक्षा करता-सा मार्ग पर देखता था।

दोनों सान्ध्यकाल की उदासी में रंगे-से ढूह पर चढ़े। चित्रलेखा मन ही मन जैसे कुछ सोच रही थी। वह अधिक नहीं बोलती थी। एक जगह पर रुककर कुमारगिरि ने कहा, "यही तो है वह स्थल सुन्दरी, जहाँ तुमने मेरा पहली बार हाथ पकड़ा था, मैंने तुम्हारा दैवी स्पर्श पाया था!"

चित्रलेखा ने देखा। जैसे कुछ गम्भीर हो गई, नहीं—उदास हो गई। उसने एक निश्वास त्याग कर उस स्थान को देखा, फिर मन्द स्वर में कहा, "हाँ! यहीं तो मैंने अपने पीछे भागते हुए बीजगुप्त को छला था।"

कुमारगिरि ने चित्रलेखा की बात को समझा, उसका मन मुदित हो उठा! चित्रलेखा का हृदय जैसे उस घटना का स्मरण करके संतप्त हो उठा। क्यों छला उसने उसे?

कुमारगिरि ने कहा, "और अपना छल भंग किया था!"

चित्रलेखा उसकी बात को सुनकर मुस्करा न सकी। वह कुमारगिरि की ओर देखकर बोली, "नहीं! तुम्हें छलना आरम्भ किया था।"

कुमारगिरि ने उसका हाथ दबा दिया। उसने उसे प्रणय-प्रहार ही समझा। वह चलते हुए ढूह पर खड़े मन्दिर के समीप पहुँचे। कुमारगिरि ने कहा, "चलो चित्रे! आज हम दोनों भगवान के चरणों में बैठकर अपने प्रेम के अक्षुण्ण होने की कामना करें। हिरण्यवाहेश्वर महादेव हृदय से की गई प्रार्थना को पूर्ण करते हैं।" किन्तु चित्रलेखा उस मन्दिर को नहीं, वह उससे और आगे देखती थी। वह स्थान दूर से चमक रहा था, जहाँ से बीजगुप्त गिरा था। वह बोली, "चलो कुमारगिरि! यहाँ से चलें! मुझे भय लगता है! मुझे स्मरण हो आता है कि हमारा यह प्रणय किसी को नष्ट करके पनपना चाहता है।"

कुमारगिरि फिर उसे न रोक सका।

वह शीघ्र ही नीचे उतर आये। चित्रलेखा रथ में बैठकर सारथी से बोली, "शीघ्रता करो!"

उसका रथ नगर में पहुँचकर पुनः बीजगुप्त के भवन के सामने होकर चला। अन्धकार में डूबे उस भवन की ओर देखकर उसका हृदय व्यथा के मारे टूटने लगा। उसने विकल होकर सारथी से कहा, "रथ लौटाओ! आर्य बीजगुप्त के यहाँ चलो।"

रथ बीजगुप्त के भवन पर पहुँचा। प्राँगण में जाकर रुका।

चित्रलेखा भीतर पहुँची। वहाँ की भयानक शाँति को देखकर उसे और भी ठेस लगी!

कोई किसी से नहीं बोलता!

चित्रलेखा को देखकर सब एक ओर हट गये। बीजगुप्त तब भी मूर्च्छित था, उस समय उसके पास केवल श्वेतांक था, चिकित्सक था।

श्वेतांक, चित्रलेखा को देखकर आँखों में आँसू भर लाया। धरती पर बैठकर चित्रलेखा बीजगुप्त की ओर स्थिर दृष्टि से न जाने कितने समय तक देखती रही। फिर सहसा फफक पड़ी। रुलाई का वेग उस पर भी रोका नहीं गया। फिर किसी प्रकार से अपने को सम्हालकर उसने श्वेतांक की ओर देखा। वह दूसरी ओर देखता था, जैसे उसके नेत्रों में अपार निराशा हो।

चित्रलेखा उठ खड़ी हुई। श्वेतांक ने तब उसकी ओर देखा, और कहा, "सन्ध्या समय स्वामी ने आँखें खोली थीं, तुम्हें पुकारते थे।"

चित्रलेखा विह्वल होकर उठी, "मुझे!" वह बीजगुप्त को पुनः देख उठी फिर वह शीघ्र ही वहाँ से चलकर बाहर आई। रथारूढ़ हुई और रथ वहाँ से चल पड़ा।

राजमार्ग पर आकर चित्रलेखा ने सारथी से पूछा, "कहाँ ले चल रहे हो सारथी?"

सारथी ने उसकी ओर देखा।

पथों में फैला आलोक चित्रलेखा की असाधारण विकलता का प्रतिफलन लेकर जैसे चारों ओर छिटका था। चित्रलेखा ने कहा, "मुझे हिरण्यवाहेश्वर

भगवान की सेवा में ले चलो ! मैं उनकी पूजा करूँगी, उनके चरणों में सिर पटक दूँगी ! मुझे तुम वहीं पहुँचा दो !"

सारथी ने कहा, "पर अब वहाँ जाने का समय नहीं रहा देवि ?"

"प्रभु का द्वार दुखियारों के लिये कभी बन्द नहीं होता सारथी ! तुम चलो !"

रथ उधर ही मुड़ चला।

शोण तट पर बढ़ता हुआ मार्ग उस समय अन्धकारमय हो रहा था। रथ उसी को उद्वेलित करता हुआ वहाँ दौड़ने लगा। चारों ओर की निस्तब्धता को भंग करता था—केवल वह उद्वेलन और चित्रलेखा का स्वर—"शीघ्रता करो सारथी ! और शीघ्र ! और शीघ्र !"

फिर घोड़ों पर सारथी की हुँकार, कोड़े की फटकार !

हिरण्यवाहेश्वर महादेव अपने सम्मुख सदैव जलती रहने वाली ज्योति में मुस्करा रहे थे—चित्रलेखा उस मूर्ति को देखकर रो उठी। आँखों में जल लिये ही वह आगे बढ़ी, देहली पर सिर टिकाये कौन पड़ा था, जैसे उसे ध्यान नहीं। उसे ठोकर लगी। किन्तु वह शिथिल हो रही थी, अपने मन की पीड़ा से मूर्च्छित प्रायः हो रही थी। उस पर भी उसका ध्यान नहीं गया। वह मण्डप में ही बैठ गई, धरती पर लेट गई और बिलख उठी। उसी रुदन के स्वर में उसके मुख से निकला, "मैं ही पापिन हूँ देव ! मैंने ही अपराध किया है। उनके ऊपर दया करो प्रभु ! चाहे मेरे प्राण ले लो। मुझे बुला लो।"

वह सिसक उठी, बिलख-बिलख कर रोने लगी।

न जाने कितने समय में जब उसके हृदय की वह प्रार्थना समाप्त हुई तब उसने सिर उठाकर देखा—सामने और भी बैठी हुई कोई आँसू बहाती थी। उसने उसकी ओर देखा, आँसू से उस क्षण रहित हुई-सी आँखों ने उसे पहचाना—यशोधरा।

वह उसे देखकर पुनः बिलख उठी, उसके चरणों में पड़कर बोली, "मैंने उन्हें गिरा दिया है यशोधरा ! उनके प्राणों की इस ग्राहिका को मारो यशोधरा ! मैं महापातकी हूँ।"

यशोधरा जड़वत् बैठी थी ; आँसू बहाती थी । उसे जैसे कुछ भी ध्यान नहीं ।

चित्रलेखा ने उसके मुख को देखा, फिर सहसा आगे बढ़कर उसने विग्रह को आलिंगन-बद्ध कर लिया । सिर पटककर बोली, "देव ! हे देवेश्वर ! मैं महापापिनी हूँ । बीजगुप्त की प्राणघातिनी मुझ पापिन को बुलालो देव ! उन्हें क्षमा करो । उन्हें प्राणदान दे दो । उनकी जगह मैं चलने को प्रस्तुत हूँ । उनके ऊपर से अपना कोप समेट लो ।"

यशोधरा ने अब उसको देखा ; उसके अश्रु-प्रवाह को तब जैसे कुछ विश्राम मिल गया था । उसने धीरे से कहा, "चित्रलेखा !"

चित्रलेखा ने सिर उठाया और कहा, "यशोधरा !"

दोनों एक दूसरी के आलिंगन-पाश में आबद्ध हो उठीं । दोनों आँसू बहाने लगीं ।

लगा जैसे एक ही व्यथा से व्यथित दो हृदय उस क्षण अपने-अपने भेदभाव भूलकर, अपने-अपने दुख के आवेग को मिला कर कम कर उठे हों ।

—???:???—

चारों ओर की वनस्थली शान्त है, जैसे सब कुछ शान्त होगया। कहीं कोई गति नहीं, जैसे सारे कार्य-कलाप स्वतः ही विवश होकर चल रहे हों! क्यों?

इसका किसी के पास क्या उत्तर है?

कुमारगिरि के आश्रम में जैसे आठों प्रहर कुछ न कुछ होता रहता है, और कुछ भी नहीं होता; एक आकुल-सी निस्तब्धता वहाँ व्याप्त रहती है। वहाँ कोई उमंग नहीं, कोई किसी से बात नहीं करता। कुमारगिरि कितनी रात्रि गये अपनी कुटी में लौटकर आता था, इस पर विशालदेव ध्यान देकर भी ध्यान नहीं देता। वह क्या करता था, जैसे वह जानकर भी नहीं जानता था। कभी-कभी उसकी इच्छा होती कि वह वहाँ से चला जाय?

परन्तु……!

कुमारगिरि पतित होगया है।

वह नित्य की तरह आज भी ब्राह्म महूर्त में ही शोण के जल में स्नान करके उसके घाट पर खड़ा होकर जैसे यही कुछ सोचता-विचारता-सा था। अभी आकाश में आलोक नहीं फूटा था, तारों की छाया ही शेष थी। कुछ देर तक यों ही खड़े रहकर वह आश्रम की ओर चल दिया। मार्ग पर आते-आते उसने एक निश्वास त्याग दिया।

जो कुछ हो रहा है, कहीं न कहीं उसका अन्त होगा ही; जिस राह पर वह योगी बढ़ गया है, कहीं जाकर वह समाप्त होगी ही। उसे बिना देखे वह कैसे चला जाय! और इतने दिन का स्नेह जो उसे सहजभाव से ही योगी से प्राप्त हुआ है, उसे यों ही ठुकराकर क्यों चल दे? वह भी इस विपत्ति-काल में, जब कि राजकोप होने की सम्भावना है। फिर अच्छे-अच्छे ऋषि और तपस्वी स्वर्ग की अप्सराओं की रूपसुरा का पानकर डगमगाये हैं, उसने पुराणों में पढ़ा है; यह प्राचीन इतिहास उसे स्मरण है। वह चलते-चलते अपने आप सिर हिला उठा। सहसा ही मन में उठी विचारधारा के प्रति वह सहमति प्रदान कर उठा।

विशालदेव ने आश्रम में पहुँचकर देखा—जैसे अभी तक कोई भी जागा नहीं। कुमारगिरि भी नहीं, मधुपाल भी नहीं। कुमारगिरिकी कुटी में जाकर देखा—वह अभी तक सोया हुआ था। वह मधुपाल की कुटी की ओर नहीं गया। मधुपाल उसे बाहर आते ही दीख पड़ा। बगल में खड़े एक वृक्ष के नीचे बने चबूतरे पर वह शीर्षासन लगाये था। विशालदेव उसके निकट पहुँचकर खड़ा हो गया।

मधुपाल आँखें बन्द किये था। कुछ क्षणों में जब उसने आँखें खोलीं तो विशालदेव ने पूछा, "क्यों मधुपाल, क्या हो रहा है? इस समय तो तुम शीर्षासन नहीं लगाते।"

मधुपाल ने, जैसे था, वैसे ही खड़े रहते हुए कहा, "हर एक के कार्यक्रम में परिवर्त्तन होता रहता है विशालदेव! क्या तुम नहीं जानते?"

विशालदेव चुप हो गया। वह एक ओर जाकर सन्ध्योपासना में लगा। मधुपाल भी शीर्षासन त्यागकर पद्मासन से बैठा।

कुमारगिरि की जब आँखें खुलीं, प्रकाश उज्ज्वल हो रहा था, धरती पर भी किरण-कान्ति फैलने लगी थी। वह उठकर बाहर आया। चबूतरे पर खड़े होकर इधर-उधर देखा। मधुपाल ने पुनः शीर्षासन लगा लिया था। वह उस पर एक दृष्टि डालता हुआ सरिता-तट की ओर चला गया।

विशालदेव अपने सान्ध्यकालीन कृत्य समाप्त कर उठ खड़ा हुआ। उसने दूर से ही कुमारगिरि को जाते हुए देखा।

मधुपाल पुनः पद्मासन लगाकर बैठा। विशालदेव ने यह देखा, परन्तु कुछ न कहते हुए वह एक ओर चला गया। सूर्योदय हो रहा था, वह जल-पात्र लाकर पौधों को सींचने लगा। अकस्मात् उसके कान में कुमारगिरि का स्वर पड़ा, "क्यों? अभी तक भी तुम इसी आसन से खड़े हुए हो?"

मधुपाल ने कुमारगिरि को लौट आते देखकर पुनः शीर्षासन लगाया था।

विशालदेव की दृष्टि उस पर तुरन्त पड़ी। उसे विस्मय हुआ। कुमारगिरि को भी उसने देखा।

मधुपाल ने कहा, "हाँ गुरुदेव! अब मुझे यही आसन श्रेष्ठ प्रतीत होता है।"

कुमारगिरि ने तीव्र कण्ठ से कहा, "क्यों?"

इस पर मधुपाल कुछ नहीं बोला। आँखें बन्द करलीं।

"बोलता क्यों नहीं मूर्ख?" कुमारगिरि ने पुनः पूछा

मधुपाल ने कहा, "गुरुदेव! जो कुछ मेरी समझ में सीधे रहकर नहीं आता, वह मुझे उल्टा होकर समझने की चेष्टा करनी ही चाहिए। मैं देखता हूँ, इस समय मेरी इस जड़ बुद्धि में सब कुछ ठीक आ रहा है।"

कुमारगिरि मधुपाल के व्यंग्य को समझा। उसने तीव्र स्वर में पूछा, "क्या आ रहा है तेरी समझ में ठीक-ठीक?"

"कुछ नहीं गुरुदेव! मैं तो यों ही कहता था।"

किन्तु मधुपाल के इस वचन ने कुमारगिरि की उत्तेजना में कुछ सहारा और लगा दिया। उसने डपटकर कहा, "क्यों कहता था यों ही?"

मधुपाल सकपका गया। उसने कहा, "गुरुदेव! मैं जैसे सीधा खड़ा होकर, बैठकर, आपकी सीधी बातें समझने की बुद्धि से रहित-सा रहता हूँ, उसी प्रकार उल्टा खड़ा होकर भगवन की उल्टी बातों को भी अपने से दूर ही रखने की चेष्टा करता हूँ।"

सुनकर कुमारगिरि का क्रोध विकराल रूप धारण कर उठा। वह चिल्लाया "नीच शिष्य! तू अपने गुरु के गुण-दोष देखता है, दूर हो जा मेरे आश्रम से। परमात्मा ने इस सृष्टि को व्यर्थ ही नहीं बनाया है शठ! मैं देखना चाहता हूँ कि उसने यहाँ पर कैसे-कैसे सुमन खिलाये हैं और तू दुष्ट मुझे दूषित आँख से देखता है। इससे पहले कि मैं तुझे कोई शाप दूँ, तू दूर होजा मेरी आँखों के सामने से।"

और कुमारगिरि शीघ्रता पूर्वक वहाँ से चला गया; भीतर कुटी में पहुँचा। उसका हृदय उद्विग्नता से पूर्ण हो उठा था। वह कुटी के मध्य खड़े काष्ठ-स्तम्भ को पकड़कर जैसे अत्यन्त विकल भाव से खड़ा हो गया।

विशालदेव अपना कार्य भूलकर यह देख रहा था। वह मधुपाल के शीर्षासन का मर्म समझा। वह उसके निकट आया। मधुपाल उस समय पद्मासन लगाकर रोने लगा था। विशालदेव के समीप आते ही वह उससे लिपट गया, और ऊँचे स्वर से रोते हुए उसने कहा, "क्या मैंने कुछ झूठ

कहा था विशालदेव ? अब मेरा क्या होगा ?"

विशालदेव ने उसके आँसू पोंछते हुए गम्भीर स्वर में कहा, "नहीं तुमने ठीक ही कहा था, पर कहना नहीं चाहिए ! फिर भी छोड़ो, क्यों चिन्ता करते हो ?"

"चिन्ता न करूँ । हा……हा……हा ……घर लौटकर तो मैं भूखा मर जाऊँगा । न जाने कितने सामन्त और श्रेष्ठियों को यहाँ प्रसाद चढ़ाते देखकर ही तो मैं गुरुदेव के चरणों में योग की दीक्षा लेने आया था । चिन्ता कैसे न करूँ विशालदेव ?" कहकर मधुपाल जोर-जोर से रोने लगा ।

विशालदेव की समझ में नहीं आया कि वह उस पेटू को सान्त्वना दे या उसे यों ही रोता छोड़कर अपना कार्य करे !

सायंकाल में विशालदेव जब सान्ध्यकालीन सन्ध्या के लिये प्रस्तुत हो रहा था, कुमारगिरि अपनी कुटी से बाहर निकला । विशालदेव ने उसे देखा और जैसे फिर अपने कार्य में लगा । किन्तु कुमारगिरि उस पर बिना एक दृष्टि भी डाले हुए जब आश्रम से बाहर जाने लगा तो विशालदेव उसके समीप आकर बोला, "योगिराज ! सन्ध्या का समय हो रहा है, आप सायं कर्मों का उल्लंघन कर कहाँ जाना चाहते हैं ?"

कुमारगिरि क्षण मात्र को ठिठका, फिर अपनी ही राह पर आगे चलते हुए उसने आकाश की लालिमा को देखा और कहा, "अभी तो बहुत समय है विशालदेव ! मैं अभी लौटकर आता हूँ ।"

विशालदेव ने कुछ नहीं कहा ।

कुमारगिरि आश्रम से निकलकर घाट पर आ खड़ा हुआ । घाट पर उसकी दृष्टि फैल गई । धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जाते हुए सूर्य की किरणों का खेल समाप्त हुआ । अन्धकार ने वहाँ फैलकर कुछ भी देखने योग्य नहीं रक्खा । कुमारगिरि ने एक ठण्डी स्वास खींची । शोण के जल में तारों के प्रतिबिम्ब हँसने लगे थे । उसका हृदय विकल हो उठा । उसने गगन की ओर देखा, लगा जैसे उसके नेत्रों में असंख्य स्फुल्लिंग नाच उठे । उसके मुख से स्वतः ही प्रस्फुटित हुआ, "पूरा एक पक्ष हो चला ! चित्रलेखा नहीं आई ! आज भी नहीं आई !"

वह वहाँ से हटा, मार्ग पर खड़ा हो गया। आश्रम की ओर देखा, फिर दूर अन्धकार में छिपे पाटलिपुत्र पर फैले आलोक बिन्दुओं को देखा। नगरी जैसे प्रसन्न थी और वह जैसे उदास। उसके पैर स्वतः ही पाटलिपुत्र की ओर बढ़ चले।

नगरद्वार नगर तक पहुँचते-पहुँचते बन्द हो गये। कुमारगिरि ने तब जलमार्ग की शरण ली।

नगर में पहुँचकर कुमारगिरि ने ध्यान नहीं दिया, वहाँ का जनरव शान्त हो गया है अथवा नहीं, उसे कोई देखता है अथवा नहीं। वह सीधा चित्रलेखा के भवन पर जाकर रुका, नहीं— द्वार पर रोका गया। प्रहरियों ने बाधा दी। कुमारगिरि ने तोरण पर डटे दोनों प्रहरियों को देखा, फिर उत्तेजित होकर कहा, "तुम नहीं जानते मैं कौन हूँ तुम्हारी स्वामिनी मेरी प्रतीक्षा करती होंगी! मुझे भीतर जाने दो।"

सुनकर प्रहरी हँस उठे, फिर व्यंग्य युक्त स्वर में उन्होंने कहा, "स्वामिनी इस दण्डी की प्रतीक्षा करती होंगी। अरे! तेरे पास क्या है साधु जो उन्हें तेरे लिये यहाँ अटकाये रक्खेगा!"

फिर एक अट्टहास! उसके आर्द्र वस्त्र पर दृष्टिक्षेप!

योगी क्रोधित हो उठा; वह चिल्लाया, "उनके पास मेरा प्रेम है मूर्खो! उस दिन सुनयना ने मेरा स्वागत किया था, क्या भूल गये?"

इस पर वह प्रहरी और हँस उठे।

योगी अमर्ष के वेग में उफन उठा, "तुम्हें शाप दूँगा, तुम्हें नष्ट कर दूँगा! मुझे भीतर जाने दो!"

"पर वहाँ भीतर स्वामिनी हों भी तो!" एक प्रहरी ने कहा, "वह तो सामन्त बीजगुप्त की सेवा में हैं।"

योगी ने विश्वास नहीं किया। उसने क्रोध के वेग में झपटकर दोनों प्रहरियों को कंठ पर पकड़ लिया और एक दूसरे के सिर भिड़ा दिये। उसके प्रचण्ड बल के सामने वह कुछ न कर सके। दोनों ने एक चीत्कार किया और गिरकर तड़प उठे। योगी को मार्ग मिला।

सुनयना विश्राम कर रही थी। सहसा योगी का आगमन सुनकर वह उठ

बैठी। और योगी ने भी दासी के पीछे-पीछे तत्काल ही वहाँ प्रवेश किया। उसने आते ही पूछा, "चित्रलेखा कहाँ है?"

सुनयना योगी की रौद्र मूर्त्ति देखकर काँप उठी। उसने विनम्र स्वर में आसन देकर कहा, "पधारिये योगिराज!" फिर उसने दासी से कहा, "योगिराज के लिये वस्त्र लाओ।"

योगी का क्रोध कुछ ठण्डा हुआ। उसने संयत स्वर में खड़े ही खड़े पुनः पूछा, "मैं पूछता हूँ सुनयना! चित्रलेखा कहाँ है?"

दासी एक कौशेय वस्त्र लेकर उपस्थित हुई। योगी ने उसे ले लिया।

सुनयना ने कहा, "स्वामिनी आर्य बीजगुप्त के यहाँ हैं।"

"बीजगुप्त के यहाँ! क्या वह पूरे एक पक्ष से वहीं है?"

सुनयना ने कुछ हिचकते हुए कहा, "हाँ!"

योगी के नेत्रों से जैसे अग्नि शिखायें निकल उठीं। श्वास की गति बढ़ गई। उसने पूछा, "क्या इस बीच उसे मेरा किंचित भी ध्यान नहीं रहा! या वह मुझे भूल गई?"

"सो मैं नहीं जानती योगिराज!" कहकर सुनयना चुप हुई, फिर योगी को कुछ शान्त हुआ-सा देखकर उसने कहा, "आर्द्र वस्त्र को त्यागकर विश्राम कीजिये देव!"

कुमारगिरि को जैसे कुछ ध्यान आया। उसने हाथ में लगे उस कौशेय वस्त्र को देखते हुए कहा, "अच्छा! मैं चित्रलेखा की प्रतीक्षा करूँगा।"

दूसरे दिन उसी समय मधुपाल भी एक ओर से आकर चित्रलेखा के भवन के सामने आ उपस्थित हुआ। तोरण पर खड़े प्रहरियों को देखकर वह पहले तो कुछ झिझका, फिर जैसे उनकी भी अवज्ञा करके भीतर चलने उद्यत हुआ। प्रहरियों ने उसके सामने भाले अड़ाकर कहा, "कहाँ जाते हो?"

"भीतर!" मधुपाल ने उन दोनों को देखते हुए कहा।

दोनों प्रहरियों ने एक दूसरे को देखा, फिर उससे कहा, "आप भीतर न जाकर बाहर ही रहिये। एक नर्तकी के गृह में आप जैसे साधु-सन्तों का कोई कार्य नहीं।"

"वाह! जब गुरुदेव का इस गृह में स्वागत हो सकता है तो फिर मैं वहाँ

क्यों नहीं जा सकता ? मुझे उन्हें एक विशेष सूचना देनी है।"

किन्तु प्रहरी नहीं माने। मधुपाल को भीतर जाने की आज्ञा नहीं मिली। मधुपाल ने जब बल लगाया तो उसे उन दोनों ने उठाकर बाहर फेंक दिया। इसके पश्चात् जब उसने उनकी आँख बचाकर भीतर जाने की चेष्टा की तो फिर पकड़ा गया और उसे मार्ग पर छोड़ दिया गया।

मधुपाल चुपचाप मार्ग के एक ओर वहीं पड़ी शिला पर बैठ गया। इधर-उधर उसकी दृष्टि घूमने लगी। सहसा चित्रलेखा के भवन के प्राकार के बाहर निकली एक वृक्ष की शाखा देखकर उसकी आँखें लुभित हो उठीं। वह वहाँ से चलकर उसी को पकड़कर भवन के प्राकार पर जा चढ़ा। किसी प्रकार से फिर उसी वृक्ष का सहारा लेते हुए भीतर प्रांगण में कूदा तो नीचे पड़े सूखे हुए पत्तों ने शब्द किया। वहाँ से उसके दौड़ने पर भी वह शब्द चारों ओर फैला। प्रहरी सचेत हुए। वह भीतर प्रांगण में उसे पकड़ने दौड़े। मधुपाल ने भी उन्हें देखा और प्राणपण से बल लगाकर भीतर की ओर भागा। प्रहरियों ने भी उसे भीतर पहुँचकर पकड़ लिया। वह हल्ला करने लगा। उसे सुनकर कुमारगिरि और सुनयना भी वहाँ आकर खड़े हुए। कुमारगिरि उसे देखकर चौंका।

मधुपाल उसे देखकर चिल्लाया, "मुझे छुड़ाइये गुरुदेव ! मुझे छुड़ाइये ! मैं तो आपको ही खोजने यहाँ आया था।"

एक प्रहरी ने कहा, "यह व्यक्ति मुझे चोर मालूम पड़ता है, हमने इसे भवन में प्रवेश नहीं करने दिया तो प्राकार लाँघकर यहाँ घुस आया। इसने हमें बहुत तंग किया है।"

मधुपाल कुमारगिरि की ओर देखकर गिड़गिड़ाया, "आप कुछ आज्ञा क्यों नहीं देते गुरुदेव ? कल से आप आश्रम में नहीं गये, मैंने यह सब आपके ही लिये किया देव ! मुझे मुक्ति दिलवाइये !"

वह किसी प्रकार से उन प्रहरियों के हाथ से छूटकर कुमारगिरि के चरणों में आ गिरा। कुमारगिरि जैसे चौंका। उसने कहा, "तो तू अभी तक मेरे आश्रम में है।"

"हाँ गुरुदेव ! मैं आपका आज्ञाकारी शिष्य स्वप्न में भी आपके चरणों

से दूर रहने की कामना नहीं कर सकता। आप आश्रम में चलिये, नहीं तो राजकोप की सम्भावना है।" मधुपाल ने कहा।

प्रहरियों ने उसे पकड़ा नहीं। वह एक ओर खड़े रहे।

मधुपाल ने कुमारगिरि के चरण जकड़ लिये थे। कुमारगिरि चिल्लाया, "दूर हो मूर्ख! तू यहाँ आने की नीचता करेगा, मुझे इसका ज्ञान नहीं था। तू महापापी है, दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से।"

मधुपाल गिड़गिड़ाया, "मैं सब कुछ हूँ गुरुदेव! पर आप यहाँ से चलिये। आपका आश्रम में रहना अत्यन्त आवश्यक है।"

कुमारगिरि की आँखों में क्रोध का प्रचंड रूप झलक आया। उसने तीव्र कंठ से प्रहरियों को देखकर कहा, "यह निश्चय ही चोर है, इसे दंडधरों को सौंप दो। ले जाओ इसे। मेरा शिष्य इतना नीच नहीं हो सकता।"

प्रहरियों ने बढ़कर उसे पकड़ लिया। वह उनसे छूटकर पुनः कुमारगिरि के पैरों में गिरा। परन्तु वह दूर हट गया।

मधुपाल रो उठा। उसने धरती पर ही सिर पटक कर कहा, "गुरुदेव! आश्रम पर न रहने से राजकोप होगा, आप चलिये!"

किन्तु योगी ने इस पर ध्यान नहीं दिया। वह वहाँ से भीतर चला।

प्रहरी मधुपाल को पकड़कर ले चले, अब वह चिल्लाया, "तुमने मुझे दंडधरों को सौंपने की आज्ञा दी है योगी! तुम अन्धे हो रहे हो, तुम पर राजकोप होगा?"

सुनयना ने सुना, वह प्रहरियों के पीछे-पीछे आ रही थी। उसने उन्हें रोककर कहा, "मधुपाल को छोड़ दो।"

प्रहरियों ने उसे छोड़ दिया। मधुपाल ने गद्गद् होकर सुनयना के पाँव पकड़ लिये, बोला, "तुम देवि हो, देवि! यह कार्य तुम्हारे ही योग्य है, तुम धन्य हो।"

फिर उसने ऊपर को हाथ जोड़कर जैसे ईश्वर की प्रार्थना की। फिर सहसा जैसे उसे कुछ ध्यान आया, वह उठ खड़ा हुआ; पाश्चात्ताप करता-सा वहाँ से चला।

"ओह! यह क्या किया भगवान? एक नर्तकी के पाँव पकड़ लिये। लोग

क्या कहेंगे ? जैसा गुरु वैसा ही चेला !"

प्रहरी वहाँ से जा चुके थे। सुनयना गम्भीर हो रही थी, पर उसे तब भी मधुपाल की बात पर हँसी आ गई।

मधुपाल वहाँ से धीरे-धीरे चला जा रहा था। सहसा वह फिर लौटा, जैसे कुछ ध्यान आया। उसने लौटकर पुनः सुनयना के पाँव पकड़ लिये; कहने लगा, "देवि ! जैसे तुमने मुझे मुक्ति प्रदान की है, वैसे ही गुरुदेव को भी मुक्त कर दो ! मैं तुम्हारा यश……………"

कहते-कहते सहसा उसका मुख बन्द हो गया। उसने देखा, कुमारगिरि आ रहा था। वह धीरे-धीरे सुनयना के चरण छोड़कर बैठ गया। कुमारगिरि ने उसे देखकर कहा, "अभी तक तू यहीं है, गया नहीं !"

मधुपाल ने कुछ नहीं कहा। कुमारगिरि ने उसके उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं की। वह सुनयना से कहता हुआ चला गया, "मैं चित्रलेखा के पास जा रहा हूँ सुनयना ! बीजगुप्त के यहाँ !"

सुनयना ने उसे नहीं रोका।

कुमारगिरि वहाँ से चलकर बीजगुप्त के भवन के सामने जा खड़ा हुआ, किन्तु सहसा ही उसे भीतर जाने का साहस नहीं हुआ। तोरण बन्द थे, उन्हें खुलवाने के लिये उससे सहसा यत्न करते नहीं बना। कुछ समय तक वहीं तोरण की छाया में खड़े रहकर उसने जैसे कुछ साहस संकलित किया फिर अपने हृदय की धड़कन बलपूर्वक दबाकर उसने तोरण खटखटाया। तोरण तत्काल खुला, वह सहम गया, विस्मय हुआ। किन्तु द्वार उसके लिये उन्मुक्त नहीं हुआ था। उसने देखा—एक रथ बाहर आ रहा था। वह एक ओर हट गया। उसे रथ में बैठी किसी स्त्री की झलक दिखाई दी। वह धड़कते हृदय से अन्धेरे में खड़ा हो गया। रथ बाहर निकल चला। वह उसी ओर देख उठा। तोरण बन्द हो गया। कुमारगिरि ने इस पर ध्यान नहीं दिया। उसने रथ की ओर देखकर पुकारना चाहा, "चित्रलेखा !" पर रथ को विपरीत मार्ग पर मुड़ते देखकर उसका स्वर कण्ठ से बाहर नहीं आया। उसकी श्वास तीव्र गति धारण कर उठी, तब मार्ग के प्रकाश स्तम्भ के आलोक ने उस रथ में झाँककर यह भी स्पष्ट कर दिया था कि उसमें कौन बैठा है उसने

मृत्युञ्जय के साथ उनकी कन्या को बैठे हुए देख लिया।

अब वह पुनः तोरण पर आया, उसने उसे खुलवाने का साहस जैसे फिर एकत्र किया। वह द्वार को खटखटाना ही चाहता था कि कुछ अश्वारोहियों के आगमन ने उसे चौंका दिया। उसने मुड़कर मार्ग पर देखा—दण्डधर अश्वारोहियों का एक दल उधर ही आ रहा था। उनके शिरस्त्राण तथा भाले मार्ग पर खड़े प्रकाशस्तम्भों के आलोक में चमकते थे। वह वहीं आकर रुके। कुमारगिरि ने द्वार खटखटाया।

उस शब्द को सुनकर एक अश्वारोही ने आगे बढ़कर पूछा, "कौन है?"

कुमारगिरि ने उत्तर दिया, "योगी कुमारगिरि!"

तभी तोरण की खिड़की खुली। भीतर से आकर प्रकाश बाहर भी फैला। कुमारगिरि उसीमें दिखाई पड़ा।

अश्वारोही ने कहा, "हम तुम्हीं को खोजते थे।" और उसने अपने साथी दंडधरों को संकेत किया। वह बढ़कर योगी के चारों ओर हो गये।

कुमारगिरि को कुछ विस्मय हुआ। उसने कहा, "मुझे क्यों खोजते थे तुम लोग?"

"क्योंकि तुमने आश्रम त्याग दिया है, और अब तुम कहाँ जाओगे कौन जानता है? अपराधी के रूप में राज्य की तुम पर दृष्टि है, इसी कारण तुम बन्दी हो।" उसी अश्वारोही ने कहा।

कुमारगिरि ने कहा, "मैं अपराधी हूँ? नहीं, मैं आश्रम त्याग कर कहीं नहीं जाऊँगा।"

किन्तु उसकी बात किसी ने नहीं सुनी।

कुमारगिरि बन्दी था।

न्यायाधिकरण का दृश्य अपूर्व था। नगर के प्रतिष्ठित सामन्त, श्रेष्ठि तथा राजपुरुषों ने एकत्रित होकर उसे राज्य-सभा का-सा सौन्दर्य्य प्रदान किया था। और वहाँ समादर प्राप्त करते हुए ऋषि-मुनियों और तपस्वियों का समूह एक ओर आसन जमाकर जैसे किसी धर्मसभा को पूर्ण करता था। फिर नगरवासियों की भीड़ कुतूहल को मूर्त्तिमान कर रही थी, गोलाकार प्रेक्षा-वीथी में उसका जमाव था। वहाँ कोलाहल नहीं, कुछ-कुछ उत्सुकता-जनित फसफसाहट होती थी।

कुछ काल में वहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के आगमन की सूचना फैली। उसमें राजगुरु चाणक्य के भी साथ होने की बात थी। महादण्डनायक उन दोनों विभूतियों के साथ थे। तीनों ही तूर्य्य, दुंदुभी के स्वरों के साथ एक साथ प्रकट हुए। समस्त उपस्थित जनों ने उनका खड़े होकर स्वागत किया। इन्होंने न्यायाधिकरण की गद्दियाँ सुशोभित कीं। लोग पुनः बैठ गये।

एक हलचल समाप्त हुई। दूसरी हलचल की लोग प्रतीक्षा कर उठे। महादण्डनायक ने खड़े होकर कहा, "योगी कुमारगिरि को न्यायाधिकरण में उपस्थित किया जाय।"

आज्ञा पाकर न्यायगद्दी के नीचे खड़े हुए दो नायक तत्काल ही वहाँ से चल दिये। कुमारगिरि को लेकर आने में उन्हें विलम्ब नहीं हुआ। कुमारगिरि पर सकल जनसमुदाय की दृष्टि गड़ गई। वह सिर झुकाये हुए चला आता था, किसी ओर देखने की जैसे उसे इच्छा नहीं। नायक जब उसे प्रकोष्ठ के मध्य में ले आकर खड़े हुए तो उसने सामने सम्राट् की ओर देखा; राजगुरु चाणक्य पर भी दृष्टि गई, फिर जैसे महादण्डनायक पर स्थिर होकर वह शून्य में विचरने लगी।

महादण्डनायक ने तभी उससे कहा, "कुमारगिरि?"

कुमारगिरि ने जैसे उन्हें देखा, कुछ कहा नहीं।

महादण्डनायक ने फिर पुकारा, "कुमारगिरि!"

कुमारगिरि के मुख से निकला, "हाँ।"

जैसे सम्पूर्ण न्यायाधिकरण चौंक पड़ा। योगी जैसे दृढ़ होकर आगत का सामना करने के लिये प्रस्तुत हुआ।

महादण्डनायक ने कहा, "तुमने महाशिवरात्रि को हिरण्यवाहेश्वर घाट के ऊँचे खण्डहरों पर से सामन्त बीजगुप्त को धक्का मारकर गिरा दिया; क्या अपना यह अपराध तुम स्वीकार करते हो?"

कुमारगिरि ने कहा, "जिस क्षण किसी के नृत्य-संसार में समग्र वातावरण चक्कर काटता था, किसी की रूपराशि पर लोगों की आँखें स्थिर थीं, स्वयं को सब भूल बैठे थे; मैं नहीं जानता कि मैंने क्या किया? किसी को गिराया या स्वयं गिरा?"

महादण्डनायक ने सम्राट् की ओर देखा, उनकी आँखें राजगुरु से भी मिलीं। चाणक्य के मुख पर मुस्कराहट फैली। उन्होंने कुमारगिरि की ओर देखा फिर कहा, "आत्मबल से सम्पन्न योगी! तुम देखते नहीं हो तुम्हारा न्याय देखने के लिए कितना जनसमूह उपस्थित है। उससे भी कहीं अधिक जिन सम्राट् के सामने तुम्हारे योग का अभिमान तुम्हें शिष्टता की सीमाओं से दूर ले गया था, राजसभा का अपमान किया था, वह सम्राट् उपस्थित हैं। क्या तुम बता ओगे कि तुम उस दिन सत्य की सीमा से दूर थे या आज हो रहे हो! तुमने चित्रलेखा में आसक्त होकर बीजगुप्त को नहीं गिराया?"

कुमारगिरि ने कहा, "मैं किसी भी दिन सत्य की सीमाओं से दूर नहीं था महात्मन्! मैं बन्दी हूँ, घृणाभाव से मेरी ओर देखकर लोग जिस प्रकार आज इस सत्य को देखते हैं, उसी प्रकार मैं कहूँगा, मेरी आज की बातें भी असत्य नहीं। और उस दिन जब यह संसार मेरी महानता के चरणों में झुककर मेरी पूजा करता था, लोक इस सत्य को मानता था कि मैं अपूर्व योगी हूँ, वैसे ही तब मेरे द्वारा उस दिन की सभा को मिला धिक्कार भी सत्य था! मैं पूछता हूँ क्या न्याय दृष्टि में चित्रलेखा से कोई प्रश्न नहीं किया जायगा?"

कुमारगिरि का गम्भीर स्वर उस विस्तृत प्रकोष्ठ में फैलता था; उसकी अपार निर्भीकता का लोग विस्मय से स्वागत करते थे।

किन्तु कुमारगिरि स्वयं को यत्न करके दृढ़ बनाये था। चित्रलेखा से उसे बहुत आशा थी। वह अभी तक नहीं आई, उसका हृदय वेदना से व्याकुल था। उसकी बात सुनकर चाणक्य ने महादण्डनायक की ओर देखा, उनसे कहा, "चित्रलेखा को अभी तक नहीं बुलाया गया!"

महादण्डनायक इससे प्रथम कि कुछ कहें, न्यायाधिकरण में चित्रलेखा ने प्रविष्ट होकर कहा, "मैं उपस्थित हूँ देव! विलम्ब के लिये दासी क्षमा याचना करती है।"

वह कुमारगिरि के बराबर में आकर खड़ी हुई। कुमारगिरि ने उसकी ओर देखा। कुछ कहना चाहा, परन्तु चित्रलेखा सामने ही देखती थी। महादण्डनायक ने उससे पूछा, "नर्तकी! क्या योगी कुमारगिरि ने सामन्त बीजगुप्त को ऊपर खण्डहरों पर से धक्का देकर उन्हें मृत्यु-मुख में डालने की चेष्टा की?"

चित्रलेखा कुछ क्षण शान्त रहकर जैसे कुछ विचार उठी। कुमारगिरि का हृदय धड़कता था, उसने चित्रलेखा पर दृष्टि स्थिर करदी। किन्तु चित्र-लेखा ने उसकी ओर नहीं देखा। वह गम्भीर स्वर में बोली "हाँ!"

सुनकर योगी चौंका। उसके मुख से निकला, "चित्रलेखा!" चित्रलेखा ने कुमारगिरि की ओर देखा। दृढ़ स्वर में उसने कहा, "हाँ योगी! वास-नाओं के वशीभूत होकर तुमने आर्य बीजगुप्त को ऊपर से गिरा दिया।"

न्यायाधिकरण की प्रत्येक दीवार से वह स्वर टकराया, वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति ने चित्रलेखा की ध्वनि सुनी। चित्रलेखा ने अपनी बात कहकर आँखें कुमारगिरि से दूर कर लीं।

कुमारगिरि का हृदय जैसे सन्न रह गया। उसकी धड़कन सहसा रुक-सी गई। उसने विकल होकर आँखें बन्द कर लीं।

महादण्डनायक ने चित्रलेखा से कहा, "तुम ठीक कहती हो नर्तकी! राज्य ने योगी कुमारगिरि के अपराध की पूर्ण परीक्षा कर ली है, किन्तु मैं पूछता हूँ, कुमारगिरि ने ऐसा क्यों किया?"

"मुझमें आसक्त होकर, अपनी योग-साधनाओं से पतित होकर।"

कहकर चित्रलेखा ने योगी की ओर देखा। उसके मुख पर करुणा का साम्राज्य फैला था। चित्रलेखा ने जैसे उसकी भी अवहेलना करके आगे कहा, "भरी सभा में वासनाओं के इस अभिमानी विजेता ने मेरा अपमान किया था, मैंने इसे अपने रूप जाल में जकड़ लिया। कामी कुंजर की भाँति यह योगी जब आर्य बीजगुप्त का प्रतिद्वन्द्व सहन न कर सका, उनके द्वारा मुझे मिला आह्वान जब इस दम्भी से देखा नहीं गया, इसने उनके प्राण लेने के लिये उन्हें नीचे गिरा दिया। परमभट्टारक! साम्राज्य में ऐसे पतित व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।"

चारों ओर से स्वर उठे, "हाँ! ऐसे पापी को कठोर दण्ड मिलना चाहिए।"

योगी ने विकल होकर चारों ओर देखा। चित्रलेखा के कठोर मुख पर उसने दृष्टि जमा दी। उसकी आँखों से जैसे चिनगारियाँ निकलने लगी थीं। वह चिल्लाया "यह कैसा छल है चित्रलेखा? यह कैसा कपट है सुन्दरी?"

चित्रलेखा ने उसे देखा। वह भी कठोर स्वर में बोली, "आँखों में झाँककर तुम यह भी स्मरण नहीं कर सके कि महाप्रभु रत्नाम्बर की छाया से भी तुम्हारे कटुवचन मुझे दूर फेंक देना चाहते थे, यह वही छल है योगी! आलिंगन पाश की जिस मदिर प्रच्छन्नता ने तुम्हें यह भुला देने को विवश कर दिया कि तुमने सम्राट् की महासभा में इसी नागिन पर पाँव रक्खा था, उसी का कपट है मूर्ख!"

योगी ने एक दीर्घ श्वास खींची और आँखें बन्द करलीं। सम्राट् योगी पर दृष्टि स्थिर किये थे। उन्होंने कुछ क्षण तक उसे देखते रहने के बाद सभा में चारों ओर देखकर कहा, "उपस्थित जन? इस दम्भी व्यक्ति को क्या दण्ड देना उचित होगा?"

सभा में उस क्षण एक सन्नाटा छा गया। फिर कुछ फुसफुसाहट फैली, इसी सलाह के लिये बुलाये गये लोग जैसे परस्पर विचार करने लगें। अन्त में चारों ओर से लोगों ने खड़े होकर कहा, "इस योगी को अंग-भंग का दण्ड मिलना चाहिए!"

चारों ओर से समर्थन प्राप्त हुआ, "हाँ ऐसा ही होना चाहिए।"

सुनकर कुमारगिरि ने चित्रलेखा की ओर देखा और चित्रलेखा ने कुमारगिरि की ओर। कुमारगिरि का मुख निष्प्रभ था, अत्यन्त निरीह प्रतीत होता था; चित्रलेखा का हृदय जैसे उस सभा के निर्णय से काँप उठा। उसके मुख पर छाई कठोरता जैसे स्वतः ही हटने लगी। गात्र सिहर उठा। और जैसे वह सहसा ही स्वयं से प्रश्न कर उठी, 'क्या वह इतनी क्रूर है? क्या उसका प्रतिशोध इतना कठोर होगा?'

भीतर ही भीतर जैसे उसे विकलता ने आ घेरा, "नहीं! नहीं!" और वह चिल्लाई, "योगी को इतना कठोर दण्ड मत दीजिए सम्राट्!"

कुमारगिरि ने चित्रलेखा की ओर देखा। उसे जैसे विश्वास नहीं हुआ, 'क्या सचमुच ही चित्रलेखा चिल्लाई है?'

'हाँ, वही तो है; इतनी कठोर वह नहीं हो सकती।' उसके मुख पर कुछ मुदित रेखायें दौड़ीं।

चित्रलेखा के स्वर को सभी ने सुना। विस्मय से सब उसी को देख उठे। चित्रलेखा ने सम्राट् पर अपनी आँखें टिका दी थीं, और वह उसी को देखते थे— उसी विस्मित भाव से, जिससे वह समग्र सदन को आकर्षित किये थी। साथ ही वह दोनों के पीछे किसी और को भी देखते थे। उसीसे उन्होंने पूछा, "तुम क्या कहते हो बीजगुप्त?"

बीजगुप्त! चित्रलेखा चौंकी, कुमारगिरि ने भी अपने पीछे देखा। बीजगुप्त अस्वस्थावस्था में भी शिविकारूढ़ होकर न्यायाधिकरण में उपस्थित था। उसने किसी की ओर न देखते हुए सम्राट् के प्रश्न का उत्तर दिया, "परम भट्टारक! योगी को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। उन्होंने कोई अपराध नहीं किया।"

यह बात और भी विस्मयोद्पादक थी। न्यायाधिकरण में भरे हुए लोगों के मुख ऐसे ही विचित्र भाव में डूब रहे थे।

महादण्डनायक ने कहा, "सो कैसे आर्य बीजगुप्त!"

बीजगुप्त ने कहा, "उस अज्ञात नर्तकी के मोह में उस रात्रि को कौन विमुग्ध नहीं था महादण्डनायक! मैं भी, हिरण्यवाहेश्वर महादेव के चरणों में

रात्रि जागरण करने वाले भक्त लोग भी, और योगी कुमारगिरि भी। सभी तो उस नृत्याङ्गना की मोह निद्रा में आँखें बन्द किये थे। अपने आवाहन, सहसा उसी को निकट पाकर किसी की क्या दशा होती, विचारिये तो। मैं उससे लिपटने दौड़ पड़ा; असावधानी होनी ही थी, पाँव डगमगा गया और नीचे गिर पड़ा! इसमें योगिराज का क्या दोष?"

बीजगुप्त की बात सुनकर जैसे चित्रलेखा ने कुछ कहना चाहा। बीजगुप्त ने यह समझ कर उसे रोक दिया, कहा, "ठहरो तो! सभी कुछ तो कह चुकी हो तुम!"

चित्रलेखा मन मसोस कर रह गई।

महादण्डनायक ने बीजगुप्त से गम्भीर स्वर में कहा, "तो योगी कुमारगिरि निर्दोष हैं!"

"हाँ देव! उतने ही, जितने कि उस नृत्य को देखने वाले अन्य दर्शक!" बीजगुप्त ने कहा।

"इसका अर्थ यह हुआ कि चित्रलेखा का कथन असत्य है!" कहकर महादण्डनायक ने चित्रलेखा की ओर देखा। उससे कहा, "किन्तु तुम असत्य क्यों कहती हो?"

चित्रलेखा मर्माहत हो उठी। उसकी आँखें जैसे जल उठीं। उसने कहा, "मैं झूठ नहीं बोली।"

बीजगुप्त ने कहा, "हाँ महादण्डनायक! देवि सत्य कहती हैं। इनके कथन से इतना तो स्पष्ट है ही कि योगी कुमारगिरि के प्रति कैसी भावनाओं से इनका हृदय प्रज्वलित है।"

चित्रलेखा शिविका की छाया में बैठे हुए बीजगुप्त को देख उठी। वह चिल्लाई "बीजगुप्त! तुम इतने कठोर हो बीजगुप्त।"

बीजगुप्त ने कहा, "शान्त हो नर्तकी! न्यायगृह में इस प्रकार उत्तेजित होना तुम्हें किसी प्रकार भी उचित नहीं।"

चित्रलेखा शान्त हो गई।

न्यायाधिकरण का वायुमण्डल एक विचित्र लहर से भर गया था। महादण्डनायक की आँखें सम्राट् से मिलीं, राजगुरु चाणक्य के मुख पर भी

पहुँचीं। और लोग कभी उन ऊपर बैठी त्रिमूर्त्तियों को देखते थे और कभी मण्डप के मध्य में उपस्थित त्रिमूर्त्तियों को।

महादण्डनायक ने चित्रलेखा से पूछा, "तुम कुछ कहती हो चित्रलेखा!"

चित्रलेखा ने बीजगुप्त की ओर देखना चाहा, पर देखने के लिये आँखें उधर नहीं गईं। उसने कहा, "नहीं! आर्य बीजगुप्त की बात का मैं खण्डन नहीं करती।"

सुनकर महादण्डनायक ने जैसे सम्राट् और राजगुरु की ओर देखकर कुछ मन्त्रणा की, फिर कहा, "योगी कुमारगिरि! तुम मुक्त हो!"

कुमारगिरि चुपचाप खड़ा था। महादण्डनायक का कथन सुनकर उसने जैसे उन्हें देखा। महादण्डनायक ने तभी चित्रलेखा से कहा, "परमयोगी कुमारगिरि से तुम्हारा द्वेष स्वाभाविक है नर्तकी! फिर भी इस प्रकार से किसी निरपराध को दण्डित करवाने की तुम्हारी चेष्टा तुम्हें किसी भी क्षण नष्ट कर सकती है, सावधान।"

कुमारगिरि की आँखें अब चित्रलेखा की ओर उठ गईं।

सम्राट् उठ खड़े हुए; महादण्डनायक और चाणक्य भी। न्यायसभा भङ्ग हुई। चारों ओर हलचल हुई; कोलाहल हुआ।

कुमारगिरि ने मुड़कर शिविका में बैठे बीजगुप्त को देखा। उससे उसकी आँखें मिलीं, एक बार उसने चाहा कि वह बीजगुप्त के चरणों में गिर पड़े, किन्तु चारों ओर की भीड़! वह वहाँ से चुपचाप चल दिया। लोगों ने उसे घेर लिया। चर्चा सुनाई पड़ी, "योगी कुमारगिरि महान है।"

चित्रलेखा और बीजगुप्त की आँखें मिलीं। चित्रलेखा उसी को देखने लगी, वहाँ से गई नहीं। अनेक व्यक्ति बीजगुप्त के चारों ओर घिर आये। बीजगुप्त ने सबको प्रणाम किया। शिविका-वाहकों ने शिविका उठाई। उसके एक ओर चित्रलेखा चली, दूसरी ओर श्वेतांक!

प्रांगण में आकर चित्रलेखा ने बीजगुप्त से कहा, "तुमने यह क्या किया आर्य?"

"वही जो मुझे करना चाहिए था।"

"क्या मेरा अपमान?" चित्रलेखा ने रोषपूर्ण स्वर में कहा।

"नहीं ! अपना कर्त्तव्य !" बीजगुप्त ने कहा ।

चित्रलेखा ने दुखित स्वर में कहा, "तो क्या तुम्हारे कर्त्तव्य में मेरे लिये कुछ भी विचार नहीं था ?"

बीजगुप्त ने सिर हिलाकर अस्वीकार किया और कहा, "अपने कर्त्तव्य में अपने अतिरिक्त और किसी का विचार नहीं होता चित्रलेखा !"

चित्रलेखा तड़प उठी । उसने भर्राये हुए स्वर में कहा, "तुम इतने कठोर हो बीजगुप्त, मैं नहीं जानती थी । इतने झूठे और इतने प्रवंचक ?"

और वह अपने रथ में जा बैठी ।

बीजगुप्त ने श्वेतांक से कहा, "श्वेतांक ! चित्रलेखा संयत नहीं है, उसे उसके भवन तक पहुँचा आओ !"

श्वेतांक चित्रलेखा के रथ पर आ बैठा । चित्रलेखा ने उससे कुछ नहीं कहा । वह जैसे मन ही मन इठ रही थी । एक ओर स्थिर दृष्टि से देखती हुई बैठी थी । रथ उन्हें लेकर चल पड़ा । श्वेतांक कभी-कभी चित्रलेखा को देख लेता ।

शीघ्र ही रथ अपने स्थान पर पहुँचा । चित्रलेखा रथ से उतरकर भीतर चली गई । श्वेतांक उसके पीछे-पीछे । भीतर पहुँचकर चित्रलेखा से सुनयना का सामना होते ही सुनयना ने उससे कहा, "तुम्हारा पतंग मुक्ति मिलते ही यहाँ फिर आगया है ।"

चित्रलेखा जैसे सुनयना की बात पर चौंक पड़ी । उसने उसे देखा । साथ ही उसकी दृष्टि और आगे तक गई । उसने देखा—कुमारगिरि सामने गर्भगृह के द्वार पर खड़ा था ।

चित्रलेखा ने उसे देखा और उसकी आँखों से जैसे बिजली निकलने लगी । पर सहसा ही उसका ध्यान पीछे श्वेतांक पर गया । उसने अपने किसी भाव को दबाकर आगे कुमारगिरि की ओर बढ़ते हुए कहा, "स्वागत है योगिराज ?"

श्वेतांक कुमारगिरि को विस्मय से देखता था, चित्रलेखा के वचन ने उसे और विस्मित कर दिया ।

कुमारगिरि ने चित्रलेखा की बात सुनी और जैसे उसके हृदय पर शान्ति

की दो बूँद पड़ीं। उसने आगे बढ़कर कहा, "मैं जानता था चित्रलेखा कि तुम छलना नहीं हो सकतीं! तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है!"

चित्रलेखा मुस्करा दी। वह उसके निकट हुई और उसके कण्ठ में दोनों हाथ डालकर जैसे भूल-सी गई। आँखें उसकी आँखों में डाल दीं। किन्तु एक आँख से फिर भी वह श्वेतांक को देखती थी। वह योगी को लेकर भीतर चली।

श्वेतांक उस स्त्री के इस आचरण को देखकर सहम गया। प्रांगण में वह कितनी उद्विग्न थी, और यहाँ जैसे उसे कुछ हुआ ही नहीं। क्या उसके स्वामी के प्रति उसका प्रेम केवल एक दिखावा मात्र है! पूरे एक पक्ष तक दिन रात जागकर अपने स्वामी की सेवा करने वाली इस रमणी का यह आचरण उसे अच्छा नहीं लगा। वह आगे बढ़ते-बढ़ते रुक गया। सहसा उसके कानों में भीतर से आकर पड़ा, "वह एक छल था कुमारगिरि! तुम्हें बचाने का एक प्रपंच! मैं जानती थी बीजगुप्त चाहे कितने ही अस्वस्थ सही, वह अवश्य आयेंगे!"

यह चित्रलेखा का स्वर था।

"किन्तु तुम बीजगुप्त के यहाँ इतने दिन रहीं सो!"

"कैसी बालकों की सी बात करते हो! किसी न किसी तरह तुम्हें बचाना तो था ही।" चित्रलेखा ने कहा।

श्वेतांक जैसे उत्तेजित होता जा रहा था। क्या यह वही कुछ पहले की स्वामी को बार-बार इस अस्वस्थावस्था में न्यायाधिकरण में जाने से रोकने वाली स्त्री है? क्या उनकी इतने स्नेह से परिचर्या करने वाली यह रमणी केवल एक झूठा मोह है? वह भीतर जा पहुँचा। चित्रलेखा अभी भी कुमार-गिरि के कंठ से लिपटी शय्या पर बैठी थी। श्वेतांक ने झपटकर चित्रलेखा को हाथ पकड़कर खींच लिया। वह चिल्लाया, "चित्रलेखा!"

चित्रलेखा ने उसका हाथ झटक दिया, उपेक्षा पूर्ण स्वर में कहा, "क्या है?"

"तुम इतनी नीच हो, मैं नहीं जानता था!"

चित्रलेखा ने कटु स्वर में कहा, "तो अब जान लो और यहाँ से चले जाओ!"

श्वेतांक सन्न रह गया। वह वहाँ से चलते हुए बोला, "जाता हूँ। मैं सब कुछ स्वामी से कह दूँगा।"

चित्रलेखा हँस दी। एक विवर्ण हँसी।

श्वेतांक चला गया।

कुमारगिरि एकान्त पाकर चित्रलेखा की ओर बढ़ा। चित्रलेखा तब और वेग से हँस पड़ी फिर सहसा रुककर उसने कुमारगिरि की ओर देखा। कुमारगिरि ने कहा "चित्रे! उन निर्जन खंडहरों में मुझे पास बुलाकर अपने आलिंगन पाश में आबद्ध कर लेने की तुम्हारी आतुरता, तुम्हारे तृषित यौवन की अँगड़ाइयाँ, न्यायाधिकरण में तो मैं समझा जैसे वह मुझे ठग लेने का एक जाल ही था।"

चित्रलेखा उठ कर खड़ी होगई। उसने तप्त स्वर में कहा, "हाँ योगी! वह एक जाल ही था। उस जाल से अब तुम मुक्त हो गये हो। तुम जाओ!"

योगी को विस्मय हुआ। वह बोला, "क्या कहती हो चित्रे?"

चित्रलेखा ने दाँत पीसकर कहा, "यहाँ से जाओ कुमारगिरि।"

"क्या होगया तुम्हें?" कहकर कुमारगिरि ने चित्रलेखा का हाथ पकड़ लिया।

चित्रलेखा ने उसका हाथ झटक दिया। फिर कहा, "न्यायाधिकरण में पहुँचकर भी तुम्हारा ध्यान भंग नहीं हुआ योगी! ढाल पर उमड़ने वाली तरल रेखाओं के समान मैं! तुम जैसे किसी ढाल की मुझे कोई चिन्ता नहीं। मुझे तुमसे कोई सरोकार नहीं। मूढ़ योगी, एक बार मेरे वेग से बचकर क्यों उसी में फिर आ जाना चाहते हो?"

वह वहाँ से चली। कुमारगिरि ने उसका उत्तरीय पकड़ लिया। उसने कहा, "नर्तकी! मुझसे कोई अपराध हुआ? सहसा इतनी कठोर कैसे हो उठीं तुम। यह निष्ठुर व्यवहार तुम्हें नहीं सुहाता! मुझे इस तरह न ठुकराओ।"

चित्रलेखा खड़ी हो गई, उसकी ओर पलट पड़ी। उसके नेत्रों से जैसे आग निकलती थी। उसका मुख रक्तिम आभा में झलमलाता था। वह क्रोध में काँपती थी। उसने कहा, "तुम चाहते हो योगी कि पाषाण से टक-

ताओ और आहत न हो, भयानक वेग से चलने वाली नदी के आवर्त में पड़ कर भी सुरक्षित रहो, प्रभंजन की लपेट में आकर भी स्थिर खड़े रहो और सर्पिणी को कुचल कर भी कामना करते हो कि वह तुम्हें डसे नहीं। कापुरुष अपदार्थ योगी! तुम यहाँ से चले जाओ।"

चित्रलेखा की बात सुनकर योगी सहसा तनकर खड़ा होगया; उसने चित्रलेखा को खींचकर उसका हाथ पकड़ लिया। उसकी आकृति क्रोध के मारे लाल हो गई। दाँत भींचकर बोला, "आह! मूर्ख मैं! प्रतिशोध की आग में जलता हुआ यहाँ आकर मैं पुनः तुम्हारे जाल में पड़ गया नर्तकी! बार-बार पलट जाने वाली नागिन मैं तुम्हें नष्ट कर दूँगा।"

उसका स्वर उस कक्ष में गूँज गया। चित्रलेखा भयभीत नहीं हुई। उसने चीखकर कहा, "मुझे भयभीत करते हो कामी कुत्ते!"

उसने कुमारगिरि का हाथ मुँह में भर लिया। किन्तु कुमारगिरि ने उसे नहीं छोड़ा। दूसरे हाथ से उसने उसका कंठ पकड़ लिया। चित्रलेखा विवश हो उठी। कोलाहल सुनकर सहसा तभी वहाँ सुनयना ने प्रवेश किया। वह योगी को चित्रलेखा का कंठ दबाते देखकर चीख पड़ी, "बचाओ! बचाओ!"

कुमारगिरि को खोजता हुआ विशालदेव भी तब उसी भवन में आ गया था। सुनयना की पुकार सुनकर वह दौड़ता हुआ वहीं पहुँचा। कुमारगिरि को जाकर उसने पकड़ लिया। चित्रलेखा के कंठ का बन्धन उसने कुमारगिरि का हाथ पकड़कर छुड़ाया। कहा, "योगिराज! काम के वशीभूत होकर आप जिस दशा को प्राप्त हुए हैं, क्या वह शोभनीय है? क्रोध के कारण और भी पतित होकर स्वयं को क्यों विनष्ट करते हो?"

कुमारगिरि ने विशालदेव को देखा, उसकी जकड़ से छूटने की उसने चेष्टा की और कहा, "विशालदेव! इस नर्तकी ने....।"

विशालदेव ने उसकी बात काटकर कहा, "अपने आप पर भी जब तुम्हारा वश नहीं रहा योगी, तो इस नर्तकी को दोष देने से क्या लाभ? चलो, यहाँ से चलो।"

कुमारगिरि जैसे कुछ शान्त हुआ। उसने चित्रलेखा की ओर देखा। उसे सुनयना पकड़े खड़ी थी। वह उसी को अनेक क्षणों तक देखता रहा।

विशालदेव ने फिर कहा, "योगिराज! किसी के मनोरम रूप में कितना सौन्दर्य है! तृष्णा की आकुलता में कितनी मिठास है! यदि यह समझ लिया हो तो चलो! मैं तुम्हें लौटा लेने के लिये आया हूँ।"

कुमारगिरि ने उसकी ओर देखा। विशालदेव ने उसे छोड़ दिया था, पर वह उसका हाथ तब भी पकड़े था। दोनों की आँखें अनेक क्षणों तक मिली रहीं, फिर सहसा कुमारगिरि ने कहा, "चलो विशालदेव! यहाँ से शीघ्र चलो।"

मृत्युञ्जय अपनी पुत्री की दशा देखकर अत्यन्त चिन्तित थे। वह नहीं समझ पा रहे थे कि क्या करें! यशोधरा बहुत क्षीण हो चली थी ; वह जैसे किसी दारुण रोग में फँसी हुई-सी पीली पड़ गई थी।

क्यों?

इसका मृत्युञ्जय केवल अनुमान कर सकते थे और कुछ नहीं। पहले उन्हें ऐसा लगा था जैसे वह बीजगुप्त की ओर आकर्षित है, उसमें अनुरक्त है— तभी उन्होंने बीजगुप्त से उसका पाणिग्रहण कर लेने की प्रार्थना की। उसके उत्तर से उन्हें कुछ-कुछ आशा भी लगी, किन्तु यशोधरा के व्यवहार ने बीजगुप्त से उत्तर पाने के लिये जैसे कुछ रक्खा ही नहीं।

परन्तु!

यशोधरा का बाद का व्यवहार भी उनकी समझ में नहीं आता था। बीजगुप्त की मूर्च्छितावस्था में उसके पास दिन रात रहने से उन्होंने उसे रोका नहीं था। और अब भी जब वह स्वास्थ्य लाभ करता जा रहा है, यशोधरा उसकी कुशल-क्षेम जानने के लिये कभी स्वयं चली जाती है और कभी वह वहाँ हो आते हैं या कोई अन्य परिचारक! बीजगुप्त से यशोधरा को इतना स्नेह क्यों है? एक दिन जैसे इसी की परीक्षा लेने के लिये उन्होंने यशोधरा से जब वह बीजगुप्त के यहाँ जाने को प्रस्तुत थी, पूछा, था, "क्या करोगी वहाँ जाकर? बीजगुप्त ठीक ही है।"

यशोधरा बोली, "सो कैसे हो सकता है पिताजी! मुझे जीवनभर स्मरण रहेगा कि एक दिन उन्होंने मेरा उद्धार किया था। उनकी जो कुछ भी हमसे सेवा बन सके, वह करनी ही चाहिए!"

वास्तव में यशोधरा का उत्तर यथार्थ ही था। वह यशोधरा के व्यवहार में बाधा नहीं बन सके।

फिर!

यशोधरा की यह दशा तो उन पर नहीं देखी जाती। वह लावण्य जिसके

कारण यशोधरा अपनी सखियों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञात होती थी, कहाँ चला गया। वह रूप जिसके कारण उन्हें भरोसा था कि किसी राजकुमार को भी उसके लिये यदि खोजें तो उन्हें कठिनाई न होगी, धीरे-धीरे न जाने कैसे मद्धिम पड़ता जा रहा है।

यशोधरा के विषय में वह बहुत चिन्तित थे। उसके विवाह के लिये विशेष रूप से। क्या करें फिर ?

जैसे इसी चिन्ता में निमग्न-से वह वृद्ध सामन्त अपनी पुत्री के समीप पहुँचे। उन्होंने देखा—यशोधरा अपने प्रकोष्ठ में धरती पर आसन बिछाकर बैठी थी, रामायण का पाठ हो रहा था। यशोधरा ने जैसे ही अपने पिता को देखा, उसने कहा, "श्रीराम का चरित्र कितना सुन्दर है पिताजी ? कितनी शान्ति मिलती है इसे पढ़कर।"

मृत्युञ्जय कुछ नहीं बोले। यशोधरा ने पत्र पलटते हुए कहा, "सुनेंगे आप ? देखिए माता जानकी के हृदय में महर्षि कितनी गहराई तक झाँक उठे हैं ?"

मृत्युञ्जय एक आसन्दी पर बैठते हुए बोले, "रहने दो यशोधरा ! मुझे इस सबसे शान्ति नहीं मिलती।"

यशोधरा ने आँखें उठाकर जैसे उन्हें विस्मय से देखा। मृत्युञ्जय ने उसके इस भाव को समझकर कहा, "सच यशू ! अपनी शान्ति के लिए मुझे इस समय और ही कुछ चाहिए।"

यशोधरा ने दृष्टि झुकाकर एक दीर्घ श्वास खींची। मृत्युञ्जय उठकर बाहर चले गये। समझदार पुत्री के सामने वह अपने मन की बात प्रकट करें भी तो और किस तरह ?

यशोधरा ने रामायण बन्द कर दी। किन्तु आसन से नहीं उठी। उसने आँखें मूँद लीं, जैसे स्वयं में खो गई।

कुछ काल में मृत्युञ्जय ने पुनः आकर कहा, "यशू ! महाश्रेष्ठि का निमन्त्रण है न आज ! भूल तो नहीं गईं।"

यशोधरा ने साधारण भाव से कहा, "मैं वहाँ क्या करूँगी जाकर ?"

"वाह ! वहाँ तुम्हारी सखी-सहेलियाँ जो मिलेंगीं, उनको मैं क्या उत्तर

दूँगा ?" कहकर मृत्युञ्जय वहाँ से चले।

यशोधरा ने समझ लिया—उसकी सखी-सहेलियों को सन्तुष्ट करने का तो उसके पिता का बहानामात्र है ; वह उसे वहाँ ले जाकर उसका मन बहलाना चाहते हैं।

महाश्रेष्ठि के भवन के प्राँगण में पहुँचकर रथ से उतरते ही यशोधरा को गृह-वाटिका में क्रीड़ा-विनोद करती हुई उसकी सखियों ने वहीं से देखकर तुरन्त घेर लिया। वह उसे मृत्युञ्जय के साथ भीतर आमन्त्रितों की भीड़ में न जाने देकर अपने साथ ले चलीं। चलते-चलते किसी ने कटाक्ष किया, "हमारे बड़े भाग्य जो चन्द्रोदय हुआ।"

दूसरी ने कहा, "मुझे तो स्मरण भी नहीं आता, गृह से निकलते समय अवश्य ही कोई शकुन हुआ होगा।"

सुनकर अन्य सब हँस उठीं। यशोधरा को कुछ रोष हुआ।

सबकी सब वाटिका में पहुँचकर बावड़ी के तटपर शिलासनों पर बैठीं। बैठते हुए यशोधरा के पार्श्व में जो युवती थी, उसने पूछा, "क्या आर्य बीजगुप्त पर अभी भी रुष्ट हो ?"

यशोधरा ने कुछ नहीं कहा।

दूसरी ने जैसे उस प्रश्न का उत्तर दिया, "भला यह भी कोई पूछने की बात है ? सुना है दिन रात उनके पर्य्यङ्क से लगी बैठी रही, फिर भी रुष्ट।"

इस पर जैसे आगे बात बढ़ी, "तो कब होगा उनसे विवाह ? बोलो न !"

पर यशोधरा को उन पर रोष आ रहा था। वह किसी बात का भी उत्तर नहीं देना चाहती थी।

यह देखकर एक और बोली, "सुना है चित्रलेखा ने भी आर्य बीजगुप्त की बहुत सेवा की है ; कहीं उस नर्तकी ने उन्हें तेरे हाथ से छीन तो नहीं लिया। इसी कारण चुप दीखती है।"

यशोधरा ने कहने वाली की ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वह उठ खड़ी हुई। वातावरण जैसे कुछ बोझिल होउठा। उससे प्रश्न करने वाली सुन्दरियाँ पीछे हट गईं। उनके स्थान पर और आईं। यशोधरा को उन्होंने फिर वहीं बैठा लिया। फिर बड़ी सहृदयता से एक ने उससे पूछा, 'आर्य बीजगुप्त से

तेरे विवाह की चर्चा चली तो थी, क्या हुआ उसका ?"

"कुछ नहीं।" यशोधरा ने उत्तर दिया, "उस चर्चा का तो मैंने ही अन्त कर दिया।"

"आर्य बीजगुप्त का उस दिन तूने अपमान कर दिया, क्या केवल इसी से वह बात समाप्त हो गई ?" उसी ने पूछा।

"हाँ ! किसी का अकारण ही अपमान करने का मुझे क्या अधिकार था ?"

"तो कहीं उसी का प्रायश्चित तो नहीं किया तूने उनकी सेवा करके !"

यशोधरा को यह बात अत्यन्त अप्रिय लगी। वह उठकर खड़ी हो गई। उसने शुष्क कंठ से कहा, "क्या और कोई बात नहीं है तुम्हारे पास ?"

सुनकर सब एक दूसरे को देख उठीं। यशोधरा वहाँ से चल दी। उन्होंने उसे नहीं रोका। उसने भी उनसे चलने को नहीं कहा।

भीतर जाकर यशोधरा पिता के समीप पहुँची। उसका हाथ अपने हाथ में लेकर मृत्युञ्जय ने अपने सामने बैठे हुए एक वयोवृद्ध सज्जन से कहा, "आर्य्य ! यही मेरी पुत्री यशोधरा है। आजकल मैं इसी के विवाह के लिए चिन्तित हूँ।"

फिर वह यशोधरा से बोले, "आचार्य को प्रणाम करो यशू !"

यशोधरा ने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। फिर वह वहाँ से महाश्रेष्ठि के अवरोध की ओर चली। चलते-चलते उसके कान में मृत्युञ्जय का स्वर पड़ा, "मैं सामन्त रत्नग्रीव के पुत्र को अवश्य देखूँगा।"

वह जैसे चौंक पड़ी। उसकी गति सहसा अवरुद्ध-सी हुई, फिर आगे चली। सिर वह झुकाये थी। उस प्रकोष्ठ में कौन-कौन बैठे थे, यह देखने की प्रवृत्ति उसकी न रही। सहसा उसके कान में पुनः एक परिचित स्वर पड़ा।

"आप लोग दूसरों में केवल छिद्र देखते हैं। मूर्च्छितावस्था में भी आर्य बीजगुप्त के समीप किसी के पास रहने का कोई प्रयोजन हो सकता है, यह आप ही सोच सकते हैं।"

यह श्वेतांक का स्वर था। यशोधरा का हृदय धड़क उठा। स्वेद-जल से उसका गात्र भीग गया। वह वहाँ से यत्न करके शीघ्र चली। किन्तु पाँव

जल्दी-जल्दी नहीं पड़ते थे।

कुछ लोगों की बात फिर सुनाई दी, "बुरा मानने की बात नहीं आर्य श्वेतांक! सामन्त बीजगुप्त का सम्बन्ध न जाने कितनी रमणियों से होगा। और इसमें उनका दोष भी क्या है? ईश्वर ने उन्हें आकर्षण शक्ति प्रदान की है।"

यशोधरा को लगा जैसे कहने वाले ने अन्तिम कथनांश पर कुछ बल दिया हो, सम्भवतः उसकी ओर देखा भी हो। वह प्रकोष्ठ से तब बाहर हो रही थी। उसके समग्र गात में जैसे असंख्य काँटे छिद गये, 'कहीं उस पर ही तो यह बौछार नहीं है!'

भोज के उपरान्त यशोधरा जब पिता से मिली, तो उसने देखा, उनके साथ श्वेतांक भी था। दोनों ने परस्पर एक दूसरे को प्रणाम किया। श्वेतांक ने पूछा, "कुशल तो है देवि!"

यशोधरा ने कहा, "कुशल तो आप बतायें आर्य!"

श्वेतांक ने कहा, "ईश्वर की परम कृपा है, स्वामी की दशा सुधर रही है।"

यह सुनकर यशोधरा ने मृत्युञ्जय की ओर ध्यान दिया। उसने उनसे कहा, "मैं कुछ विलम्ब से चलूँगी पिताजी! श्रेष्ठि-पत्नी की यही आज्ञा है।"

"किन्तु मैं तो महाश्रेष्ठि से आज्ञा ले चुका हूँ। तुम रुक जाओ।" मृत्युञ्जय ने कहा।

यशोधरा ने श्वेतांक की ओर देखकर कहा, "क्या आप भी न रुक सकेंगे आर्य श्वेतांक? मुझे पहुँचाते हुए चले जाइयेगा।"

श्वेतांक कुछ क्षण तक द्विविधा में पड़ा रहकर बोला, "अच्छा! मैं रुक जाऊँगा।"

मृत्युञ्जय चले गये।

श्वेतांक महाश्रेष्ठि की द्वारशाला में जाकर बैठा।

श्वेतांक को वहाँ बैठे अधिक समय नहीं हुआ था कि यशोधरा ने लौट आकर उससे कहा, "चलो आर्य श्वेतांक!"

श्वेतांक को विस्मय हुआ। उसने खड़े होते हुए यशोधरा के मुख को

देखा, जैसे किसी उत्तेजना की छाया उसके मुख को आच्छन्न किये थी। वह बिना कुछ पूछे ही उसके साथ चल दिया। फिर भी बाहर आकर यशोधरा को रथ पर चढ़ाते हुए उसने पूछा ही, "क्या हुआ देवि ?"

यशोधरा ने कहा, "चारों ओर कुछ न कुछ चर्चा फैली है। मुझ पर वहाँ नहीं रुका गया आर्य !"

श्वेतांक एक गम्भीर श्वास खींचकर रथ पर बैठ गया। रथ उस भवन से बाहर निकला। वहाँ आते ही यशोधरा ने कहा, "आर्य श्वेतांक ! घर चलने की मेरी इच्छा नहीं हो रही। कहीं और चलो।"

"कहाँ ?"

"चलो, हिरण्यवाहेश्वर महादेव के दर्शन ही कर आयें। मुझे इस समय नगर का जनरव अच्छा नहीं लगता।" यशोधरा ने कहा।

रथ उधर ही बढ़ा।

मार्ग में यशोधरा ने पूछा, "क्या ऐसी दूषित चर्चा चारों ओर होती है आर्य ?"

श्वेतांक यशोधरा के संकेत को समझा, वह क्या कहे ? द्विविधा में पड़कर उसने कहा, "होती हो, तो उसे रोक कौन सकता है देवि ?"

यशोधरा ने एक दीर्घ श्वास खींची; दृष्टि मार्ग पर, नहीं, शून्य में टिका दी। रथ चलता रहा। आगे न यशोधरा ने ही कुछ कहा न श्वेतांक ने ही।

वह गन्तव्य स्थान पर पहुँचे। रथ घाट पर रुका।

यशोधरा ने देखा—सिर उठाये वह खण्डहरों का ढूह खड़ा था। मन्दिर की केवल ध्वजा चमकती थी। श्वेतांक ने उसकी ओर देखकर कहा, "देवदर्शन करने चलेंगी न देवि !"

यशोधरा रथ से उतरी नहीं थी। वह उसमें बैठी ही थी, श्वेतांक की बात सुनकर उसने उसे स्थिर दृष्टि से देखा, फिर सहसा बोली, "नहीं, मैं कहीं नहीं जाऊँगी, तुम चाहो तो दर्शन करो !"

श्वेतांक को यशोधरा पर कुछ आश्चर्य हुआ। उसे लगा जैसे वह उद्विग्न थी। असाधारण रूप से उद्विग्न ! उसने कहा, "अच्छा तो तुम रुको, मैं अभी आता हूँ।"

यशोधरा ने उसे नहीं रोका। वह रथ से उतर कर घाट के मण्डप में एक स्तम्भ का सहारा लेकर जा बैठी। शोण के जल-प्रदेश पर उसकी दृष्टि फैल गई। अपने विचारों में उसका मन उलझ गया, या जैसे यों ही अन्यमनस्क-सी बैठी रही।

सहसा उसे किसी का स्वर सुनाई दिया, "उधर क्या देखती हो देवि ?"

यशोधरा ने बोलने वाले को बिना देखे ही जैसे स्वयं में मग्न होकर कहा, "उधर देखती हूँ, कहीं इस स्वप्न-लोक का अन्त भी है। या फिर किसी स्वप्न-साम्राज्य का आवाहन ही निरन्तर चलने वाली भूल है। किन्तु हृदय को किसी वेदना के जाल में फँसा देने को मनुष्य क्यों आतुर रहता है ?"

और अन्त में जैसे उसे सम्बोधन की आवश्यकता पड़ी। वह घूम गई, पहचान कर बोली, "योगिराज !"

कुमारगिरि भी यशोधरा से दृष्टि हटाकर जल की झिलझिलाहट को देखने लगा। उसकी आँखों में जैसे अपार शान्ति हो, अपार वेदना का जड़-संचयन हो, उसने कहा, "स्वप्न लोक का जहाँ से प्रारम्भ है, वहाँ अन्त भी है देवि यशोधरा ! और किसी स्वप्न-साम्राज्य का आवाहन सिकता की दीवार खड़ी करने की चेष्टा से अधिक और क्या होगा ? अपनी कामनाओं के पुष्प खिला देने का यत्न कोरा अभिमान नहीं तो और क्या है, न उनके खिलने का भरोसा और न उनके खिले रहने की ही आशा; कब वह टूटकर गिर पड़ें कौन जाने ? हृदय की वेदना व्यर्थ है, अहम् का जाल झूठा है।"

यशोधरा जैसे अपनी बात कहती थी, और योगी ने जैसे अपनी बात कही। यशोधरा ने सुनकर कहा, "तुम्हारी बात में कितनी शान्ति है योगिराज !"

योगी ने कहा, "मेरी बात में नहीं देवि ! यहाँ सर्वत्र शान्ति है। जैसे कहीं कोलाहल नहीं। अपने अन्तरतम में डूबकर आँखें बन्द कर लेने पर क्या और कुछ का आभास होता है ?"

यशोधरा ने नेत्र बन्द कर लिये।

कुमारगिरि वहाँ से धीरे-धीरे चला गया। यशोधरा ने जब आँखें खोलीं तो देखा—कुमारगिरि के स्थान पर श्वेतांक आ खड़ा हुआ था। उसने

श्वेतांक की ओर देखा, फिर आश्रम मार्ग पर जाते हुए योगी को देखा। फिर सहसा खड़ी होकर वह उसी के पीछे भागी।

श्वेतांक ने विस्मय से उसे देखा। उसने कहा, "कहाँ जाती हो देवि ?"

किन्तु यशोधरा ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया, उसने पुकारा, "योगिराज !" किन्तु कुमारगिरि ने वह स्वर नहीं सुना। वह तब आश्रम में प्रविष्ट हो रहा था।

श्वेतांक ने घृणा से दृष्टि फेर ली। कुमारगिरि क्या है—यह वह जान चुका था। यशोधरा के प्रति भी उसे कुछ रोष हुआ।

यशोधरा कुमारगिरि के आश्रम में पहुँची। उसने देखा—वह अपनी कुटी के पीछे चला जा रहा था। विशालदेव ने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया। पूछा, "कैसे पधारीं देवि ?"

यशोधरा ने कुटी के पीछे अदृश्य होते हुए कुमारगिरि की ओर दृष्टि फेंकते हुए कहा, "योगिराज की बातें मुझे शान्ति प्रदान करती हैं आर्य विशालदेव ! उनसे बातें करने की मेरी बहुत इच्छा है।"

विशालदेव ने कहा, "वह समाधि लगाने चले गये देवि !"

"अच्छा !" यशोधरा ने एक दीर्घश्वास त्यागकर कहा, "मैं फिर आऊँगी।"

फिर वह वहाँ से चलकर श्वेतांक के पास पहुँची। वह अभी भी घाट पर उपस्थिति था। उसके बराबर में खड़ी होकर उसने कहा, "एक बात पूछूँ आर्य श्वेतांक !"

यशोधरा की आँखों में जैसे कुछ संकोच आया, उसने श्वेतांक से आँखें हटाकर उन्हें नीचे झुकाते हुए कहा, "तुममें मेरा आत्मीय का-सा स्नेह है, इसलिए पूछती हूँ।"

"पूछो न !" श्वेतांक ने भी खड़े होकर कहा।

"क्या तुम्हारे स्वामी चित्रलेखा से प्रेम करते हैं ?"

श्वेतांक इस प्रश्न को सुनकर चौंका नहीं, साथ ही वह उसका उत्तर क्या दे, उसकी समझ में यह भी नहीं आया। जो कुछ उसने चित्रलेखा के यहाँ देखा था, वह सब बीजगुप्त से कह देने पर भी वह उसे समझ नहीं पाया था। बीजगुप्त

के मुख से तब न कुछ निकला ही था, और न उसके मुख पर उस क्षण कोई भाव ही आया था। उसने कहा, "मैं भी इस विषय में चिन्तित हूं देवि! उनकी प्रकृति अभी मैं नहीं जान पाया। फिर भी चित्रलेखा की ओर उनका आकर्षण कम नहीं है।"

"अरे मधुपाल ! तुम यहाँ ! और यह झोली किसलिये ?"

सुनकर आगे बढ़ता हुआ मधुपाल चौंक पड़ा। स्वर कुछ परिचित-सा प्रतीत होता था। वह ठिठक गया। उसने मुड़कर देखा। एक स्त्री अपने गृह के द्वार में खड़ी हुई थी। वह उसके निकट आया। उसके सामने झोली बढ़ा कर कहा, "तुम्हारा स्वर परिचित प्रतीत होता है भद्रे ! किन्तु तुम कौन हो यह मैं स्मरण करके भी नहीं समझ पा रहा। तो भी तुमने यदि मुझे बुलाया है तो तुम्हारा दान स्वीकार करूँगा, तुम कोई भी क्यों न हो।"

वह स्त्री कुछ विस्मित हुई।

मधुपाल बोला, "मैं याचना नहीं करूँगा। सर्वत्र विचरता हूँ। लोग जानते हैं कि ब्राह्मण है, पहले योगी की कुटी पर रहता था।"

परन्तु उस स्त्री को फिर भी भीतर जाते न देखकर उसने बढ़ाई हुई झोली संकुचित करली और आप भी कुछ निष्प्रभ-सा हुआ। उसने कहा, "रहने दो, तुम दान नहीं देना चाहतीं तो रहने दो। योगी का शिष्य चला।"

वह चल दिया।

उसे जाते देखकर उस स्त्री ने कहा, "अरे सुनो तो। तुम बातें बहुत करते हो और मैंने जो पूछा बताया ही नहीं।"

मधुपाल ने कहा, "हर एक बात क्या हर एक व्यक्ति को बताने की होती है ? तुम भिक्षा देती नहीं और किसी स्त्री से व्यर्थ की बातें करने के लिये मधुपाल के पास समय नहीं।"

उस स्त्री ने कहा, "क्या तुम्हें अपने गाँव के लोगों का बिलकुल ध्यान नहीं ?"

मधुपाल जैसे चौंक पड़ा। उसने उसे आँखें गड़ाकर देखा, फिर बोला "एँ !" उसने उसे पहचान लिया, बोला, "ओह ! तू कितनी बड़ी हो गई है, बिलकुल छोटी-सी थी। बहुत समय हो गया देखे हुए ! पर तू यहाँ कैसे ?"

वह युवती हँस दी। उसने कहा, "तुम्हें तो योगाभ्यास से इतना भी

समय नहीं मिला कि मेरे विवाह में आते ! यहाँ मेरा पति-गृह है ।"

मधुपाल प्रमुदित हो उठा, "सच ! तब तो तुम मुझे भोजन अवश्य कराओगी चलो, चलो ! क्या करूँ आज पर्य्याप्त भिक्षान्न नहीं मिला । तुम्हें सबकुछ बताऊँगा !" कहकर उसने द्वार में पाँव बढ़ाया ।

तभी भीतर से एक पुरुष-कंठ सुनाई पड़ा, "कितनी बार कहा है कि तुम द्वार पर निकलकर इन साधु-सन्यासियों, घुमक्कड़ों से बातें मत किया करो, पर तुम हो कि मानती नहीं । यह गाँव नहीं नगर है ।"

स्वर कुछ तीव्र था । स्त्री ने भीत दृष्टि से भीतर देखा । मधुपाल ने आगे बढ़ा हुआ पाँव हटाया । वह पुरुष भी उसे आता दिखाई पड़ा । लम्बा-चौड़ा सिर पर ऊँचा-सा शिरस्त्राण, हाथ में भाला, दण्डधर की वेशभूषा से युक्त वह व्यक्ति वैसे ही भयावना-सा प्रतीत होता था । मधुपाल से उसने डपटकर कहा, "भाग यहाँ से ।"

मधुपाल ने एक दीन दृष्टि अपने गाँव की उस कन्या पर डाली । वह विवशा-सी अपने स्वामी को देख उठी थी । मधुपाल वहाँ से भाग चला ।

आगे एक द्वार पर जाकर उसने हाँक लगाई, "आनन्द हो !" चिमटा बजाया, "आनन्द हो ।"

वहाँ से उसे भिक्षा मिली । उसने आशीर्वाद दिया, "प्रसन्न रहो !" फिर आगे मार्ग पर बढ़ा ।

कुछ दूर पर मार्ग से एक ओर हटकर एक अश्वत्थ के नीचे कुछ लोगों की बैठक जमी थी । उसमें साधु-वेशभूषा धारण किये हुए भी कुछ लोग थे । उसे वहाँ से जाते देखकर किसी ने पूछा, "कहो भाई ! नगर में क्या समाचार हैं ?"

मधुपाल ने कहा, "सब प्रसन्न हैं ! सब मुझे भिक्षा देते हैं ।"

वह सब हँस पड़े । एक ने कहा, "मूर्ख है ।"

किसी ने कहा, "नया नया ही तो है !"

मधुपाल ने सुना और एक मूर्ख व्यक्ति की भाँति ही उन लोगों की ओर देखा । उसे इस प्रकार देखते देखकर उन्होंने उसे पास बुलाया । उसके पास पहुँचने पर एक काषायधारी ने उससे पूछा, "चित्रलेखा और बीजगुप्त के

क्या समाचार है ? चित्रलेखा बीजगुप्त के अतिरिक्त और भी किसी का नाम लेती है ?"

मधुपाल को आश्चर्य हुआ। उसने सरल वाणी में पूछा, "क्या आप लोग भी मेरे गुरुदेव की तरह हैं ?"

जैसे यह जानकर एक दूसरे काषायधारी ने अपने साथी की ओर देखते हुए बड़े मीठे स्वर में कहा, "चेला है।"

प्रत्युत्तर मिला, "तभी।"

मधुपाल उन्हें मूढ़ व्यक्ति की भाँति देखता था। उसे उस प्रकार देखते देखकर किसी ने कहा, "जा, जा भिक्षा मांग।"

उन लोगों का व्यापार जैसे मधुपाल की समझ से परे था। वह वहाँ से चलने को हुआ। तभी सहसा उससे पुनः प्रश्न हुआ, "तेरे गुरु के चरणों में कितने सामन्त, श्रेष्ठि और राजपुरुष भेंट चढ़ाते हैं ?"

"उनकी कोई गिनती नहीं।" मधुपाल ने ठिठककर कहा।

"तब तो तेरा गुरु महागुरु है।" जैसे यह स्वर वहाँ बैठे सभी लोगों के मुख से निकला हो।

मधुपाल रुक गया, उसने कहा, "निस्संदेह ! पहले उनके पीछे चित्रलेखा घूमती थी, अब यशोधरा चक्कर काटती है।"

सुनने वालों को आश्चर्य हुआ। एक दूसरे की ओर सहसा सब देख उठे। उससे प्रश्न हुए, "तेरा नाम ? तेरा गुरु कौन है ?"

अब मधुपाल जैसे कुछ सम्हला। उसने कहा, "मेरा नाम। तुम लोग मुझे नहीं जानते ? मेरा गुरु कौन है ! तुम्हें नहीं ज्ञात !" और वह उछलकर वहाँ से भागा, "ओह ! मैं अपना और उनका नाम बताकर अपयश तो कदापि नहीं फैलाऊँगा !"

वहाँ एक हँसी का ठहाका उठा। परस्पर बातें भी हुई, "मूर्ख है।"

मधुपाल वहाँ से चलकर चित्रलेखा के भवन के सामने पहुँचा। उसने तोरण पर खड़े प्रहरियों को देखा। कुछ क्षण को बाहर खड़ा रहा। फिर कुछ शंकित-सा, किन्तु आँखें बन्द किये हुए उनके बीच में होकर भवन में चला।

प्रहरियों ने उसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया; दाँयी आँख खोलकर मधुपाल दाहिनी ओर के प्रहरी को देखता था, और बाँयी ओर के पहरुए को उधर की आँख का पलक किंचित उठाकर। दोनों को उसने दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया, फिर अग्रसर हुआ।

भीतर पहुँचकर उसने चिमटे का शब्द किया। दासी निकलकर आई। मधुपाल ने उसे देखकर कहा, "क्या तुम्हीं हो इस भवन की स्वामिनी ?"

"नहीं प्रभु।" दासी ने कहा।

"तो फिर मैं तुम्हारे हाथ की भिक्षा ग्रहण नहीं करूँगा। तुम स्वयं किसी और के अन्न पर पलती हो। मधुपाल ने कहा।

"परन्तु देव। यह एक वेश्या का गृह है।"

"इस बात की मुझे कोई चिन्ता नहीं। अन्न कहीं का हो, पवित्र होता है। जाओ अपनी स्वामिनी को समाचार दो कि द्वार पर एक भिक्षुक खड़ा है।"

सुनयना गवाक्ष में खड़ी होकर उसे देखती थी। वही उतरकर उसके पास आई। मधुपाल ने आँखें बन्द करके उसे आशीर्वाद दिया तो सुनयना ने हँसकर कहा, "आँखें तो खोलो योगिराज !"

मधुपाल ने चौंककर आँखें खोलीं; झोली आगे बढ़ाई, कहा, "ब्राह्मण हूँ, भिक्षार्जन करने में कोई बुराई नहीं, इसमें प्रदान करो।"

सुनयना के हाथ में कुछ नहीं था। वह यों ही खड़ी रही। उसने कहा, "क्या अपने गुरु का आश्रम त्याग दिया ब्रह्मन् ?"

अब मधुपाल ने सुनयना की ओर देखा; फिर कहा, "हाँ ! किन्तु मैं भी वहीं हिरण्यवाहेश्वर पर ही कुटी बनाकर रहता हूँ। विशालदेव ने मुझे कहीं अन्यत्र जाने से रोक लिया नहीं तो अन्यत्र चला गया होता।"

सुनयना ने कहा, "फिर यह भिक्षावृत्ति क्यों ?"

"जिस प्रकार से गणिका के लिये वेश्यावृत्ति, उसी तरह से ब्राह्मण के लिये भिक्षावृत्ति, क्षत्रिय के लिये क्षात्रवृत्ति और वैश्य के लिये वणिक्वृत्ति। इसमें पूछने की क्या बात है ? सब शास्त्रानुकूल है ?" इतना कहकर मधुपाल

कुछ रुका, फिर आगे बोला, "तो क्या इस द्वार से खाली लौट जाना पड़ेगा ?"

सुनयना ने हँसकर कहा, "हमने तुम्हारे गुरु को मुक्त कर दिया है, क्या उसके लिये धन्यवाद देने भी नहीं ठहरोगे ?"

सुनकर मधुपाल ने एक दीर्घश्वास खींची। ऊपर आकाश की ओर देखा, फिर जैसे बड़े ठण्डे स्वर में कहा, "अब वह सब व्यर्थ है देवि ? पहले चित्रलेखा ने उन्हें विमोहित किया, उनकी कामाग्नि प्रज्वलित कर दी। उन्होंने यशोधरा को अब अपनी काम-साधिका बनाया है। वह उनके पास नित्य आती है। भगवान ही रक्षक हैं।"

सुनयना को आश्चर्य हुआ। उसे जैसे मधुपाल की बात पर विश्वास नहीं हुआ, उसने कहा, "क्या कहते हो मधुपाल तुम ?"

"ठीक कहता हूँ देवि ! चित्रलेखा ने उनकी कामाग्नि को प्रज्वलित करके अच्छा नहीं किया।" मधुपाल की वाणी में जैसे अपार व्यथा थी।

तब तक दासी भिक्षा लेकर उपस्थित हुई ! सुनयना ने वह मधुपाल की झोली में डाली। मधुपाल 'आनन्द हो !' 'आनन्द हो !' कहता हुआ वहाँ से चला।

सुनयना कुछ क्षण के लिये जैसे जड़ हो उठी। वह मधुपाल को जाते हुए देखती रही, फिर मन ही मन कहा, "हे भगवान् ! चित्रलेखा ने यह क्या किया ?"

वह भीतर भवन में एक पर्य्यङ्क पर लेटी हुई चित्रलेखा के पास पहुँची। उससे कहा तो उत्तर मिला, "फिर मैं क्या करूँ ? अपना मरना-जीना हर एक को दिखाई देता है।" फिर कुछ क्षण चुप रहकर विचारती-सी बोली, "किन्तु यशोधरा तो आर्य बीजगुप्त से प्रेम करती है !"

सुनयना ने कहा, "इन कामपीड़िता प्रेमिकाओं के प्रेम को जानना सरल नहीं है चित्रे ! पर क्या बीजगुप्त भी उससे प्रेम करते हैं ?

"संभव है !"

सुनयना चुप रही ; उसी पर्य्यङ्क पर सिर झुकाकर एक ओर बैठ गई। सहसा चित्रलेखा ने थोड़े से क्षणों तक उसे देखते रहने के उपरान्त उद्विग्न

स्वर में उसका कन्धा पकड़ कर कहा, "मैं क्या करूँ सुनयना ?"

सुनयना उसकी बात पर झुँझला उठी। उसने कहा, "अपना मरना-जीना हर एक को दिखाई देता है, क्या तुझे दिखाई नहीं देता था ? मैंने कितनी बार कहा था कि तू जिस मार्ग पर पड़ गई है उसी को ईश्वर का महान प्रसाद समझ कर ग्रहण कर, और बातों को भूल जा। किसी पर रोष करने से क्या होगा ? पर नहीं मानी ! मैं तो कहूँगी आर्य बीजगुप्त ने ठीक किया; तू झूठी पड़ गई, अच्छा ही हुआ। चली थी प्रतिशोध लेने !"

चित्रलेखा दुखित हो उठी। उसने कहा, "सभी कुछ ठीक हुआ सुनयना ! पर बीजगुप्त ने मुझे नीचा क्यों दिखाया ? क्यों मेरा अपमान किया ? क्या वह मुझसे प्रेम नहीं करते ? कहीं यशोधरा के लिये ही तो उन्होंने मुझे दूर कर देने का मार्ग नहीं निकाला ?"

सुनयना के पास इस बात का क्या उत्तर था। न जाने कितनी बार उस दिन से चित्रलेखा उससे यही पूछती थी और सुनयना के पास उसका कोई उत्तर नहीं था। और चित्रलेखा जैसे इसी कारण एक असह्य दुख से व्याकुल थी। वह सुनयना की ओर उसी भाव से देख उठी। उसकी आँखों में आँसू आगये। सुनयना ने उसे अपनी ओर खींच लिया। चित्रलेखा बोली, "मुझे क्या मालूम था कि यह निष्ठुर हृदय मेरे साथ इतना छल करेगा; एक बार ठोकर खाकर भी सावधान नहीं होगा, पुनः उलझ जायगा। मैं क्या करूँ सुनयना ? किधर चली जाऊँ ?"

चित्रलेखा के दुख से दुखी-सी सुनयना उसके नेत्र पोंछने लगी। फिर वहाँ से चली गई।

अपराह्न काल में सुनयना ने चित्रलेखा के पास आकर कहा, "चित्रे ! कुछ सामन्तपुत्र आये हैं। तुम्हारे दर्शन करना चाहते हैं।"

चित्रलेखा ने कहा, "उनसे कह दो कि मैं अस्वस्थ हूँ।"

"यह अनुचित होगा स्वामिनी !"

"उचित और अनुचित का विचार करके यह हृदय कभी नहीं चला सुनयना ! मैं उसे शान्त करना चाहती हूँ।" कहकर चित्रलेखा ने दूसरी ओर करवट लिया। वह उस समय शय्या पर लेटी थी।

सुनयना ने आगतों के सामने उपस्थित होकर कहा, "आज के लिये क्षमा करें आर्य ! देवि अस्वस्थ हैं ।"

सुनकर सब लोगों ने एक दूसरे को देखा, फिर सब जैसे एक स्वर में ही बोले, "क्या देवि कभी स्वस्थ भी होंगी ? यह हमारा तिरस्कार है ।"

सुनयना चुप रही ।

एक युवक फिर बोला, "सामन्त बीजगुप्त के यहाँ हुआ दिन रात का जागरण क्या अभी तक भी देवि को सता रहा है ? आश्चर्य !"

दूसरे युवक ने कहा, "हम भी उतने ही धनवान् हैं जितने सामन्त बीजगुप्त । पर क्या वह केवल उन्हीं की सेवा में रहने के लिये गणिका बनी हैं ? हम लोगों में से कोई भी उनकी मनचाही बात कर सकता है, फिर हमारा तिरस्कार क्यों ?"

तीसरा व्यक्ति जो उनसे कुछ प्रौढ़ था, बोला, "तुम तो अबोध हो, इन वेश्याओं का क्या ठिकाना ? हम लोगों को ठगने के लिये यह अनेक उपाय जानती हैं । चलो फिर कभी देखा जायगा !"

वह उठकर खड़ा हो गया ।

उसे इस प्रकार खड़े हो जाते देखकर एक युवक ने कहा, "नहीं जी ! हम नहीं जाते । हम भी देखेंगे यह वेश्या हमारा और क्या अपमान करती है ? कब तक अस्वस्थ रहती है ?"

सुनयना इस प्रकार के वचन सुनकर जैसे कुछ उत्तेजित हो उठी । उसने कटुस्वर को यथेष्ट संयत करके कहा, "आप लोग भद्र हैं; इस तरह की अभद्रता करना किसी प्रकार भी आपको शोभा नहीं देता ।"

तब तक वहाँ और कुछ लोग आगये । उन्हें देखकर वह पहले आये हुए व्यक्ति उठ खड़े हुए । उन्होंने नवागतों का स्वागत-सा करते हुए कहा, "आइये ! पधारिये ! अभद्र कहलाने की इच्छा क्या आप लोगों को भी यहाँ खींच लाई है ?"

उन्होंने सुनयना पर दृष्टि डाली । वह क्षुब्ध हो रही थी । उसने उनसे कुछ न कहकर पूर्वागतों से कहा, "यह आपके अभद्र व्यवहार की सीमा है ।"

यह सुनकर उनमें से एक व्यक्ति चिल्लाकर बोला, "किसके बल पर यह

कटु वचन कहे जारहे हैं, हम यह जानते हैं नर्तकी ! चित्रलेखा को बहुत अभिमान हो गया है।"

दूसरे व्यक्ति ने कहा, "हम जानते हैं कि उस नीच स्त्री में कितनी भद्रता शेष है। हमारे उपहार स्वीकार करके भी कोई मृदुल सन्देश हमारे पास नहीं भेजा गया; हमारे आगमन पर अस्वस्थ रहे आने का बहाना, हमारा यह तिरस्कार, क्या एक नर्तकी का शिष्टाचार है ?"

"कल तक मारी-मारी फिरती थी, पतिता, नीच स्त्री ! समाज से तिरस्कृत आज हमारे ही सिर पर पैर रखकर चलती है। धिक्कार है ! हम क्या नहीं जानते ? वह कुल-कलंकिनी, पापाचारिणी अब किसी से प्रणय का स्वाँग रचकर सती-साध्वी बनती है, तो फिर वेश्यापथ पर बैठकर हम लोगों को ठगने का क्या प्रयोजन ?"

सुनयना जैसे दाँत कटकटा रही थी। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गई थीं। उसे जैसे कहने का अवसर मिला। उसने तप्त वाणी में कहा, "लोक की नाक बने हुए दीन दुर्बलों को ठोकर मारकर चलने वाले नीच लोगो ! आप ही बीज बोकर उनके फल चखने आते हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती। अपने ही विषमय फलों को खाकर उनकी कड़वाहट को थूकते हो, धिक्कार है तुम्हें ! समाज की सती-साध्वियों को मैं जानती हूँ; चुपचाप ही वह कायर रमणियाँ कौन-सा स्वेच्छाचार नहीं करतीं ! जाओ, अभी भी बताती हूँ, देख लो योगी कुमारगिरि के साथ सामन्त मृत्युञ्जय की कामपीड़िता कन्या क्या-क्या लीला रचती है। ऐसी ही स्त्रियों पर अभिमान करने वाले सत्पुरुषो ! डूब मरो।"

और वह क्रोध से फुंकारती हुई रमणी भीतर चली। उसने देखा—द्वार में आकर चित्रलेखा खड़ी थी।

वह सब लोग चल दिये। चिल्लाकर सबने जाते-जाते कहा, "यदि यह बात असत्य हुई तो हम इस भवन में आग लगा देंगे।"

चित्रलेखा पीली पड़ गई। उसने उन जाते हुए लोगों को देखा और सुनयना का हाथ पकड़कर कहा, "तूने यह क्या किया सुनयना ?"

"मैंने ठीक ही किया चित्रे ! यदि बीजगुप्त की आँखें भी यशोधरा पर

लगी हैं, तो वह भी देख लेंगे।" कहती हुई सुनयना भीतर चली। चित्रलेखा ने उसका हाथ छोड़ दिया।

फिर चित्रलेखा धीरे-धीरे वहाँ से चलकर ऊपर अलिन्द पर पहुँची। शांत भाव से रथों को अपने भवन से निकलते हुए देखने लगी। किन्तु लगता था जैसे उन आँखों में भी तीव्र गति से अगणित चक्र घूमते हों—हृदय की व्यथा के बवंडर थे वह या न जाने उन जाते हुए रथों के चक्र-प्रतिबिम्ब।

चित्रलेखा के भवन से निकले हुए वह रथ सीधे मृत्युञ्जय के भवन के प्रांगण में जाकर खड़े हुए। सेवकों ने उपस्थित होकर उनका सत्कार किया। किन्तु वह लोग रथों से नीचे नहीं उतरे, उद्धत भाव से उन्होंने पूछा, "आर्य मृत्युञ्जय कहाँ हैं?"

"किसी राजकार्य से बाहर गये हैं देव!"

"और उनकी पुत्री यशोधरा।"

"वह भी अपनी सखियों के यहाँ गई हैं।"

सुनकर सबने एक दूसरे का मुख देखा।

रथ लौट चले।

× × × ×

यशोधरा ने कहा, "योगिराज! मैं संतप्त हूँ? आपसे क्या छिपा है? बार-बार अपने को सम्हालती हूँ, किन्तु मन नहीं मानता; मैं उसे आर्य बीजगुप्त से दूर ले जाना चाहती हूँ, पर ऐसा नहीं कर पाती। मैं उनसे प्रेम करती हूँ।"

योगी दूर, जैसे शून्य में देख रहा था। यशोधरा उसके पास बैठी थी। शोण-वक्ष पर नौका धीरे-धीरे चल रही थी। यशोधरा डाँड़ पकड़े थी; कभी-कभी जल के वेग को काट देती। कुमारगिरि ने कुछ नहीं कहा।

यशोधरा ही फिर बोली, "योगिराज! मैं चाहती हूँ कि इस विश्व से दूर कहीं शून्य में चली जाऊँ, मुझे उनका स्मरण न रहे। जी चाहता है कि इसी तरह से सामने फैली इन तरल लहरियों का खेल देखती रहूँ, मन कहीं और जाये ही नहीं! किन्तु देव लहरों की इस झालर में भी जैसे वही हँसते हैं।"

योगी अभी भी शान्त ही रहा। उसने नेत्र बन्द कर लिये। जैसे हृदय को चारों ओर से समेटकर दृढ़ किया। देखा, विरह-ज्वाल में जलती हुई उस युवती को देखकर उसे भी तो कहीं कोई मोह पीड़ित नहीं करता। कुछ क्षण में उसने एक दीर्घश्वास खींची। यशोधरा दूसरी ओर देखने लगी थी, योगी की श्वास का शब्द सुनकर उसने योगी को देखा। कुमारगिरि बोला, "अवश्य ही अन्त में शेष रह जाने वाली किसी ज्वाल-भस्म की भभक भी इस हृदय को दग्ध कर उठती है, फिर साक्षात् अग्नि का तो ठिकाना ही क्या ? कैसी वितृष्णा है जो कामनाओं के जाल में जकड़े हुए व्यक्ति को महान दुख मिलने पर भी उसीमें और भी भीतर तक फँस जाने को व्यग्र करती है। ईश्वर की माया का जाल कितना मनोरम है ! लगता है जैसे इसी के बन्धन अपार सुख लिये हैं।"

यशोधरा ने कहा, "बार-बार इसी प्रकार से मन को मैं भी दृढ़ करती हूँ देव ! किन्तु तब जैसे मेरा जी घुटने लगता है। मैं भूल नहीं पाती कि चित्रलेखा ने उन्हें मेरे हाथ से छीन लिया है।"

"चित्रलेखा !" योगी का हृदय जैसे क्षणमात्र को डगमगा गया। उसने यशोधरा की ओर देखा, फिर सहसा अपने को सम्हालकर कहा, "यह चर्चा न करो देवि यशोधरा ! कुछ और बात करो।"

"और क्या बात करूँ देव ? मन में तो जैसे यही रम गया है। आश्रम में जो कुछ पूछने में हिचक लगती थी, वही पूछने के लिये तो मैं आपको यहाँ लाई हूँ। यह सोचकर कि संसार के राग-विराग से दूर आपका विश्व है, मैंने अपना हृदय खोल दिया ! आप तो योग-दृष्टि से संपन्न हैं, त्रिकाल को जानते हैं। मैं पूछती हूँ चित्रलेखा का क्या होगा ? कहीं यह नर्तकी...... !"

आगे कहते-कहते वह रुक गई। योगी उसे गम्भीर दृष्टि से देखने लगा था। यशोधरा को चुप हुई देखकर उसने जैसे स्वयं से ही कहा, "चित्रलेखा !"

उसके चमकते हुए भाल को यशोधरा आग्रह से देखने लगी। योगी ने कुछ क्षण में कहा, "मैं तुम्हें बताऊँगा यशोधरा कि चित्रलेखा का क्या होगा ?"

यशोधरा ने उस पर से अपनी आँखें नहीं हटाईं। कुमारगिरि ने अपने

मन की समस्त वृत्तियों को रोककर भृकुटि के मध्य स्थित कर दिया। भविष्य के अन्धकार में स्वयं को लीन करने की चेष्टा चलने लगी। उसने कहा, "मेरी ओर देखो !"

यशोधरा उसकी ओर टकटकी लगाकर देख उठी। डाँड़ चलाना जैसे स्वतः ही बन्द हो गया।

जैसे स्वप्न में निन्द्राधीन होकर भी मनुष्य शय्या त्यागकर इधर-उधर रम उठता है, योगी भी एक महाविकराल शून्य में, जहाँ केवल अंधकार था, कोई पथ नहीं, कोई प्रकाश नहीं, चल पड़ा। अपने आलोक से वही प्रकाशित होता था; पैर जहाँ पड़ जाते थे, जमा देता था। दूसरा पग उठाकर आगे बढ़ता था।

यशोधरा को विस्मय हुआ।

और कुमारगिरि अपने चमत्कार के अधीन हुआ कहाँ जा रहा है उसे जैसे स्वयं भी नहीं मालूम।

उस अन्धकार में न जाने कितने जीव, न जाने कितने मनुष्य इधर चल रहे हैं उधर चल रहे हैं—उनकी असंख्य परछाइयाँ-सी जैसे योगी को घेरे चलती थीं। सभी जैसे दूर चले जा रहे हैं।

यशोधरा की दृष्टि विस्फरित हो उठी।

कहीं कोई आश्रय नहीं···किन्तु मार्ग की कहीं समाप्ति नहीं। चलने वालों का ताँता लगा है।

योगी की आँखें बन्द थीं, वह चला जा रहा था बिना किसी ओर देखे, बिना कुछ जाने। सहसा उसे लगा जैसे उसे किसी ने स्पर्श किया, उसने आँखें खोल दीं। अपने ही प्रकाश में प्रकाशित मूर्त्ति को उसने देखा—चित्रलेखा ! उसी दिशा में आगे दृष्टि गई—विकल प्राणियों का हाहाकार जैसे उसकी आँखों के सामने पड़ा। लगा, दूर तक अण्डज, स्वेदज और जरायुज प्राणियों से दृष्टिपथ पटा पड़ा था।

यशोधरा के पलक गिरते नहीं थे। जड़वत् हुई-सी वह योगी को देखती थी। एक विचित्र पथ पर पाँव बढ़ाने वाले को उसने आज पहली बार देखा था।

योगी देखने लगा—आँखों के सामने चित्रलेखा, उससे आगे सृष्टि के अपार प्राणियों की भीड़, अपनी-अपनी धुन में एक के ऊपर एक किसी को मारते, किसी को खाते किसी को कुचलते हुए जैसे अन्धकार में चले जा रहे हों। इधर अन्धकार में से प्रकट होते थे, उधर विलीन हो जाते थे। सहसा उसे लगा जैसे अनेकों उसी की ओर दौड़े। उसने दूसरी ओर दृष्टि कर ली; आँखें बन्द कर लीं। उधर फिर अंधेरा छा गया। चारों ओर महाशून्य !

यशोधरा का गात स्वेदजल से पूर्ण हो उठा। हृदय धड़कने लगा। उसने देखा—योगी के साथ उसी अँधेरे प्रान्त में उसके साथ कोई बढ़ चला। कौन ? जब योगी ही उधर नहीं देखता तो वही कैसे पहचान ले।

किन्तु कुमारगिरि को भी अपने साथी को पहचानने की पड़ी। पलक उठाकर चुपचाप साथ चलने वाले को उसने देख लेना चाहा, उसने चरणों की ओर दृष्टि डाली। किसी कोमलांगी के चरण थिरक रहे थे। कानों में कुछ शब्द भी पड़ा। उसने पहचानी—नूपुर ध्वनि ! वह थिरकते हुए चरणों को देखने लगा। किन्तु दृष्टिमार्ग और नीचे की ओर बढ़ा। बीच में कोमल चरण थिरकते थे, नीचे अपार जल राशि ! गम्भीर समुद्र—उसकी विकराल तरंगों के साथ आगे बढ़ने वाले मगर-मच्छ ! सागर में उफान उठे, मेरु पर्वत-सी लहरें वहाँ उमंगने लगीं और उनकी चपेट में व्याकुल महाभयानक से जन्तु फुंकारें छोड़ उठे।

यशोधरा ने घबड़ाकर आँखें बन्द करलीं। जैसे सब कुछ समाप्त होगया। किन्तु उसने फिर देखा। योगी अन्धकार में चला जा रहा था। और लगा जैसे उसके साथ का यात्री कुछ आगे बढ़ गया हो। कुमारगिरि की दृष्टि आगे गई। अन्धकार में वही कोमल चरण जैसे कुछ ऊपर चढ़ते जा रहे थे, तथा आगे काली घुमड़ में जैसे कोई मधुर संगीत कानों में पड़ता था। आगे चलने वाली पहचान में आई—चित्रलेखा ! दृष्टि के बिम्ब में आगे दूर पर चित्रलेखा का सुन्दर मुखमण्डल, मनोहर मुस्कान दिखाई पड़ती थी। उसके आगे निस्सीम गगन ! दूर तक नील पटी पर तारों की झलमल, जैसे वह सब घूम रहे हों। टूट-टूटकर वह गिरते थे, परस्पर टकराते थे। महाभयानक ज्वालायें उत्पन्न होती थीं। आकाशचारी पशु-पक्षी, देव, दनुज तथा अन्य

प्राणी भीड़ की भीड़ लगाकर चलते जा रहे थे। कुछ ऊपर चढ़कर दूर गगन में अदृश्य भी हो जाते थे।

यशोधरा ने भयभीत होकर आँखें बन्द करलीं। विकल भाव से उसने उन्हें फिर खोल दिया।

योगी अनजान में ही जैसे खिसटता चला जा रहा था। ऊपर चढ़ता जाता था, आगे-आगे चित्रलेखा का मुख और उससे परे तक उसकी दृष्टि का मोह फैला था। गगन में विहार करने वालों के विमान वहाँ दिखाई देते थे, आगे बढ़कर अदृश्य हो जाते थे। एक अलौकित रथ भी गगन प्रदेश में दिखाई पड़ा, सात पवनगति से बढ़ने वाले चमकते हुए अश्व, अरुण उसके सारथि और सूर्य्यदेव आरोही। वह भी आगे चला गया। वज्र धारण किये हुए इन्द्र सामने आये। वह भी निकल गये, किन्तु उनकी अपार मेघ मालाओं का जमाव वहाँ लगा, जैसे सब कुछ छिप गया; विद्युत की कड़क में, पवन की सरसराहट और घनघोर वर्षा में।

यशोधरा आकुल हो उठी।

सहसा योगी ने आँखें बन्द करलीं। चारों ओर अँधेरा छा गया, जैसे सब कुछ लोप हो गया। किन्तु वह आगे ही बढ़ता गया। उसने आँखें फिर खोलीं। देखा—कहाँ आ गया वह?

यशोधरा ने शोणतट को पहचाना।

ऊपर मेघ घुमड़ते हैं, बिजली कड़कती है और अन्धड़ चलता है। वर्षा हो रही है। नद में बाढ़ आ गई है, उसकी लहरों को देखकर जैसे भय लगता है। उसी के बीच एक छोटी-सी नौका दिखाई दी। डगमगाती हुई वह बही जा रही थी। उस पर कौन बैठा है? पहचाना—चित्रलेखा। योगी तट पर भागने लगा।

यशोधरा जैसे इस दृश्य से भयभीत हो रही थी। उसने दोनों हाथों से आँखें बन्द कर लीं। फिर भी जैसे वह जादू उसके हृदय से परे नहीं हुआ। उसने चिल्लाकर कहा, "कहाँ जाते हो योगी, कहाँ जाते हो? इस तरह विकल भाव से दौड़ते हुए कहाँ जाते हो?"

और उसे लगा जैसे कुमारगिरि का स्पर्श उसे होता है। वह जैसी बैठी

थी उसी प्रकार झुककर बोली, "रहने दो योगी! रहने दो! मुझे भय लगता है।"

सहसा योगी को जैसे प्रकम्प हुआ। उसका चित्त व्याकुल हो उठा। उसने आँखें खोल दीं, जैसे उसका स्वप्न भंग हो गया। उसने अपने चरणों से लिपटी हुई यशोधरा को देखा, दोनों हाथ पकड़ कर उसने उसे उठाया। यशोधरा जैसे उसकी आँखों में झाँक उठी। और योगी की भी वही दशा थी, उसने कहा, "तुमने सब खेल बिगाड़ दिया यशोधरा। मैं न जाने इस समय कहाँ था!"

"मैंने देखा है तुम कहाँ थे योगिराज! मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी! मैं तुमसे कुछ नहीं पूछती!" यशोधरा ने काँपती हुई वाणी में सब कुछ भूलकर कहा। वह कुमारगिरि की ओर टकटकी लगाकर देखती थी। कुमारगिरि भी उसकी दोनों भुजाएँ पकड़े जैसे उसे सम्हाले था।

सहसा वहाँ एक अट्टहास फैला।

स्वतः ही बहने वाली नौका तट से टकराई।

यशोधरा और कुमारगिरि दोनों को चेत हुआ। दोनों ने एक दूसरे से दृष्टि हटाई! और दोनों काँप उठे।

लोग तट पर खड़े विकट अट्टहास करते थे। यशोधरा और कुमारगिरि ने एक दूसरे को एक बार फिर देखा! योगी की दृष्टि में विभ्रम और विमूढ़ता, और यशोधरा की आँखों में क्षुब्ध वेदना; उसका मुखमण्डल पीला पड़ गया। सहसा उन्हें सुनाई पड़ा—

—"तुम्हें धिक्कार है योगी!"

—"तुम्हें धिक्कार है यशोधरा!"

यशोधरा ने अपना मुख दोनों हाथों से ढक लिया। वह रो उठी।

योगी नौका से उतरकर तट पर सीधा खड़ा हो गया। वह तीव्र स्वर में चिल्लाया "तुम्हें भी धिक्कार है लोगो, तुम्हें भी धिक्कार है।"

किन्तु व्यर्थ! वहाँ खड़े हुए व्यक्तियों का समुदाय और वेग से खिलखिला

पड़ा। कुमारगिरि निस्तेज हो उठा। उसे सुनाई पड़ा, "कुमारगिरि तुम पापी हो! तुम नीच हो।"

कुमारगिरि के मुख पर क्रोध की रेखायें उभरीं, और वह यशोधरा पर एक करुण दृष्टि डालकर वहाँ से चल दिया।

पीछे फिर सुनाई दिया—एक सम्मिलित अट्टहास! कुछ बातें—

—"तो सब कुछ सच निकला!"

—"योगी भ्रष्ट हो गया है।"

—"और यशोधरा को तो देखो, कैसी भोली लगती थी।"

—"अधम स्त्री!"

—"कैसे-कैसे पापी छिपे हैं संसार में!"

—"पकड़ो! मारो!"

योगी का गात क्रोध में काँप उठा। वह मुड़कर सीधा खड़ा हो गया; चिल्लाकर कहा, "मुझे मारोगे! मुझे पकड़ोगे! देखूँ तो कौन आता है?"

उसकी रौद्र मूर्ति को देखकर कोई उसके निकट नहीं पहुँचा। उसने देखा—उसी का शिष्य मधुपाल भी उस भीड़ के बीच छिपा जारहा था। उसे उससे घृणा हो उठी और वह वहाँ से चल दिया।

यशोधरा ने जब आँखें खोलीं तो देखा—तट पर नौका अभी भी लगी है। और शान्ति से खड़े होकर अभी भी बहुत-से लोग उसे देख रहे थे। उसके आँखें खोलते ही वह एक होकर हँस उठे। यशोधरा सिर झुकाकर किनारे पर उतरी। किंतु पाँव आगे नहीं चले, डगमगाई और बैठ गई।

हँसी के और ठहाके लगे।

यशोधरा ने आँखें मूँद लीं; वेदना से अन्तर जैसे इँठने लगा।

कुछ काल में उसके कानों में किसी का रुदन स्वर पड़ा। उसने सिर उठाया; उधर देखा—थोड़ी दूर पर ही मधुपाल बैठा रोता था। यशोधरा विकल थी। उसे उस पर क्रोध आया। वह उठकर सीधी उसके पास पहुँची, पूछा, "क्यों रोते हो? मेरा तो सर्वनाश हो ही गया?"

सुनकर मधुपाल और जोर से रो उठा। फिर बोला, "मैं इसलिये नहीं रोता देवि! तुम्हारे सर्वनाश से मुझे क्या? मैं तो देखता हूँ अब गुरुदेव

का भी सर्वनाश हो गया ! उनके चरणों में अब कोई शीश नहीं झुकायेगा, उन्हें भी मेरी भाँति भिक्षा माँगनी पड़ेगी ? और वह भी उन्हें मिलेगी या नहीं, कौन जाने !"

, यशोधरा व्यथा से पागल हुई जा रही थी। मधुपाल की बात ने उसे और व्यथित कर दिया। उसने अपना मस्तक पीट लिया। वह वहीं बैठकर रोने लगी।

बीजगुप्त को सामने देखकर चित्रलेखा को हर्ष से कहीं अधिक आश्चर्य हुआ। सहसा ही वह कुछ न कह सकी। न वह उसका अभिनन्दन ही कर सकी और न आसन प्रदान कर उसका स्वागत ही। बीजगुप्त स्वयं ही एक आसन्दी पर बैठ गया। श्वेतांक उसके साथ था। वह खड़ा रहा।

चित्रलेखा धरती पर जैसे बीजगुप्त के चरणों में बैठी। बीजगुप्त ने उसके इस तरह बैठने पर कोई आपत्ति नहीं की। वह उसे अनेक क्षणों तक गम्भीर भाव से देखता रहा, पाषाणवत् बैठा रहा। सुनयना चित्रलेखा के पीछे खड़ी थी। उसने बीजगुप्त की यह दशा देखकर एक दीर्घश्वास खींची।

बीजगुप्त ने उस ध्वनि को सुनकर सुनयना की ओर आँखें उठाईं। उसने भी एक गम्भीर श्वास खींची। किन्तु वह पूरी न खींच सका, उसने पीड़ा से व्याकुल होकर वक्ष को हाथ से दबा लिया। चित्रलेखा से उसने कहा, "क्या तुमने ऐसा किया है चित्रलेखा?"

चित्रलेखा ने प्रश्न भरी दृष्टि से बीजगुप्त की ओर देखा।

बीजगुप्त ने पुनः कहा, "क्या मैंने जो कुछ सुना है, वह सच है?"

इस बार चित्रलेखा ने श्वेतांक को देखा। संभव है उसकी ओर देखकर ही बीजगुप्त के इन प्रश्नों का वह उत्तर दे सके। किन्तु व्यर्थ! अन्त में उसने बीजगुप्त से ही पूछा, "तुमने क्या सुना है आर्य? क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है?"

"यशोधरा और कुमारगिरि के अपयश का मार्ग तुमने खोला है चित्रलेखा?"

सुनकर चित्रलेखा जैसे कुछ सीधी हुई। उसने मन्दस्वर में कहा, "हाँ!"

बीजगुप्त ने कहा, "मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी।"

"क्यों?" चित्रलेखा ने पूछा।

चित्रलेखा का उत्तर सुनकर बीजगुप्त को ऐसा लगा जैसे उसने कुछ भूल की; उसने कहा, "नहीं चित्रलेखा, मेरा प्रयोजन था कि तुमने ऐसा क्यों किया?"

चित्रलेखा जैसे उस 'क्यों ?' के उत्तर में ही बीजगुप्त के हृदय के भाव जान लेना चाहती थी। बीजगुप्त भी चित्रलेखा से कुछ आशा कर सकता है यह सुनकर उसका हृदय पुलक उठा था, किन्तु उसने उसे दबाकर जैसे बीजगुप्त के सामने एक और ही प्रश्न रख दिया! उस 'क्यों ?' के उत्तर में उसे बहुत कुछ ज्ञात हो सकता था। बीजगुप्त को इस प्रकार से पलट जाते देखकर वह मर्माहत हो उठी। तो भी उसने स्वयं की उस मर्म व्यथा को दबाकर कहा, "कुमारगिरि से प्रतिशोध लेने के लिये चित्रलेखा कितनी व्याकुल है आर्य बीजगुप्त! क्या तुम नहीं जानते ?"

बीजगुप्त ने पुनः एक दीर्घश्वास खींच कर हृदय को भर लेना चाहा। उसने सिर हिलाया, कुछ क्षण तक चित्रलेखा की ओर देखा, जैसे अपने अगले प्रश्न के उत्तर का भी उसने उसके मुखांकित भावों से ही अनुमान लगा लेना चाहा।

किन्तु चित्रलेखा का मुख भावरहित हो रहा था। हृदय में कोई आँधी उठती तो थी, पर उसे बाहर आने में जैसे एक युग की देर हो। वहाँ तो एक अद्भुत शान्ति छाई हुई थी—एक विकल शान्ति।

बीजगुप्त ने कहा, "किन्तु यशोधरा से तो तुम्हें शत्रुता नहीं चित्रलेखा!"

चित्रलेखा जैसे इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये प्रस्तुत बैठी थी। उसने धरती की ओर आँखें झुकाकर कहा, "जिस समाज ने मेरे ऊपर अत्याचार किया है आर्य बीजगुप्त, यशोधरा क्या उससे अलग है ?"

बीजगुप्त स्तब्ध हो उठा। वह न जाने कितने समय तक चित्रलेखा को देखता रहा, फिर उठ खड़ा हुआ। श्वेतांक ने उसे सहारा दिया। खड़े होकर भी उसने कुछ काल तक प्रतीक्षा की कि चित्रलेखा आँखें उठाये और देखे क्या उसके मुख से प्रस्फुटित हुआ उसके प्रश्न का यह उत्तर कहीं हृदय से ऊपर आकर उनमें भी तो नहीं उतराता। किन्तु चित्रलेखा ने अपनी आँखें ऊपर नहीं कीं। बीजगुप्त धीरे-धीरे बाहर चला।

श्वेतांक ने बाहर आकर बीजगुप्त से कहा, "चित्रलेखा राक्षसी है देव!"

बीजगुप्त ने रथारूढ़ होते हुए कहा, "नहीं श्वेतांक! वह मनुष्य है!"

श्वेतांक ने कुछ नहीं कहा, वह बीजगुप्त के मुख की ओर देख

उठा। बीजगुप्त उस क्षण ऊपर भवन की ओर देख निकला था। श्वेतांक ने भी रथ घुमाते हुए उधर ही देखा। वातायन पर चित्रलेखा का मुख चमका और क्षणमात्र में ही कहीं ओझल हो गया।

किन्तु ओझल कहाँ हो गया! चित्रलेखा दूसरे झरोखे पर जाकर उस रथ को जाते हुए देखती रही। वह जब आँखों से दूर हो गया तो उसने पास ही आकर खड़ी हुई सुनयना की ओर देखा। अनेक क्षणों तक वह उसकी ओर देखती रही, उसकी आँखें जल-बिन्दुओं से पूर्ण हो रही थीं। जब उसने उन्हें गिरते हुए देखा तो वह जैसे बिलख उठी। सुनयना से लिपटकर बोली, "तूने यह क्या किया सुनयना?"

"और तूने उस दिन क्या किया चित्रे? क्यों श्वेतांक के सामने कुमारगिरि से प्रेम का नाटक रचती थी?" सुनयना ने कहा।

चित्रलेखा और रो उठी। वह सुनयना से लिपट गई। सुनयना ने फिर कहा, "क्यों दुख करती है? तू गणिका है, पूर्ण चन्द्र की तरह सहसा उदित हुई है, जीवन में आगे बढ़ चलने के लिये यही साहस क्या कम है?"

सुनकर चित्रलेखा सहसा शान्त हो गई। उसके आँसू सूख गये, और सब कुछ भूली हुई-सी दृष्टि से वह सुनयना को देखने लगी, देखती रही फिर शान्त भाव से उसने कहा, "मैं आर्य बीजगुप्त के पास जाऊँगी सुनयना!"

उसके पश्चात् चित्रलेखा को बीजगुप्त के भवन तक पहुँचने में समय नहीं लगा। उसने वहाँ पहुँचकर देखा—बीजगुप्त उस समय एक मयूरासन पर लेटा हुआ वीणा के तारों से खेल रहा था। उसकी आँखें बन्द थीं। चित्रलेखा ने धीरे-धीरे जाकर उसके पाँव पकड़ लिये। उन पर सिर रख दिया।

बीजगुप्त ने आँखें खोलकर देखा—चित्रलेखा। सामने देखा—श्वेतांक भी आ खड़ा हुआ था। उसने श्वेतांक से कहा, "चित्रलेखा को आसन दो!"

श्वेतांक ने आज्ञा पालन की। एक आसन चित्रलेखा के समीप उसने खिसकाया।

किन्तु चित्रलेखा अभी भी ज्यों की त्यों रही। उसने बीजगुप्त के पैरों से सिर नहीं उठाया। उसकी आँखों से कुछ तप्त बूँदें निकलकर बीजगुप्त के पैरों पर पड़ीं। बीजगुप्त ने कहा, "अभी मैं इस योग्य नहीं हूँ कि झुककर

तुम्हें उठा सकूँ चित्रलेखा ! इन हाथों को भी तुम तक पहुँचाने में मुझे कष्ट होगा। तुम्हारे व्यवहार पर मुझे आश्चर्य है, इस आश्चर्य को और न बढ़ाओ !"

चित्रलेखा खिसक उठी। उसने कहा, "मुझे क्षमा करो नाथ! मुझ नीचात्मा पर कृपा करो !"

बीजगुप्त ने कहा, "कैसी क्षमा देवि ? तुमने मेरा क्या अपराध किया है ? यहाँ आसन पर बैठो।"

"नहीं ! मेरा आसन जहाँ है वहीं आकर बैठ गई हूँ !" कहकर चित्रलेखा ने सिर उठाया। उसकी आँखें लाल हो रही थीं। बीजगुप्त ने यह देखा, उसने कहा, "मुझे लज्जित न करो चित्रलेखा! तुम्हें जो कुछ करना चाहिए था, तुमने वही किया। और फिर मुझे उससे प्रयोजन भी क्या ?"

चित्रलेखा बोली, "मुझे इस तरह से पीड़ित न करो देव! मैंने अपराध किया है मुझे क्षमा करो।"

"कैसे कहूँ देवि ! तुम्हें कुछ भ्रम हो गया है। मुझे लगा था कि मैं तुम्हें कुछ पहचान गया हूँ; किन्तु जब मैंने सुना कि तुमने यशोधरा के जीवन में काँटे बो दिये हैं, तो जैसे विश्वास नहीं आया। मैं तुमसे पूछने चला गया, तुम उद्विग्न क्यों होती हो ?"

चित्रलेखा बीजगुप्त को एकटक होकर देखने लगी। बीजगुप्त ने श्वेतांक की ओर देखा। वह वहाँ से चल दिया। चित्रलेखा उसके जाने के पश्चात् कुछ और आगे खिसक आई और उसने कहा, "इसी कारण तो मैं बेचैन हूँ बीजगुप्त ! मेरे देवता ने जो कुछ भी मुझे समझा मैं वह न हो सकी।"

सुनकर बीजगुप्त ने एक दीर्घश्वास खींची। अनेक क्षणों तक वह चित्रलेखा को गम्भीर भाव से देखता रहा। फिर कहा, "देवि ! मैं देखता हूँ किसी मोहजाल में पड़कर तुम स्वयं को उद्विग्न कर रही हो, किसी दूसरी उलझन के लिये जैसे तुम और भी अधिक प्रस्तुत होना चाहती हो। इस कारण मैं कहूँगा कि तुम भूल जाओ कि तुमने कुछ किया है और तुम्हें किसी से क्षमा माँगनी है।"

चित्रलेखा कुछ क्षण को चुप रही, फिर बीजगुप्त का हाथ पकड़कर उसने

कहा, "एक अपरिचित स्वर मुझे आज भी स्मरण है आर्य ! मेरे जीवन के अन्धकार में आलोक-किरण की तरह मुझे आगे चलने के लिये वही तो ठेल गया था; मैं आगे बढ़ आई। जैसे किसी अनजाने लोक में मुझे मार्ग प्राप्त हुआ, उसमें भी सहारा देकर ऊपर चढ़ा देने वाले तुम ! आज जब मैं तुम्हारे निकट, याद करो तुम्हारे ही किसी संकेत पर तुम्हारा अभिनन्दन माँगती हूँ, तो तुम कहते हो मैं स्वयं को उद्विग्न करती हूँ ! किन्तु मेरे नाथ यही उलझन मुझे स्वर्गीय सुख दे रही है। मैं कैसे भूल जाऊँ कि मैंने कुछ नहीं किया, मुझे किसी से क्षमा नहीं माँगनी। मैंने तुम्हारा महान अपराध किया है, तुम यशोधरा से प्रेम करते हो, मुझे क्षमा करो।"

बीजगुप्त सीधा लेटा था। चित्रलेखा की बात सुनकर जैसे वह उत्तेजित हो उठा। उसने झपटकर चित्रलेखा का हाथ जोर से दबा कहा, "चित्रलेखा !"

चित्रलेखा की बड़ी-बड़ी आँखें जैसे कुछ याचना कर उठीं। उसने कहा, "बीजगुप्त !"

बीजगुप्त ने करुण स्वर में कहा, "मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि इस वाग्जाल को रहने दो। अपने इस स्नेह-प्रकाश को मत फैलाओ। हर एक दूसरे के लिये सहज कर्त्तव्य समझ कर ही कुछ कर सकें, यही बहुत होगा। मेरे लिये जो यशोधरा है वही तुम। तुम मेरी अपराधिनी नहीं हो और यशोधरा के साथ मैं किसी प्रणय के खेल की कल्पना नहीं करता।"

चित्रलेखा की आँखों में बड़ी-बड़ी बूँदें आ गईं। उसने सिर झुका लिया। उसे आसन पर टिकाकर बोली, "तब फिर यशोधरा के प्रति तुम्हारी इतनी सहानुभूति क्यों है ? उसके कारण मुझसे कुपित क्यों हो ?"

बीजगुप्त ने उसके सिर पर हाथ रखकर और भी करुण स्वर में कहा, "यह द्वेषभाव तुम्हें उचित नहीं चित्रे ! क्या यहाँ मनुष्य के प्रति मनुष्य का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है ? तुम्हें सावधान होना उचित है। तुम व्यर्थ ही किसी अनुराग में पड़कर नष्ट होने के लिये तत्पर न हो।"

चित्रलेखा ने नेत्र बन्द कर लिये, जैसे विभोर हो उठी। उसने कहा, "अब सावधान होने का समय न रहने पर भी तुम सावधान करते हो। मुझ पापिन के शुभ-चिन्तक तुम ! मैं कैसे तुम्हारे लिये मर मिटने की कामना न

करूँ। मैंने तुमको क्या नहीं सौंप दिया मेरे देवता! मैं जहाँ भी आगई हूँ अब वहाँ से लौटना किसी भाँति भी सम्भव नहीं; चाहे किसी गर्त में गिर जाऊँ या अपने मन की कामना भूमि पर तुम्हारे साथ विहार करूँ। मैं किसी भी अन्त के लिये प्रस्तुत हूँ।"

सुनकर बीजगुप्त जैसे विकल हो उठा। उसने कहा, "किसी के लिये मर मिटने की कामना का आवेश सचमुच ही तुम्हारी आँखों में छलकता है सुन्दरी! और उससे तुम्हारे सौन्दर्य में कितना ओज आ रहा है? किन्तु जीवन में ऐसा कब होता है, इस पर तुम्हें भी विचार करना क्या अनुचित होगा? फिर मैंने तुम्हारे इस आवेग का अभिनन्दन करने से अपने हृदय को रोका भी तो नहीं। और......"

चित्रलेखा ने सुनकर कान बन्द कर लिये। उसने चिल्लाकर कहा, "आगे कुछ मत कहो बीजगुप्त, कुछ मत कहो। मैं केवल इतना जानती हूँ कि मैं तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम मेरे सर्वस्व हो।"

बीजगुप्त बड़ी कठिनता में फँसा। उसकी आँखों में एक विचित्र कंप उत्पन्न हुआ; क्या करे वह? उसने अपने को सम्हाल कर कहा, "कैसी बात करती हो देवि? आज तुम न जाने कितनों की सर्वस्व हो? न जाने कितने तुम्हारे चरणों में लोटने को प्रस्तुत हैं! और तुम एक अपदार्थ के सामने इस प्रकार के प्रणय वचन कहकर स्वयं को क्षुद्र करती हो।"

"मैं क्षुद्र हूँ या महान! मैं कुछ नहीं जानती। न जाने कितनों का सर्वस्व बन जाने के लिये ही जिन्होंने मुझमें ठोकरें मारीं, यदि तुम भी मुझे उन्हीं के मन की करने के लिये फेंकना चाहते थे तो मुझे क्यों लुभाया? क्यों कोई स्वर्गीय क्षण लेकर आये?" कहकर चित्रलेखा ने अपना सिर पटक दिया रो दी।

बीजगुप्त आवेश में आगया। वह सीधा बैठ गया। उसने कुछ तीव्र स्वर में कहा, "क्यों स्वयं को प्रवंचित करती हो चित्रलेखा? मैं जानता हूँ कि हमें स्वर्गीय क्षण भी देखने को मिलते हैं, उनका उन्माद हृदय को किसी और ही प्रदेश पर पहुँचा देता है, उस समय जैसे सब अपने हो जाते हैं? किन्तु उस देवताओं की भूमि पर पहुँच कर भी हम हतभागे अपने-अपने मन

की करके उसे बिगाड़ देते हैं, इस धरती से भी कहीं अधिक हीन कर देते हैं। कुमारगिरि को एक बार ठोकर मार कर भी तुम्हें शान्ति नहीं मिली, और यशोधरा तुम्हारा क्या बिगाड़ती थी ?"

चित्रलेखा ने सिर उठाकर देखा—जैसे बीजगुप्त की आँखें जल रही थीं। उसके मुख पर उत्तेजना की रेखायें स्पष्ट दीखती थीं। उस पर वह देखी नहीं गई। उसने आँखें नीची करके मन्द स्वर में कहा, "कुमारगिरि नीच है। और यशोधरा मेरा संसार उजाड़ती थी।"

बीजगुप्त को जैसे एक धक्का लगा। उसने माथे पर हाथ मारकर कहा, "हाय रे भाग्य!" फिर चित्रलेखा को अनेक क्षणों तक वह देखता रहा। उसका क्रोध जैसे शान्त होने लगा। उसने आगे कहा, "चित्रलेखा! किसी को महान बना देने वाली कोई घड़ी उसके लिये जब हम तुम जैसे मर मिटने वालों को पैदा ही नहीं करेगी और किसी को कहीं नीचे गिरा देने की भूमिका प्रस्तुत कर देने के लिये हम ही पतित नहीं होंगे, तो तुम किसे महान् कहोगी और किसे तुम नीच कहकर पुकारोगी? न जाने कौन महान है और कौन नीच है। और मनुष्य का संसार! कैसी बात करती हो देवि? अपने लिये कुछ बना लेने का अभिमान क्या इस दशा को पहुँच कर भी तुम्हारे हृदय से नहीं गया?"

बीजगुप्त लेट गया।

चित्रलेखा आँख उठाकर सहसा बीजगुप्त को न देख सकी। पर वह उठ खड़ी हुई। उसने चलने के लिये वहाँ से पाँव उठाये। फिर सहसा मुड़कर खड़ी हो गई। उसने बीजगुप्त को तीव्र दृष्टि से देखते हुए कहा, "जिस अभिमान की तुम बात करते हो, वह किसके हृदय से जाता है आर्य बीजगुप्त! न्यायाधिकरण में महान बनने का लोभ तुम त्याग नहीं सके; जिस घरौंदे को मैंने न जाने किस तरह से बनाया उसे चकनाचूर कर दिया! और अब भी मुझे इस तरह ठकरा देने का तुम्हारा उद्देश्य क्या है, तुम्हीं जानो। मेरी पीड़ा को तुम समझ सकते!"

"और मुझे तुम......।"

किन्तु बीजगुप्त अपनी बात पूरी नहीं कर पाया। चित्रलेखा जैसे उन्मादिनी हो रही थी। वह द्वार से बाहर हो गई।

श्वेतांक द्वार पर खड़ा था जैसे उनके वार्तालाप को सुनता था। चित्रलेखा के बाहर आते ही उसकी आँखें उस से मिलीं। रुआँसू-सी हो रही चित्रलेखा उससे भी कुछ भी नहीं बोली। और श्वेतांक स्वयं संयत होने को तत्पर हुआ। वह अपनी चोरी पकड़ी जाते देखकर निष्प्रभ हो उठा था।

किन्तु चित्रलेखा उसकी उस दशा को देखने के लिये भी क्षण मात्र को नहीं रुकी। वह सीधी चली गई।

चित्रलेखा ने अनुभव किया, जैसे उसका सब कुछ लुट गया है।

सुनयना को भी लगा, जैसे चित्रलेखा को दिन रात चैन नहीं है।

बीजगुप्त के यहाँ से लौटने के बाद चित्रलेखा कई दिन तक अन्यमनस्क-सी रही। कई-कई बार पूछने पर सुनयना को अपनी बात का उत्तर मिलता। वह सोचने लगी क्या बात हो गई बीजगुप्त के यहाँ? बीजगुप्त ने उससे क्या कह दिया है?

कुछ काल तक चित्रलेखा को तोता-मैना से बहुत प्रेम हुआ। वह उन्हीं के पिंजड़े को सामने रखकर देखती रहती। सुनयना ने अन्त में पूछा ही, "क्या हुआ है तुझे? आर्य्य बीजगुप्त ने क्या कह दिया है तुझसे?"

यह सुनकर चित्रलेखा उसकी ओर आँखें फाड़कर देखने लगी। फिर उन पींजड़ों में बन्द पक्षियों की ओर देखकर उसने कहा, "सुनयना! इस स्वर्ण-पींजरे में भी क्या यह पक्षी सुख पाते हैं?"

सुनयना की समझ में कुछ भी नहीं आया। फिर भी उसने उत्तर दिया, "नहीं तो।"

चित्रलेखा ने पूछा, "फिर इन्हें बन्द क्यों कर रखा है? और वह भी इन स्वर्ण-पींजरों में।"

सुनयना ने कहा, "इनकी काकली हमें अच्छी लगती है, हमारा मन बहल जाता है। यह स्वर्ण-पींजरे भी अपने सन्तोष के लिये हैं।"

"यही दिखाने के लिये न! कि तुम यहाँ बन्द रहकर हमारा मन बहलाते हो और हम तुम्हें देखो क्या-क्या चुगने को दे सकते हैं, कैसा आवास प्रदान कर सकते हैं? किन्तु इससे क्या इन्हें सुख मिलता है?"

सुनयना ने कहा, "नहीं।"

"तो फिर इन्हें मुक्त कर दो। इन्हें जहाँ चाहे विचरने दो।"

सुनयना ने उसकी आज्ञा का पालन किया। उसने पक्षी निस्सीम में छोड़ दिये। किन्तु वह उड़ नहीं सके, वहीं लौट आये।

चित्रलेखा ने यह देखकर एक दीर्घश्वास खींची और अपने सुसज्जित आवास को देखा, कहा, "क्या मैं भी इसे छोड़कर नहीं जा सकती सुनयना ?"

सुनयना को जैसे उसकी उद्विग्नता का और परिचय मिला, अपने प्रश्न का उत्तर नहीं।

एक दिन बैठी-बैठी वह गवाक्ष से वाटिका में देखती थी। सुनयना ने आकर कहा, "स्नान नहीं करोगी ?"

चित्रलेखा उठ खड़ी हुई। कहा, "चलो चलती हूँ।"

फिर चलते-चलते बोली, "क्या मैं सदैव हारती रहूँगी सुनयना ?"

इसका सुनयना के पास क्या उत्तर था ?

सायंकाल में चित्रलेखा ने उससे कहा, "चल कहीं घूम आवें। एक स्थान पर पड़े-पड़े मन उचाट खा गया है।"

उस दिन से वह कभी गंगा-वक्ष पर, कभी हिरण्यवाह के तटों के बीच उन दोनों नदियों के संगम पर नौका छोड़कर, वह तट पर बैठकर घड़ियाँ व्यतीत कर देतीं। कभी पूर्ण चन्द्र की पुलक में चित्रलेखा का जी बहलता, कभी सूर्य्य की प्रखर किरण मालाओं में वह सुनयना को लिये बैठी रहती। सब कुछ होता, किन्तु चित्रलेखा के मन से बोझ न उतरता, वह सुनयना से बार-बार पूछती, "क्या मैं सदैव हारती रहूँगी सुनयना ?"

और सुनयना चुप रह जाती।

फिर वह विकल होकर कहती, "तूने क्या किया सुनयना ?"

सुनयना सिर झुका लेती, पर एक दिन इसी बात के प्रत्युत्तर में वह बोली ही, "मैं अपराधिनी हूँ चित्रे! चल उठ मैं कुमारगिरि से क्षमा माँगूगी, यशोधरा के चरणों में शीश रगड़ूँगी, चल उठ !"

चित्रलेखा तड़प उठी। उसने कहा, "तू माँगेगी क्षमा! मैं और तू क्या दो हैं ? हमने जो कुछ किया है ठीक किया है! हारते-हारते मैं बेहाल होगई हूँ अब और भी अधिक पतित होने की मेरी इच्छा नहीं।"

सुनयना चुप हो रही।

इसके बाद जल-विहार भी छूट गया। वह दोनों रथ पर बैठकर दूर-दूर निकलने लगीं।

कहाँ-कहाँ तक उनका रथ चला जाता, उन्हें स्वयं नहीं मालूम। समय-कुसमय लौटने की भी कोई चिन्ता नहीं।

एक दिन जब किसी अज्ञात् प्रदेश पर पहुँचकर उनका रथ रुका तो संध्या हो चुकी थी। प्रतीची में क्षितिज लाल हो रही थी। दिनभर की तपन शान्त होकर शीतल वायु चलने लगी थी। रथ एक उपवन के बाहर खड़ा था। वह दोनों भीतर वाटिका में चलीं। उसके बीचोबीच एक स्फटिक की सरोवर थी, वह उसी के तट पर बैठीं। स्थान बड़ा रमणीक था, किन्तु उस समय निर्जन! चित्रलेखा ने इसका ध्यान न करके सुनयना से कहा, "सुनयना! क्या किसी के जीवन में हार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता; कामनाओं की मृगतृष्णा के सिवाय और कुछ नहीं मिलता?"

सुनयना ने इसका उत्तर नहीं दिया। वह चित्रलेखा के मुख की ओर देख उठी। चित्रलेखा ने आगे कहा, "एक बार मैंने स्वयं को जैसे किसी अद्भुत लोक में पाकर किसी को सौंप दिया, मैं ठगी गई। इस दशा में आ पड़ी। कुमारगिरि से प्रतिशोध लेना चाहा, चाहती थी कि वह तड़पता हुआ नगर की गलियों में घूमे; किन्तु हृदय जिसके सामने फिर हार गया, उसीने सब कुछ विनष्ट कर दिया। उसने भी मेरा साथ नहीं दिया, मैं बार-बार ठगी गई। क्या मैं सदैव..."

कहते-कहते वह रुक गई। एकदम उठ खड़ी हुई। सुनयना भी खड़ी हो गई। अकस्मात् उनके कानों में सारथी की चीख आ पड़ी थी। उन दोनों ने उधर ही जाने को पाँव बढ़ाये। किन्तु व्यर्थ! वह दोनों दस्यु समुदाय द्वारा घेर ली गई थीं। दोनों के मुख से चीख निकल गई। साहसिकों ने उन्हें गोद में भर लिया। चित्रलेखा को जिसने उठाया था, उसने चित्रलेखा से कहा, "चित्रलेखा! तुम्हारे सौन्दर्य्य ने हृदय को दग्ध कर दिया है, बड़े भाग्य जो इस तरह अकेले में मिल गईं। तुम्हें हम बिलकुल भी कष्ट नहीं देंगे।"

चित्रलेखा ने एक दीर्घश्वास त्यागदी। भय के कम्प मिट गये।

वह उन दोनों को ले चले। कुछ ही दूर गये होंगे कि सहसा अनेकों अश्वारोहियों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया। अन्धकार हो चला था, उनके हाथ में उल्कायें और खड्ग चमकते थे।

फिर तो साहसिकों के हाथ से उन दोनों सुन्दरियों को मुक्ति मिलने में विलम्ब नहीं हुआ। साहसिक बन्दी हुए।

रक्षा के लिये तत्पर अश्वारोही सैनिकों ने चित्रलेखा और सुनयना को उनके रथ पर बैठाया। सारथी के स्थान पर एक अश्वारोही आकर जमा। रथ चल पड़ा। मार्ग में सारथी ने कहा, "इस प्रकार से घूमना किसी तरह भी ठीक नहीं चित्रलेखा! यदि आज नगर के ही इन क्षुद्र साहसिकों की दुरभिसन्धि का पता न लगता तो तुम्हारी रक्षा असंभव थी।"

स्वर सुनकर चित्रलेखा और सुनयना विस्मय से देख उठीं। चित्रलेखा ने सारथी का आसन ग्रहण किये हुए सैनिक के शिरस्त्राण पर आँखें जमाकर कहा, "बीजगुप्त!"

बीजगुप्त ने कुछ नहीं कहा।

चित्रलेखा क्षणभर शान्त रहकर जैसे कुछ उत्तेजित हो उठी। उसने कहा, "तुमने मेरी रक्षा क्यों की?"

"यह भी कोई पूछने की बात है चित्रलेखा!"

"तो फिर मुझे यहीं उतार दो!" चित्रलेखा ने बढ़कर बीजगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये, "रथ रोको।"

बीजगुप्त ने उसकी ओर देखकर कहा, "क्या मुझसे इतनी कुपित हो देवि?"

"मैं तुमसे घृणा करती हूँ।"

"और मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।" बीजगुप्त ने कहा। रथ चलाना उसने बन्द नहीं किया।

चित्रलेखा चिल्लाई, "रथ रोको नहीं तो मैं कूद पड़ूँगी।"

"कैसी बात करती हो चित्रलेखा! तुम देखती नहीं हो, कितने सैनिकों से घिरी चल रही हो! तुम्हें अपनी बात का ध्यान नहीं तो न सही, मेरे ऊपर तो कृपा करो।" बीजगुप्त ने कहा।

चित्रलेखा जैसे सहसा शान्त हो गई। कुछ दूर तक वह शान्त रही, फिर जैसे स्वयं ही बड़बड़ाई, "कृपा करूँ! कृपा करूँ! मेरे ऊपर तुम सब ने कृपा की है, इसीलिये न! बीजगुप्त! तुमने मुझे नीचा दिखाया है, मैं तुम्हें

नीचा दिखाऊँगी। आज की यशोधरा और कल की तिष्या में क्या अन्तर है, तुम जानते हो, कल वह भी जब चित्रलेखा हो जायगी तो तुम उसकी स्थिति में कैसे परिवर्त्तन ला सकोगे, मैं देखूँगी। उसके लिये किसी से क्या छल कर सकोगे, मैं देखूँगी। और कुमारगिरि ! कल वह भी एक कामी कुत्ते के समान जब नगर के मार्गों पर व्याकुल हुआ मेरी रट लगायेगा तो तुम मुझे कैसे दोषी ठहरा सकोगे, मुझे यह देखना है।"

"शान्त हो चित्रलेखा।" बीजगुप्त ने कहा, "अभिमान की सीमाओं में घुसकर किसी जाल को तोड़ने का अहंकार किसका सफल हुआ है! मैं तो नहीं जानता। अपनी तुम जानो। किन्तु विश्वास रक्खो देवि, बीजगुप्त ने अपरिचय के क्षण से लेकर आज तक भी तुम्हें नीचा दिखाने की चेष्टा नहीं की ; मेरे द्वारा किसी का मान-भंग हो, मैंने कभी नहीं चाहा।"

चित्रलेखा ने कुछ नहीं कहा। वह साथ-साथ बढ़ने वाले उल्क धारी अश्वारोहियों की ओर देखने लगी। सहसा उसकी दृष्टि सामने खण्डहरों के ढूह पर पड़ी, हिरण्यवाहेश्वर घाट को उसने देखा और बोली, "रथ रोको आर्य बीजगुप्त ! मैं योगी कुमारगिरि के आश्रम पर जाना चाहती हूँ, रात्रि वहीं व्यतीत करूँगी।"

बीजगुप्त ने चित्रलेखा की ओर गम्भीर दृष्टि से देखा और रथ उसने कुमारगिरि के आश्रम की ओर बढ़ाया। आश्रम-द्वार पर रथ खड़ा करके उसने कहा, "जाओ किन्तु यहाँ तुम्हारे लिये रथ छोड़ना व्यर्थ होगा, क्योंकि तुम्हारा सारथी दस्युओं से मिला हुआ है ; वह राज-बन्दी है। प्रभात में श्वेतांक तुम्हें लेने आ उपस्थित होगा।"

चित्रलेखा ने रथ से उतरते हुए कहा, "नहीं ! मुझे तुम्हारे सेवक की कोई आवश्यकता नहीं।"

और वह आश्रम में चली गई।

बीजगुप्त ने भी रथ लौटाया ; रथ उसने वहाँ नहीं छोड़ा।

चित्रलेखा ने कुमारगिरि के आश्रम में पहुँचकर देखा—योगी कुटी में चंक्रम पर बैठा समाधिस्थ था। कुछ दूर पर विशालदेव भी अपनी कुटी के सामने बैठा दीपक के प्रकाश में कुछ पाठ कर रहा था। वह जैसे अपने कार्य

में मग्न था। उसने उन दोनों रमणियों को नहीं देखा। चित्रलेखा, सुनयना सहित धीरे-से योगी के सामने चंक्रम पर बैठ गई।

कई दण्ड रात्रि व्यतीत होने पर विशालदेव ने पाठ समाप्त किया, ऊपर आकाश की ओर देखा, फिर पोथी बन्द करते हुए कुमारगिरि की ओर दृष्टि गई तो उन दोनों को देखकर वह चौंक पड़ा। वह तुरन्त ही उनके पास आया। उन दोनों को पहचानकर उसने विस्मय से कहा, "तुम!"

चित्रलेखा ने कहा, "हाँ ब्रह्मचारिन्! क्या योगिराज की समाधि नहीं खुलेगी?"

विशालदेव कुछ शंकित हुआ। उसने एक दृष्टि कुमारगिरि पर डाली, फिर पूछा, "क्यों? क्या कुछ कार्य है इनसे? और वह भी इस समय।"

चित्रलेखा को विशालदेव के इस शुष्क व्यवहार पर आश्चर्य नहीं हुआ, न उसके तिक्त वचन पर दुःख ही। उसने कहा, "अब पाटलिपुत्र पहुँचना सम्भव नहीं है। एक दुर्घटना के कारण हम यहाँ चली आई हैं, प्रभात में चली जायँगीं।"

"तो आइये, मधुपाल की कुटी खाली पड़ी है, वहीं विश्राम कीजिये। गुरुदेव की समाधि कब खुलेगी, इसकी प्रतीक्षा करना व्यर्थ है।" विशालदेव ने कहा, और मधुपाल की कुटी की ओर चला।

चित्रलेखा और सुनयना भी उठ खड़ी हुईं। वह उसके पीछे चलीं।

विशालदेव मधुपाल की कुटी के द्वार पर पहुँचकर सहसा ठिठका। उसे किसी की श्वास-ध्वनि सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर और भी सुना, सच-मुच ही उसे लगा जैसे उसमें कोई सो रहा हो। उसने उन रमणियों की ओर देखकर कहा, "यहीं ठहरो! मैं अभी दीपक लाकर देखता हूँ, इस कुटी में न जाने कौन आ सोया है।"

वह दीपक लेकर आया। कुटी में धीरे-से उसने पैर रक्खा। आलोक कुटी में पड़ा। उसने देखा—मधुपाल वहाँ सो रहा था। उसने उसके निकट पहुँचकर पैर के अँगूठेसे उसे छेदते हुए पुकारा, "मधुपाल! मधुपाल!"

मधुपाल ने करवट बदल लिया।

विशालदेव ने कहा, "मधुपाल ! मधुपाल ! उठता है या नहीं।"

मधुपाल उठकर बैठ गया। उसने विचित्र दृष्टि से विशालदेव की ओर देखा, फिर उसके पीछे खड़ी चित्रलेखा तथा सुनयना की ओर। विशालदेव ने उससे पूछा, "यहाँ क्यों आगया है तू? अपनी कुटी अलग बनाकर भी तू इस आश्रम में क्यों आगया है?"

"मैं तो नित्य ही रात्रि को इस कुटी में सोता हूँ विशालदेव ! मुझे वहाँ अकेले में डर लगता है।" मधुपाल ने कहा।

"तो आज से नहीं सोओगे। चलो भागो यहाँ से।" विशालदेव ने डपट कर कहा।

मधुपाल गिड़गिड़ाया, "अब मैं सुधर गया हूँ भइया ! मुझे अब इस आश्रम से दूर न भेजो। गुरुदेव से मेरा अपराध क्षमा करादो।"

"अच्छा उठो। चलो बातें मत करो।" विशालदेव ने उसे फिर कोंचा।

मधुपाल बोला, "तो भाई उठता हूँ, पर इन स्त्रियों के सामने एक पुरुष का अपमान तो मत करो।"

और वह खड़ा होगया। उसकी बात सुनकर चित्रलेखा और सुनयना के मुख पर एक हल्की-सी स्मित आगई। विशालदेव ने उनसे कहा, "आइये।"

तभी उसे बाहर से कुमारगिरि का स्वर सुनाई पड़ा, "विशालदेव !"

विशालदेव बाहर चला, मधुपाल कुटी के एक कोने में सिमट गया।

चित्रलेखा सुनयना से बोली, "तुम यहीं विश्राम करो मैं आती हूँ।"

सुनयना वहीं पड़े कुशासन पर बैठ गई।

चित्रलेखा कुटी से बाहर आई। विशालदेव के पीछे-पीछे कुमारगिरि के निकट पहुँची। दोनों की आँखें मिलीं। कुमारगिरि जैसे विशालदेव से अपनी बात कहना भूल गया। उसने चित्रलेखा पर दृष्टि जमाकर कहा, "नर्तकी !"

चित्रलेखा बोली, "योगी !"

"तुम यहाँ क्यों आई हो ?"

"अपने प्रियतम के चरणों में प्रणाम करने, अपना अपराध क्षमा कराने।"

सुनकर कुमारगिरि जैसे काँप उठा। उसका हृदय धड़क उठा। वह चिल्लाया, "नर्तकी !"

चित्रलेखा ने उसके सामने घुटने टेक दिये, हाथ जोड़कर कहा, "अपराधिनी हूँ।"

"मैं यह नहीं कहता। मैं कहता हूँ नीच स्त्री, तुम यहाँ से चली जाओ।" कहता हुआ कुमारगिरि वहाँ से हटा। उसकी आँखें जलने लगी थीं।

चित्रलेखा उठकर खड़ी होगई। उसने कहा, "मैं इससे भी अधिक धिक्कार की पात्र हूँ योगिराज! किन्तु मैं तुम्हारे पास आई हूँ, तुम्हें प्रणाम किया है आशीर्वाद तो दो।"

कुमारगिरि जैसे कुछ शान्त हुआ। फिर भी स्वर की रूक्षता गई नहीं। उसने कहा, "आशीर्वाद माँगती हो तो दूँगा ही। तुम नर्तकी हो; जाओ लोक में विख्यात होकर अपने रूप पर जलने वालों को दग्ध करो, कामियों के बीच हँसो और वासनाओं से घिरकर मुस्कराओ।"

चित्रलेखा ने कहा, "इससे मुझे शान्ति नहीं मिलेगी देव!"

कुमारगिरि ने चित्रलेखा की बात जैसे सुनी ही नहीं। वह वहाँ से चला गया। चित्रलेखा ने उसके जाने के उपरान्त विशालदेव की ओर देखा और एक दीर्घ निश्वास त्याग दिया।

प्रभात में चित्रलेखा ने चुपचाप आकर योगी के पैर पकड़ लिये। कुमारगिरि जैसे चौंक पड़ा। उसने एकदम खड़े होकर कहा, "मेरे पाँव छोड़ो नर्तकी! दूर हटो।"

चित्रलेखा ने योगी के पाँव छोड़े नहीं। उसने उन्हीं में शीश टिकाकर कहा, "मुझे दूर न हटाओ भगवन्! मुझे किसी का उपदेश नहीं मिला, पिता के दुलार से बढ़कर मैंने कुछ नहीं समझा और हृदय की फलती-फूलती हुई कामनाओं की अँगड़ाइयों के बीच रहने से बढ़कर कोई जीवन का उद्देश्य नहीं समझा; किन्तु जीवन के विविध पग, चारों ओर का मनोरम जाल और अपने मन के स्वप्न, सभी कुछ तो मेरे सामने न समझ में आने वाली पहेली की तरह आ उपस्थित हुए योगिराज! मैं उनमें भूल गई। मैं क्या-क्या कर बैठी देव! अपराध पर अपराध! कुल-कलंकिनी मैं बनी, लोक के पूज्य मैंने तुम्हें छला, तुम्हारी प्रतिष्ठा भंग की। मैं महापापिन हूँ। मुझे धिक्कारिये! मुझे मारिये, दुर्वचन कहकर मेरा तिरस्कार कीजिये।"

कुमारगिरि विवश-सा उसे देखने लगा, जैसे सहसा ही किसी बन्धन में घिर गया हो। उसने झटका देकर अपने पैर छुड़ा लिये। और विशालदेव को पुकार कर कहा, "विशालदेव! यह नर्तकी उद्विग्न है। इसे नगर तक पहुँचा दो।"

चित्रलेखा का सिर पैर छूटने से धरती से टकराया। वह कराह उठी। योगी वहाँ से चल दिया। चित्रलेखा आँखें उठाकर उसे हिंस्र दृष्टि से देख उठी। फिर खड़ी हो गई। और उसी क्षण वहाँ आकर खड़े हुए विशालदेव से उसने तीव्र स्वर में कहा, "मैं अपने आप चली जाऊँगी आर्य विशालदेव! परन्तु स्मरण रखना मैं फिर आऊँगी।"

उस मार्ग पर कुछ आजीवक साधु आ रहे थे। हिरण्यवाहेश्वर घाट पर आकर वह खड़े हुए। वहाँ से कुमारगिरि का आश्रम दृष्टिगोचर होता था। उन लोगों ने घाट पर खड़े होकर शौण के बढ़े हुए जल की ओर देखा, स्नान करने के लिये कुछ ने घाट की सीढ़ियों पर नीचे पाँव बढ़ाये। कुछ आश्रम की ओर देखते हुए बात करने लगे। एक बोला, "योगी कुमारगिरि का आश्रम यही होना चाहिए! कैसी शान्त जगह है?"

और किसी ने कुछ नहीं कहा। वह उधर ही देखते रहे। सहसा मार्ग पर रथध्वनि सुनकर वह चौंके। देखा—एक सुन्दरी जिसके रुचिर पहनाव-उढ़ाव में भी न जाने कितना आकर्षण था, सामने आकर खड़े हुए रथ पर बैठी थी। चित्रलेखा को वह पहचानते नहीं थे।

चित्रलेखा ने भी उन्हें देखा और वह रथ से उतरकर योगी के आश्रम की ओर चल दी। एक आजीवक ने सहसा उससे पूछा, "योगी कुमारगिरि का आश्रम यही है?"

"हाँ!" चित्रलेखा ने उत्तर दिया।

एक और उत्तर उन्हें सुनाई पड़ा, "हाँ गुरुदेव का आश्रम यही है, आइये!"

चित्रलेखा ने भी वह स्वर सुना, पहचाना भी—मधुपाल तब वहीं आकर खड़ा हुआ था।

उन आजीवक साधुओं ने मधुपाल की ओर देखा। एक ने उससे पूछा, "तुम उनके शिष्य हो।"

मधुपाल उत्तर देने में कुछ झिझका, फिर बोला, "निस्संदेह! मैं यह कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि मैं उनका शिष्य नहीं हूँ। और अब तो और भी नहीं।"

एक साधु ने पूछा, "क्या ऐसा मानने में तुम्हें कभी संकोच भी होता था?"

मधुपाल ने किंचित उपेक्षा पूर्ण भाव से कहा, "हाँ! पर उससे क्या? वह

वास्तव में महान हैं, मैं मूर्ख हूँ।"

यह बात स्नान करके वहाँ लौटे हुए एक दूसरे आजीवक ने भी सुनी, वह बोला, "किन्तु सुना है योगी कुमारगिरि पाखंड है, दुराचारी है।"

मधुपाल क्रोध में भर उठा, उसने उत्तेजित होकर कहा, "यह किस दुष्ट ने कहा? वह महान हैं! हाँ वह महान हैं। जो कोई भी उन्हें ऐसा कहता है वह साक्षात् असत्य है, वह नरक में गिरेगा।"

और वह वहाँ से चला।

साधुओं ने कुछ मन्त्रणा की। एक ने कहा, "यह बात अवश्य ही सत्य प्रतीत होती है।"

"तब फिर क्या हम इस आश्रम से बंधे हैं?"

"किन्तु चातुर्मास्य व्यतीत करने के लिये इससे अच्छा आश्रम नहीं मिलेगा!"

"नहीं मिलेगा!" एक आजीवक ने कुछ उच्च स्वर में कहा, "आश्रमों का क्या अभाव? हमें किसी स्थल से कोई मोह नहीं है, कहीं न कहीं वर्षावास के लिये हमें स्थान मिल ही जायगा। ऐसे योगी के आश्रम में तो क्षण भर भी नहीं ठहर सकते।"

मधुपाल अधिक दूर नहीं गया था, सम्भवतः जानबूझकर ही। उसके कान इस आजीवक मंडली की बातों की ओर ही लगे थे। वह खड़ा होगया। उसने मुड़कर कहा, "तो सुनाते क्या हो? जहाँ जी चाहे चले क्यों नहीं जाते? गुरुदेव कैसे हैं यह तो मैं जानता हूँ। भूल-चूक हो जाना मनुष्य के जीवन में स्वाभाविक है।" फिर वह चला। कुछ पग चलकर फिर मुड़ा, बोला, "पर मैं यह भी नहीं कह सकता कि वह उनकी भूल-चूक थी या उनकी अपनी माया। गुरु की गुरु ही जानें।"

वह फिर चल दिया, आकाश की ओर देखते हुए। आजीवक हँस दिये। किसी के मुख से निकला, "सचमुच मूर्ख है।"

मधुपाल ने आश्रम-द्वार पर पहुँचते ही देख लिया कि चित्रलेखा कुमारगिरि के सामने घुटनों के बल हाथ जोड़कर बैठी थी। वह एक वृक्ष की ओट में होगया। उसने चित्रलेखा का स्वर सुना।

"मेरे हृदय को शान्ति देने वाले अब तुम्हीं रह गये हो योगी! मैं विक्षिप्त-सी बार-बार घुमड़ूँगी जब तक मेरे मन की आग ठण्डी नहीं हो जायगी! जिस प्रकार भी तुम मुझसे प्रसन्न हो सको, मैं उसी के लिये तैयार हूँ।"

कुमारगिरि की दृष्टि शान्त भाव से नर्तकी पर लगी रही। फिर उसने कहा, "देवि! मेरा अब तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुम्हारी तृष्णा और कामना मेरे लिये व्यर्थ है। इस कारण तुम्हारे मन की आग कैसे ठण्डी होगी, मैं नहीं जानता। तुम यहाँ से जाओ।"

कुमारगिरि उठकर खड़ा हो गया। चित्रलेखा भी खड़ी हुई। उसने कहा, "मेरी उपेक्षा न करो योगी।"

उसका स्वर ऐसा था कि जिसे करुण भी कहा जा सकता था, और मादक भी। योगी के हृदय में जैसे एक कम्प उठ आया। उसने पुनः चंक्रम पर पड़े एक दूसरे कुशासन पर बैठते हुए कहा, "नहीं नर्तकी! मैं किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता नर्तकी, मैं किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता।"

चित्रलेखा तिलमिला गई, किन्तु योगी की दशा देखकर उसे कुछ संतोष भी हुआ। उसने भी उसके ठीक सामने घुटने मोड़कर शिथिल भाव से बैठते हुए कहा, "तुम झूठ कहते हो योगी! मैं कहती हूँ मुझे समझो। चित्रलेखा के प्रेम में तुम्हारे लिये कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। और देखो तो, कातर भाव से याचना करती हुई इस निरीह स्त्री पर तुम्हें दया नहीं आती?"

कुमारगिरि चित्रलेखा के मुख को आच्छन्न किये हुए दीन भाव को, याचना करती हुई-सी विकल आँखों को देख नहीं सका। उसने आँखें बन्द करके कहा, "मैंने तुम्हें भीतर तक समझा है चित्रलेखा! अब इस हृदय में कोई इच्छा नहीं रही, तुम जाओ। मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ।"

चित्रलेखा कह उठी, "किन्तु कोई अनुभव पूर्ण नहीं है योगी!"

"यही तो मैं समझ पाया हूँ नर्तकी!" कुमारगिरि ने कहना प्रारम्भ किया, "मेघ-मंच पर विद्युल्लता की अँगड़ाई, बादलों के मोह में अवनी की पुलक, इन्द्र-धनुष की छवि। तुमने कहा था कि क्या क्षणभंगुर होने से ही सब मिथ्या हो जायँगे? मैंने इस पर विचार किया है चित्रलेखा! जैसे वह

ऐन्द्रजालिक न जाने क्या-क्या खेल दिखाकर लोगों को मोहित करता है, उन्हें समेटता हुआ दूसरी प्रस्तावनायें करता है, किन्तु लोग उन्हें ही सत्य समझ कर अपने विश्व में आग नहीं लगा देते, वह कुछ और की प्रतीक्षा करते-से जैसे सत्य की खोज में लगे रहते हैं। यहीं का सौन्दर्य्य लेकर वह बार-बार अपने को सजाते हैं और जब वह उसी से कुरूप लग उठते हैं तो उसे बार-बार फेंक देना चाहते हैं। तुम भी न जाने अपने मन की कैसी तृष्णा से विदग्ध होकर मेरे पास पुनः आई हो, न जाने किस सत्य को फेंककर मिथ्या को अपनाने आई हो! मैं तुमसे कहता हूँ देवि! तुम लौट जाओ, जिसे तुम छोड़ आई हो वह तुम्हें शान्ति नहीं देसका; जिसे तुम अपनाने दौड़ पड़ी हो उसी पर कैसे विश्वास करती हो कि वह तुम्हारे मन की करेगा। जाओ, अपने मन को शान्त करो।"

"नहीं! यह सब झूठ है! यह सब झूठ है! मुझे यह ज्ञान नहीं चाहिये! मुझे तो वही स्वयं में संयुक्त करने को उद्यत, मुझ पर प्रसन्न योगी चाहिये।" चित्रलेखा जैसे विवश-सी कह उठी।

कुमारगिरि ने आँखें बन्द करली थीं। चित्रलेखा उत्तर की प्रतीक्षा में जैसे आकुल भाव से उसे अनेक क्षणों तक देखती रही। फिर आगे बोली, "मुझे ज्ञात है मेरे देव कि मुझसे रुष्ट होकर ही तुम ऐसी बातें करते हो। मुझसे असंतुष्ट हुए तुम जगत को व्यर्थ ही मिथ्या समझते हो! वह सभी कुछ सत्य है! मुझे देखो तो···! मेरा रूप···मेरा शृङ्गार·····मेरा प्रेम।"

किन्तु कुमारगिरि जैसे सुनता ही नहीं था। आसन पर वह स्थिर था, पद्मासन की मुद्रा में अविचल, शान्त था। नर्तकी ने उस पर आँखें गड़ा दीं—समझा, जैसे वह व्यर्थ ही प्रलाप कर रही है। वह चिल्लाई, "योगी!"

विशालदेव उसके पीछे आकर उसी क्षण खड़ा हुआ था। उसने कहा, "तुम जाओ नर्तकी! गुरुदेव ने समाधि लगा ली है। तुम्हारा कोई भी यत्न व्यर्थ है।"

चित्रलेखा जैसे मर्माहत हो उठी। उसे लगा जैसे उसका इतना अपमान कभी नहीं हुआ। उसने उत्तप्त दृष्टि से कुमारगिरि को देखा। जैसे वह पाषाण-मूर्त्ति हो रहा था। वह सीधी खड़ी होगई। न जाने कितने क्षणों तक

वह योगी की ओर देखती रही, फिर विशालदेव की ओर देखकर बोली, "मैं इस तरह से नहीं जाऊँगी विशालदेव ! मैं योगी की समाधि भंग कर दूँगी।"

विशालदेव शङ्कित हो उठा। तो भी उसने कुछ ठहर कर कहा, "देवि ! गुरुदेव तुम्हारे मोह से मुक्ति पा चुके हैं ! मैं कहता हूँ, तुम्हारा प्रत्येक जाल छिन्न हो जायगा !"

नर्तकी उसकी ओर एक कठोर दृष्टि से देख उठी; और स्थिर ! जैसे कोई मुद्रा बनाई हो। फिर उसके पलक झुक गये, जैसे चुपचाप ही कोई जाल फैलाने के लिये वह तत्पर हुई हो।

विशालदेव उसका वह भाव देखकर कुछ पीछे हटा। वहाँ उसे मधुपाल दिखाई पड़ा। दोनों की आँखें मिलीं।

चित्रलेखा ने विशालदेव जहाँ खड़ा था, वहाँ देखा; वह मुस्कराई। एक विरक्त मुस्कान ! उसके चरणों में गति उत्पन्न हुई।

नूपुर आश्रम के शान्त वातावरण में एक संगीत बिखेर उठे।

विशालदेव और मधुपाल एक ओर खड़े होकर देखने लगे।

संगीत—उसके साथ नृत्य ! नृत्य—नृत्य के साथ रूप ! सौन्दर्य !! रूप !!! सौन्दर्य उनमें बिंधा चान्चल्य। चान्चल्य—चान्चल्य के जाल में छलकती मादकता ! मादकता- मादन चित्र का प्रज्वलित शृंगार ! उसपर से गायन ! हृदय को झकझोर देने वाला वातावरण उपस्थित होने लगा।

ऊपर झीने-झीने बादल घिरे थे, धूप उस आश्रम से दूर थी ; कभी-कभी जैसे आश्रम के आंगन में वह रंगलीला देखने आती हो !

दूर तक एकान्त निस्तब्ध था। गायन की तड़प जैसे शोण की लहरों के उभाव से टकराती थी। घुमड़कर वह दूर तक फैल जाती थी।

चित्रलेखा तड़पती हुई-सी जैसे नृत्य करती थी, बार-बार योगी के सामने आकर झूम उठती थी ; अपने हृदय के गीत से उसके कानों में न जाने कोई सुधा-बिन्दु टपका देना चाहती थी, या मादक सुरा।

विशालदेव चित्रलिखित-सा हो रहा था। वह चित्रलेखा को स्थिर दृष्टि से देखता था। इतने समीप से क्या उसने ऐसा नृत्य कभी देखा था? मधुपाल जैसे विमूढ़ हो गया था उसे किसी ओर का, कहीं का ज्ञान नहीं।

वह बैठ गया था।

चित्रलेखा की आँखें योगी पर टिकी थीं। उनके संकेत का जैसे अभी कोई फल नहीं, उनके सैन जैसे अभी तक भी व्यर्थ हैं। किन्तु उसका मादक रूप, झुके हुए-से पलक, उत्तरीय की सीमा को लाँघते हुए वक्षस्थल का मादक भार, सभी कुछ जैसे किसी के हृदय पर आघात करने को आकुल हो रहे थे। न जाने कुमारगिरि कब नैन खोल बैठे।

चित्रलेखा खूब सजकर आई थी, उसका वही शृंगार जैसे नृत्यलीला के सहारे उसके यौवन की जगमगाहट फैलाता था, नहीं चिनगारियाँ छोड़ रहा था। कामीजनों के हृदय के लिये जैसे तृष्णाहुति प्रदान करता था। और ऊपर से गायन। किसी पिपासाकुल के लिये एक एक बूँद की तृप्ति देकर वह भी जैसे अतृप्ति का ही संसार बिखेरता था।

विशालदेव ने विभोर होकर नेत्र बन्द कर लिये। फिर सहसा उसे जैसे कुछ चेत हुआ, भड़भड़ाकर आँखें खोल दीं। उसने मधुपाल की ओर देखा। वह बैठा-बैठा जैसे झूम रहा था। योगी की ओर देखा—वही अविचल, शान्तमूर्त्ति ज्यों की त्यों चंक्रम पर विराजमान थी।

चित्रलेखा ने भी पलकों की ओट से उधर देखा—कुमारगिरि की शान्त मुद्रा उसे अपना तिरस्कार करती-सी लगी।

विशालदेव ने मधुपाल को चैतन्य करना चाहा। उससे कहा, "चलो यहाँ से।" किन्तु मधुपाल तो आनन्दमग्न हो रहा था। उसने कहा, "कहाँ चलूँ विशालदेव! यहाँ से बढ़कर और कहीं क्या आनन्द होगा? इस नृत्यांगना ने तो मेरे हृदय को हर लिया है।"

विशालदेव ने कहा, "क्या कहता है मूर्ख? तू ब्रह्मचारी है!"

मधुपाल बोला, "मैं मूर्ख हूँ! इस नृत्य ने मेरे हृदय में हलचल मचादी है।"

विशालदेव उसे कुपित दृष्टि से देखता हुआ वहाँ से चला गया। अपनी कुटी में जा बैठा।

चित्रलेखा नृत्य करती रही। वह बार-बार योगी को देखने लगी। उसके हृदय में निराशा के अंकुर फूटने लगे थे। गायन अपने आप धीरे-धीरे जैसे

उसी निराशा के प्रवाह में पड़कर ठण्डा पड़ चला ।

और नृत्य ! उसने अन्तिम बार चेष्टा कर लेनी चाही ।

नृत्य-गति और उसकी झनकार और भी तीव्र हो गई ।

परन्तु योगी की समाधि नहीं टूटी ।

मधुपाल उसे देखता ही रहा—कितना समय बीत चला उसे नहीं मालूम ! चित्रलेखा के नेत्रों में बेचैनी का प्रादुर्भाव हो चला; आत्म-विश्वास डिगने लगा । कुछ काल उसका नृत्य और चला, फिर उसके मुख से निकला, "योगी !"

मधुपाल ने कोमल संगीत के टूट जाने पर जैसे कोई वज्र-ध्वनि सुनी । उसने चैतन्य होकर देखा—चित्रलेखा गिर पड़ी है । वह दौड़कर उसके पास आया, उसने देखा—वह मूर्च्छित थी ।

विशालदेव ने भी चित्रलेखा की चीख कुटी में सुनी । वह व्याकुल होकर बाहर निकल आया । उसने आकर देखा—मधुपाल चित्रलेखा को गोद में भरे बैठा है ।

विशालदेव के समीप आने पर वह रो उठा । उसने कहा, "विशालदेव ! देखो तो विशालदेव ! चित्रलेखा को क्या होगया ?"

विशालदेव ने देखकर कहा, "इसकी मूर्च्छा भंग करने के लिये जल लाता है दुर्बुद्धि या इसे गोद में लिये बैठा है ।"

मधुपाल बोला, "पहले इसे किसी कोमल बिछौने पर तो लिटा दो । इसकी कोमल देह और यह कठोर धरती ! मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है ।"

विशालदेव ने व्यग्र होकर कहा, "अच्छा तू इसे गोद में ही लिये रह ! मैं ही जल लाता हूँ ।"

वर्षा काल आ चुका है। किन्तु अभी जल का अभाव ही है, ऊपर बादल आते हैं और चले जाते हैं, कि उन्हें केवल दर्शनी घटा समझा जा सकता है। वह जल नहीं बरसाते। शोण और गंगा का जल कुछ बढ़ आया है, संगम-प्रदेश कुछ और भरा हुआ-सा प्रतीत होता है। किन्तु वेग का अभाव ही है, आवर्तों की भी कमी है। वैसे जल तो निर्मल नहीं रहा, पर नौका विहार करने वालों को उससे कोई बाधा नहीं; जल का धीमा-धीमा उभाव उन्हें अच्छा लगता है।

और इधर गंगा-तट के सहारे-सहारे बढ़ता हुआ हैमवत जहाँ से ठीक उत्तर की ओर मुख करता है, वहाँ तक लगी हुई उद्यानों की श्रृंखला में लोगों का कभी अभाव नहीं रहता। बीजगुप्त भी कभी-कभी श्वेतांक को लेकर गंगा-विहार करता हुआ उधर जा पहुँचता है। उस दिन भी वह दोनों जल-विहार करते हुए उपवन प्रदेश में पहुँच गये थे; वहीं दिखाई पड़ते थे।

भूमि की उज्ज्वल काया पर गुल्म लताओं का श्रृङ्गार पवन के मन्द प्रवाह में सुगन्ध का सहज सन्तरण लेकर सौन्दर्य प्रेमियों को सहज आमंत्रण देता था। अशोक, मौलश्री, मुचकुन्द, कुन्द, निम्ब, अश्वत्थी, चैत्य, आम्र आदि विटपों की श्रेणी कहीं-कहीं अद्भुत कुंज बनाये थी। शिलासन वहाँ उपवन प्रेमियों के विश्राम के लिये थे। सुरभिगन्धा, सुरूपा, मुक्त-बन्धना, सुगन्धा, हेमपुष्पा पराश्रया, मालती, वृतपुष्प अपनी महक से उस शीतल वातावरण में चित्त को और भी प्रमुदित कर देने को सदैव तत्पर-से दीखते थे। कहीं-कहीं सोते और बावड़ियों की झलमल और ही दृश्य को अपनी अंक में छिपाये दीखती थी। उसी प्रकार उस वन-प्रदेश की अंक में यत्र-तत्र वनविहार करने वालों के झुण्ड दिखाई देते थे।

श्वेतांक से बीजगुप्त ने पूछा, "क्या तुम कभी इन उपवनों में घूमने आये हो?"

श्वेतांक ने कहा, "केवल घूमने के प्रयोजन से तो मैं इधर कभी नहीं

आया। वैसे यह मेरे देखे हुए हैं।"

बीजगुप्त ने कहा, "अच्छा! आज तुम कुछ और ही आनन्द प्राप्त करोगे!"

उन्हें जानने वाले लोगों की वहाँ कमी नहीं थी। इधर-उधर घूमने वालों पर, कहीं-कहीं कुंजों में आश्रय प्राप्त करते हुओं पर, तथा अन्य स्थानों पर विहार करते हुए स्त्री-पुरुषों पर उनकी भी दृष्टि पड़ती थी। किसी-किसी जगह पर बीजगुप्त चर्चा का विषय भी बन जाता था।

कोई बीजगुप्त को देखकर कहता, "सामन्त बीजगुप्त!"

सुनने वाला बीजगुप्त को देखता, उत्तर भी देता, "क्या वह पूर्ण स्वस्थ होगये?"

"देखते तो हो, घूम रहे हैं।" प्रत्युत्तर सुनाई पड़ता।

इस पर किसी के मुख से निकलता, "अरे भाई। आर्य का प्रयोजन उनकी मानसिक अस्वस्थता से भी तो है। सुना है चित्रलेखा योगी कुमारगिरि के आश्रम के चक्कर काटने लगी है।"

फिर बातों का फेर बँध जाता।

"सो क्या हुआ? गणिका ही तो है, और भाई सामन्त बीजगुप्त जैसे व्यक्ति को भी क्या एक से ही उलझकर रह जाना चाहिए?"

सब मिलकर हँसते हुए आगे वार्तालाप को बढ़ाते। बीजगुप्त और चित्रलेखा की प्रणय-लीला पर टीका-टिप्पणी करते।

नगर में सामन्त बीजगुप्त के विषय में विभिन्न प्रकार की चर्चायें फैली थीं। इसी कारण जब लोग बीजगुप्त को साक्षात् सामने देख पाते तो उसके विषय में बात करने से वह अपने को रोक सकें, यह असम्भव-सा ही था। उस उपवन-प्रदेश में जहाँ कहीं भी बीजगुप्त को जानने वालों की मण्डली जमी थीं, उसके उनके सामने होकर निकल जाने पर वहाँ चलने वाले वार्तालाप का विषय तुरन्त ही करवट बदल लेता। कोई उसे देखकर प्रारम्भ करता "बड़ा विचित्र व्यक्ति है।"

दूसरा जैसे चौंककर कहता, "कौन?"

वह संकेत से सामने जाते हुए बीजगुप्त को दिखाकर गंभीर हो जाता।

देखकर चौंकने वाला कह उठता, "एक गणिका के पीछे हिरण्यवाहेश्वर के शिविर से गिर पड़ा, वही है न ?"

विद्रूप भाव से फिर वह हँस उठता; अपनी बात को आगे बढ़ाता, "बड़ा विचित्र व्यक्ति है।"

उसे समर्थन भी प्राप्त होता, "ऐश्वर्य को भोगने वालों में विचित्रता क्यों नहीं होगी ?" फिर एक ठण्डी श्वास।

दूसरी जगह बीजगुप्त की प्रशंसा करने वाले किसी व्यक्ति की बात पर कोई आपत्ति करता, "भला गणिकाओं में आसक्त रहने वाले की तुम प्रशंसा करते हो ?"

"भला और किया भी क्या जा सकता है ? समर्थ के दोष भी गुण कह कर पुकारे जाते हैं।"

और लोग कहते, "न जाने यह व्यक्ति स्त्रियों पर क्या मोहिनी डाल देता है। किसी की न होने वाली वेश्यायें तक उसके पीछे मारी-मारी फिरती हैं।"

प्रतिकार उठता, "वाह ! कैसे मारी-मारी फिरती हैं वेश्यायें उसके पीछे। चित्रलेखा ने त्याग न दिया उसे।"

तिरस्कृत भाव से उत्तर मिलता, "उँह ? तुम क्या जानो ? जाने बीजगुप्त ने उसे त्याग दिया या उसने बीजगुप्त को। यह रहस्य तो वही जानें।"

इस चर्चा के बीच कोई और अपना मत प्रकट करता, "मैं तो कहूँगा, बीजगुप्त चरित्रहीन है।"

वार्तालाप का रुख पलटता, "और यशोधरा के विषय में क्या कहते हो ?"

"कहते क्या हैं ? आर्य मृत्युञ्जय को विश्वास होगा यह चरित्रहीन सामंत उनकी कन्या का पाणिग्रहण कर लेगा, किन्तु फूल-फूल पर मँडराने वाला यह व्यक्ति, बहुत-से लोग जानते थे, ऐसा कभी नहीं कर सकता ! यशोधरा को भी उसने कुमार्ग पर डाल दिया।"

"क्या मालूम वह स्वयं ही दुश्चरित्र हो ? ऐसी स्त्रियाँ सभी सुन्दर युवकों को काम दृष्टि से देखती हैं।"

ऐसी बातों का अन्त नहीं था।

बीजगुप्त श्वेतांक को साथ लेकर हिंडोलों के उद्यान की ओर चला। कुंज मार्ग पर उन्होंने पैर बढ़ाये। एक सरोवर के निकट पहुँचकर उसकी छाया का अन्त था।

उस सरोवर में जल के ऊपर कुछ-कुछ मुँह निकाले हुए वारियन्त्रों का अभाव नहीं था, और उसी पर ऊपर बने हुए लौहदण्डों के वितान में अनेक हिंडोले लटकते थे। उन पर चारों ओर से तट का शृङ्गार करने वाले तरुवरों की छाया थी। बीजगुप्त और श्वेतांक ने उस कुंज-मार्ग को पार करके सरोवर को कुंज-लताओं की ओट से ही देखा। उसके हिंडोलों पर तथा तट पर अनेक युवतियाँ क्रीड़ा कर रही थीं। बीजगुप्त ने यह देखकर सरोवर की ओर पैर नहीं बढ़ाये, वह दूसरी ही राह पर चला। श्वेतांक के पाँव भी उसी के पीछे पड़े। किन्तु उन युवतियों की परस्पर की चर्चा ने एक जगह स्वतः ही उनकी गति अवरुद्ध कर दी। वह दोनों खड़े हो गये।

कोई कहती थी, "इतनी सरल-सी लगने वाली यशोधरा ऐसी होगी, ज्ञात नहीं था।"

दूसरी ने कहा, "आर्य बीजगुप्त की ओर उसका मन है, यह तो आरम्भ में मेरे ही सामने स्पष्ट हुआ था।"

"किन्तु यह बात तो जैसे उसे और भी स्पष्ट करनी थी। सामन्त बीजगुप्त की शय्या उनकी मूर्च्छितावस्था में उसने क्यों नहीं छोड़ी, इसीसे न।"

यह सुनकर चौथी ने हिंडोले पर से कहा, "किन्तु उस दिन अपनी वर्षगाँठ के अवसर पर उनसे दुर्वचन कहने का उसका क्या प्रयोजन था? कुछ समझ में नहीं आता।"

"अरे वाह!" एक ने दीर्घश्वास खींचकर कहा, "बेचारी का अपने प्रेमी से युद्ध होगया होगा कहीं एकान्त में!"

इस बात ने वातावरण को एक मधुर खिलखिलाहट से भर दिया। पर हँसी शान्त होने पर वार्ता पुनः चली।

"युद्ध नहीं भगिनी! मन भर गया होगा एक प्रेमी से? देखा नहीं उस दिन महाश्रेष्ठि के यहाँ से आर्य बीजगुप्त के सेवक के साथ न जाने कहाँ गई थी। गृह पर तो तुरन्त ही पहुँची नहीं। भला पिता को विदा करने में उसका

कुछ न कुछ प्रयोजन तो रहा ही होगा ।"

बीजगुप्त ने यह भी सुना । उसने श्वेतांक की ओर देखा, फिर सहसा उसका हाथ पकड़कर जैसे उसे खींच ले चला । उसने कहा, "चलो श्वेतांक ! लोग न जाने कितनी व्यर्थ की बातें करते हैं ।"

वह उद्यान के बाहर आकर पथ पर खड़े हुए । बीजगुप्त ने एक ठण्डी श्वास खींची, हृदय में न जाने कैसी वेदना फैल उठी । श्वेतांक की ओर देखा और उससे आँखें मिलते ही उसने पूछा, "कहाँ गये थे तुम उसे लेकर ?"

श्वेतांक ने कहा, "हिरण्यवाहेश्वर भगवान के दर्शन करने की इच्छा से देवि यशोधरा उस दिन मुझे वहाँ ले गई थीं । किन्तु उन्होंने दर्शन नहीं किये, वह योगी कुमारगिरि से वार्तालाप करती रहीं ।"

बीजगुप्त की दृष्टि श्वेतांक पर उस क्षण भी लगी थी । श्वेतांक ने उसे इस प्रकार से अपनी ओर देखते देखकर आँखें झुकालीं । बीजगुप्त चुपचाप गंगातट की ओर चला । श्वेतांक ने भी उसका अनुसरण किया ।

सहसा उन्हें सुनाई पड़ा, "आर्य बीजगुप्त !"

बीजगुप्त और श्वेतांक दोनों की दृष्टि पुकारने वाले को देखने के लिये उठ गई । उन्होंने देखा—उद्यान पथ पर एक रथ जैसे उसी क्षण आकर खड़ा हुआ था । उसमें बैठे आर्य मृत्युञ्जय उन्हीं को देखते थे । बीजगुप्त उनके निकट पहुँचा, प्रणाम किया । श्वेतांक भी उसी के साथ था, उसने भी उन्हें प्रणाम किया । मृत्युञ्जय ने उनसे पूछा, "उद्यान-विहार करने आये थे ?"

जैसे उनके मुख पर एक फीकी हँसी आई थी । वह जैसे विक्षिप्त-से बहुत दुर्बल हो रहे थे । बीजगुप्त को उनकी दशा देखकर बड़ी व्यथा हुई । उसने भी एक म्लान हँसी हँसकर मुख का भाव बदलते हुए कहा, "हाँ आर्य !"

"अब लौट रहे हो ! मेरे ही साथ चलो । रथ नहीं लाये दीखते ।"

बीजगुप्त ने कहा, "आज कुछ इसी प्रकार से घूमने की इच्छा है; मैं नौकामार्ग से ही पहुँच लूँगा ।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "जैसी इच्छा" पर जैसे आगे अपनी कोई इच्छा प्रकट करते-करते वह रुक गये । बीजगुप्त ने यह समझा । क्या जाने पुत्री के अपयश ने हृदय में जो व्यथा भर दी है, वह अब अकेले पर नहीं सम्हलती हो,

या न जाने और ही कुछ बात हो ! उस दिन उन्होंने यशोधरा के पाणिग्रहण की बात उससे चलाई ही थी। उसने कहा, "आर्य ! मेरी इच्छा है कि आप सायंकाल में मेरे यहाँ पधारें, बहुत दिन से निकट बैठकर आपसे बातें नहीं हुईं।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "मैं अवश्य आऊँगा, मेरी भी इच्छा है तुमसे दो घड़ी बात करने की।"

सन्ध्या समय बीजगुप्त के यहाँ पहुँच कर मृत्युञ्जय ने अपनी बात पूरी की। बीजगुप्त उनका स्वागत करने के लिये प्रस्तुत था। भीतर प्रकोष्ठ में ले जाकर उसने उन्हें बैठाया। दोनों आमने-सामने आसनों पर बैठे। श्वेतांक भी वहाँ उपस्थित था; वह खड़ा ही रहा। वहाँ कुछ क्षण तक शान्ति रही, फिर बीजगुप्त ने कहा, "आप कहीं बाहर गये थे आर्य ?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "हाँ ! मैं निकट ही एक ग्राम में गया था।"

"कोई विशिष्ट कार्य होगा ?"

मृत्युञ्जय कुछ काल तक चुप रहे, फिर ऊपर की ओर देखते हुए बोले, "आजकल मेरे लिये जो कुछ भी विशेष बन रहा है, उसे तुम जानते हो ! यशोधरा ने जो दुःख मुझे इस वृद्धावस्था में दिया है, उसे मैं ही जानता हूँ।"

कहते-कहते मृत्युञ्जय की आँखें भर आईं। बीजगुप्त ने कुछ नहीं कहा। उसने सिर झुका लिया।

मृत्युञ्जय ने फिर कहा, "अब तक मैं निश्चिन्त था कि इच्छा करते ही यशोधरा को किसी योग्य वर के हाथ सौंप दूँगा। किन्तु अब क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।"

बीजगुप्त ने कहा, "तो क्या आर्य इसी सम्बन्ध में कहीं गये थे ?"

"हाँ ! और मेरी हर एक चेष्टा व्यर्थ हो गई। मुझे दीखता है जैसे अब मुझे वह अपनी स्वर्ण-सी कन्या किसी अकुलीन व्यक्ति को न सौंपनी पड़े; किन्तु ऐसा होने से पूर्व क्या होगा मैं नहीं जानता।" कहकर मृत्युञ्जय कुछ क्षण तक शान्त रहे, फिर कहा, "पर मुझे किसी प्रकार भी विश्वास नहीं होता कि यशोधरा ऐसी है। वह कितनी भोली है।"

परन्तु बीजगुप्त क्या कहे ? वह चुप ही रहा ।

मृत्युञ्जय का हृदय बीजगुप्त की चुप्पी से जैसे कुछ पीड़ित हो उठा। वह भी चुप होकर दूसरी ओर देखने लगे ।

अब बात किस प्रकार से आगे बढ़े, यह बीजगुप्त भी सोचने लगा और मृत्युञ्जय भी। अपनी ही पुत्री के विषय में लोग कितनी गर्हित बात करते थे, इस कारण उसी के सम्बन्ध में चर्चा चलाकर मृत्युञ्जय को बहुत ग्लानि हो उठती थी। उन्हें कुछ सोचना-विचारना पड़ता था। बीजगुप्त यह समझ रहा था। उसका अनुमान था वह यशोधरा के सम्बन्ध में वही पुरानी चर्चा चलाना चाहते हैं, किन्तु वह उनकी पुत्री के विषय में जैसे कुछ विचारना भी नहीं चाहता था। यशोधरा कैसी है, कैसी नहीं, इस विषय में उसकी कोई धारणा नहीं थी।—हाँ, अपने बारे में वह स्पष्ट था; विवाह करने की बात वह जैसे सोचता ही नहीं था। मृत्युञ्जय उसकी इस बात से पहले से ही परिचित थे, पर फिर भी उन्होंने एक बार कुछ और ही चेष्टा की थी। उस पर यशोधरा ने ही पानी फेर दिया। अब वह बीजगुप्त से उसी बात को किस तरह से कहें, यह बात लाख चेष्टा करने पर भी उनकी समझ में नहीं आती थी। और न उनका ऐसा कुछ करने का साहस होता था; अन्त में बीजगुप्त ने अपने अनुमान के सहारे ही श्वेतांक की ओर देखा। और यह समझ कर कि सम्भवतः मृत्युञ्जय उससे कुछ एकान्त में कहना चाहते हैं, उसने उससे कहा, "श्वेतांक ! तुम बाहर जाकर देखो, सम्भव है इस समय कोई आवे।"

मृत्युञ्जय बीजगुप्त का आशय समझ गये। श्वेतांक भी समझा। वह बाहर चलने को उद्यत हुआ।

मृत्युञ्जय ने यह देखकर कहा, "आर्य बीजगुप्त ! श्वेतांक के यहाँ रहने में कोई हानि नहीं है, बल्कि लाभ ही है।"

उनकी बात के अन्तिम अंश ने बीजगुप्त को जैसे कुछ चौंका दिया। तो भी उसने साधारण भाव से कहा, "मेरी समझ में श्वेतांक का यहाँ से चला जाना भी अनुचित नहीं होगा।"

"नहीं आर्य बीजगुप्त ! मुझे आर्य श्वेतांक के विषय में ही कुछ बात करनी है।" कहकर मृत्युञ्जय ने श्वेतांक की ओर देखा। उसे विस्मय हुआ।

बीजगुप्त की समझ में भी मृत्युञ्जय के मनोभाव आये। उसने भी श्वेतांक को देखा। वह जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा रह गया था। वह भी कुछ न समझा हो सो बात नहीं।

अब मृत्युञ्जय ने कहा, "आर्य बीजगुप्त! श्वेतांक के पिता मेरे मित्र हैं, यह सम्भवतः मैंने पहले कभी तुम्हें बताया था।"

"हाँ।"

"और मैं समझता हूँ, यशोधरा के सामीप्य में श्वेतांक ने उसे बहुत कुछ समझ लिया होगा।" कहकर मृत्युञ्जय ने श्वेतांक की ओर देखा।

श्वेतांक सिर झुकाये खड़ा था। उसने कुछ भी उत्तर न देकर बीजगुप्त की ओर देखा। बीजगुप्त ने यह देखकर मृत्युञ्जय से कहा, "हाँ आर्य! और मैं समझता हूँ यशोधरा और श्वेतांक की जोड़ी बहुत अच्छी रहेगी।"

श्वेतांक ने यह सुनकर कहा, "स्वामी!"

बीजगुप्त ने उसका अर्थ समझा; किन्तु कहीं मृत्युञ्जय भी उसमें ध्वनित बात को न समझ जायँ इस कारण वह तुरन्त ही बोला, "सो मैं जानता हूँ श्वेतांक! तुम्हारी सम्मति से कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। यही न!"

सुनकर श्वेतांक कुछ व्यग्र हो उठा, न जाने बीजगुप्त की क्या इच्छा है! तो भी वह कुछ बोला नहीं।

मृत्युञ्जय ने कहा, "पर आर्य बीजगुप्त, श्वेतांक की सम्मति से कैसे कोई प्रयोजन नहीं है! और इस दशा में तो विशेष रूप से बहुत कुछ श्वेतांक पर ही आधारित है। यदि श्वेतांक को कुछ अनुचित न लगे तो आर्य विश्वपति से मुझे आशा है, मेरी बात वह मान लेंगे।"

किन्तु श्वेतांक क्या कहे? वह बार-बार बीजगुप्त की ओर देखता था। और बीजगुप्त उसकी ओर देखकर क्या करें, उसे श्वेतांक की आज ही की बात स्मरण आ रही थी, और साथ ही साथ उसके कहने का ढंग भी। यशोधरा के चरित्र पर उसे विश्वास नहीं है, इसका आभास उसे मिल चुका था। तो भी उसने श्वेतांक की ओर देखा जैसे उसके मुख को देखकर वह और भी कुछ जानना चाहता हो, और उससे कहा, "श्वेतांक! जो लोग यशोधरा के विषय में तरह-तरह की बात करते हैं, उनमें कितनी यथार्थ हैं, इस पर तुम्हें अवश्य

ही कुछ विचारना चाहिए। मैं तो समझता हूँ यशोधरा का आचरण अपवित्र नहीं है।"

मृत्युञ्जय ने श्वेतांक की ओर कुछ आशाभरी दृष्टि से देखा, बीजगुप्त ने भी दृष्टि नहीं हटाई।

श्वेतांक ने कुछ क्षण रुककर बीजगुप्त से कहा, "स्वामी! देवि यशोधरा का पाणिग्रहण करने के लिये पहले आप ही से अनुरोध किया गया था, मैं उनके साथ विवाह करने की सोच भी नहीं सकता।"

और वह धीरे-धीरे वहाँ से चला गया।

मृत्युञ्जय और बीजगुप्त, दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा। दोनों में से कोई किसी से अनेक क्षणों तक नहीं बोला। फिर एक निश्वास त्यागकर मृत्युञ्जय उठ खड़े हुए, कहा, "अच्छा आर्य बीजगुप्त! तो मैं चलूँगा!"

बीजगुप्त ने कुछ नहीं कहा।

मृत्युञ्जय चल दिये। बीजगुप्त उन्हें द्वार तक विदा करने आया।

मृत्युञ्जय अत्यन्त दुखी हो रहे थे। वह चुपचाप अपने रथ पर जा बैठे। रथ चल पड़ा।

उनकी गम्भीर आकृति; वृद्ध मुखमण्डल जैसे बिलकुल शान्त हो गया था; हृदय का गम्भीर उद्वेलन सहसा ही ठण्डा पड़ गया प्रतीत होता था। जैसे वह अवसन्न होकर रथ की पीठिका से टिक गये थे। उन्होंने आँखें बन्द कर ली थीं। जैसे कुछ सोचते भी नहीं थे।

अपने भवन के प्रांगण में पहुँच कर रथ के खड़े हो जाने पर भी उन्होंने आँखें नहीं खोलीं। वह रथ से नहीं उतरे। सारथी ने यह देखा तो वह बोला, "हम आगये स्वामी!"

मृत्युञ्जय ने आँखें खोलीं, कहा, "मुझे मालूम है सारथी! सब कुछ भुला देने की चेष्टा करने पर भी मैं यही तो नहीं भूल पाता कि यहाँ पर मेरा कुछ है।"

सारथी कुछ समझा भी या नहीं, यह वही जाने! मृत्युञ्जय ने भी जैसे वह बात अपने से ही कही हो। वह रथ से उतर कर भवन में पहुँचे। चलते-चलते ही उन्होंने परिचारिका से पूछा, "यशोधरा कहाँ है?"

परिचारिका ने कहा, "यहीं हैं स्वामी !"

मृत्युञ्जय ने एक दीर्घश्वास खींची, फिर जैसे स्वयं से ही बोले, "यहीं है। यह तो मैं जानता हूँ।"

वह अपने प्रकोष्ठ की ओर चले गये।

परिचारिका ने समझा यशोधरा को वह बुलाते हैं। यशोधरा को उनके पास भेज देने के लिये वह उनके पास चली गई।

यशोधरा ने शीघ्र ही मृत्युञ्जय के कक्ष में प्रवेश किया। उसने भीतर पहुँचते ही देखा—उसके पिता वातायन के सहारे खड़े होकर दूर पर न जाने क्या देख रहे थे ? अभी उन्होंने वस्त्र उतारे नहीं थे ; वह जैसे आये थे, वैसे ही खड़े थे।

यशोधरा ने उनके पास पहुँचकर कहा, "पिताजी !"

मृत्युञ्जय भी सिर पर से मुकुट उतारते हुए जैसे उसी क्षण मुड़े। उन्होंने देखा—यशोधरा कैसे वेश में खड़ी थी; कितना मलीन उसका मुख हो रहा था और आँखें कैसी लाल ! उन्होंने मुकुट को भी एक ओर नहीं रक्खा। वह यशोधरा को जैसे देखते रह गये। यशोधरा ने आँखें झुकालीं; किन्तु मृत्यु-ञ्जय उसे देखते ही रह गये थे; देखते ही रहे, फिर सहसा रो पड़े; यशोधरा को उन्होंने अंक में भर लिया।

वह भी सिसक उठी।

मृत्युञ्जय ने फिर कहा, "रो मत यशोधरा ! तू प्रसन्न रह, मैं तुझे दुखी नहीं देख सकता ! तुझ पर कोई विश्वास नहीं करता न करे, मैं तो करता हूँ।"

यशोधरा के मुख से निकला, "पिताजी !"

योगी कुमारगिरि जैसे किसी चक्र में पड़कर सहसा घूम गया था।

जिस राह पर चलकर वह कभी समझता था कि वह योगी है, उसे इस बात का अभिमान था कि उसने ब्रह्म से स्वयं को मिला दिया है और वासनाओं के समुद्र से वह दूर आगया है; जैसे किसी प्रभंजन ने एक ही थपेड़े से उस सब को उड़ाकर न जाने कहाँ पटक दिया। लगा जैसे उसका समग्र आच्छादन समाप्त हो गया। वह नंगा रह गया।

जिस विश्व की ओर आँख उठाकर वह पलकों को झुका लेता था, समझता था, सभी कुछ उससे दूर है, वह उसमें रहकर भी उससे कमलपत्र की भाँति अलग है; लोग उसका आदर करते थे,उसके चरणों में शीश झुकाते थे। आज उन्होंने सहसा ही जैसे उसमें ठोकर मार दी, उसकी झुकी हुई पलकों को खोल दिया; न जाने कितनी कीचड़ में लपेट कर उस नग्न को आच्छादित कर दिया। और वह उसे पोंछ भी नहीं सका।

एक दिन उसने देखा—न जाने कौन-सी अप्सरा उतर कर उसकी समाधि की पूजा करती है, उसकी आराधना करती है। आँख खोलकर भी उसे सहसा पहचान सके, इसकी चेष्टा उसने नहीं की; किन्तु मन समाधिस्थल से उचट कर जैसे उसी के पीछे-पीछे भागने लगा। फिर तो यौवन में उमंगित उसका प्राणसार शरीर भी स्थान पर न रह सका, उसके पीछे-पीछे चलने लगा। उसने समझा— हृदय एक अनजान बन्धन में बँध गया है, चित्रलेखा के बिना वह रह नहीं सकेगा। उसने धूम्र को भुजाओं में भर लेना चाहा, चारों ओर दीखने वाली रंगीनी से अपने मन का वितान बनाकर उस पर आश्रय ले लेना चाहा।

किन्तु एक ही झटके में जैसे सब कुछ बिखर गया।

नेत्रों को वह सहसा बन्द न कर सका। सब कुछ दिखाई देता है, किन्तु जैसे उसका कुछ भी नहीं। वह कितना असहाय है।

उसने समझा—

सभी कुछ नश्वर है, अनित्य है।

सभी कुछ माया है; मिथ्या है, अन्धकार है।

उसने नेत्र मूँद लिये।

उसे लगा जैसे उसका योगी होने का अभिमान कोरा दम्भ है, ब्रह्म में लीन होने की बात जैसे केवल उसके मन का अहंकार है और वासनाओं से वह मुक्त कहाँ? वह हृदय को पकड़कर सहसा चिल्ला उठा, "हे ईश्वर! हे देवाधिदेव! तुम्हारी माया ने मुझे विकल कर दिया है, मुझे बचाओ। सभी की तरह मैं भी नग्न हूँ।"

निरन्तर उसने जैसे यही प्रार्थना की। स्वयं से जैसे उसे घृणा हो गई।

किन्तु कोई पाश्चात्ताप नहीं, कोई दुख नहीं। उसने देखा—संसार असार है, यहाँ कोई अपना नहीं।

चारों ओर से सिमटकर मन ने तब जैसे स्वतः ही योगमार्ग पकड़ा। फिर कैसे ही अभिमान से उसे क्या? मान-अपमान की चिन्ता किसलिये!

किन्तु चित्रलेखा ने पुनः उसे क्यों पकड़ा है? वह उससे क्या चाहती है? वह उसी की ओर देखता था। चित्रलेखा ने आकर उसका हाथ पकड़ लिया था। उसकी ओर वह निरीह दृष्टि से देखती थी; पर योगी की दृष्टि कहाँ थी, यह वही जाने।

चित्रलेखा ने कहा, "उधर क्या देखते हो योगी? इन घुमड़ती हुई घटाओं की भाँति मेरे रूप की भी घुमड़ है, धरती की पिपासाकुल उमस की भाँति मेरे यौवन में भी गरम-गरम निश्वासें प्रवाहित होती हैं। तुमने क्या नहीं देखा! मेरी ओर देखो! मुझसे रुष्ट मत हो।"

कुमारगिरि ने कहा, "इन बातों को अब मत कहो देवि! मुझे यह सब अच्छी नहीं लगतीं। तुम यहाँ से चली जाओ।"

चित्रलेखा जैसे तड़प उठी। वह बोली, "कितनी बार सुनूँ कि यहाँ से चली जाऊँ। बार-बार आती हूँ और चली जाती हूँ। योगी तुम्हारी विषय-वासनाओं को मैंने जाग्रत कर दिया, तुम्हें पतित कर दिया! मुझे क्षमा करो। मैं नहीं देख सकती।"

सुनकर योगी ने चित्रलेखा का हाथ झटक दिया, कुछ तीव्र स्वर में बोला,

"मुझे तुम पतित हुआ नहीं देख सकतीं, कितनी अच्छी बन रही हो तुम ! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ तुम यहाँ से चली जाओ ! मुझे ऐसा स्नेही नहीं चाहिए।"

इतना कहकर वह वहाँ रुका नहीं, कुटी के भीतर चला गया।

चित्रलेखा स्तब्ध-सी, ठगी-सी जैसे खड़ी रही।

कुमारगिरि भीतर जाकर आसन पर बैठ गया, मुख से निकला, "मैं पतित हूँ, हे भगवन् ! मैं पतित हूँ। और चित्रलेखा मेरे पास आई है।" उसने आँखें बन्द करलीं। सहसा उसे उस दिन की समाधि का स्मरण हो आया; यशोधरा की प्रेरणा पर उसने उसे जो दिखाया था, वह आँखों के भीतर फैल गया।—शोण की उफनती हुई तरंगों के बीच चित्रलेखा ने डोंगी छोड़ दी है और वह तट पर उसके साथ भागा जा रहा है—भयानक वायु-मण्डल है।

वह उद्विग्न हो उठा; उठ खड़ा हुआ। घबराकर जैसे बोला, "क्या होने को है भगवन् ? क्या मैं चित्रलेखा के पीछे फिर भागूँगा ? नहीं। नहीं! ......क्या चित्रलेखा सचमुच ही पाश्चात्ताप की अग्नि में जलती है या वह सब कुछ केवल मेरे मन का सन्ताप था, मेरा अपना मोह था।"

उसी क्षण चित्रलेखा का स्वर सुनाई पड़ा, "कैसा मोह योगिराज ?"

कुमारगिरि ने चित्रलेखा की ओर देखा—वह जैसे उन्मादिनी-सी उसके सामने खड़ी थी। वह चिल्लाया, "तुम यहाँ से चली जाओ चित्रलेखा ! मैं तुमसे प्रेम नहीं करता, मुझे तुमसे कोई मोह नहीं है।"

"योगिराज ! अपने चरणों में पड़े हुए दीन दुखियों के दुख को सज्जन पुरुष कम करते हैं, अपने मन की कैसी ही दुर्बलता के कारण उसे और बढ़ा नहीं देते। मैं जानती हूँ, तुम मुझसे प्रेम करते हो और मैंने तुम्हें छला है; किन्तु यही दुख मेरे हृदय को छलनी किये देता है और तुम्हारी पिपासा तुम्हें शान्ति से नहीं रहने देती। अब हम दोनों ही मिल गये हैं; मेरे हृदय के दुख को तुम कम करो, तुम्हें मैं शान्ति दूँगी।" कहकर चित्रलेखा उसके निकट आ खड़ी हुई। उसकी आँखों में झाँका।

कुमारगिरि के हृदय में जैसे एक बवण्डर उठ रहा था; किन्तु ऊपर से

शान्त जैसे आँखों से भी कोई बात नहीं करता था। वह चित्रलेखा को देखने लगा था, उसके गात में सिहरन उत्पन्न हो रही थी। कुछ काल में उसने स्वयं को शान्त करके कहा, "नर्तकी ! मेरे और तुम्हारे मार्ग अलग-अलग हैं। तुम जो कुछ भी चाहती हो वह एक दुष्कामना से अधिक और कुछ नहीं। मैं तुमसे प्रेम नहीं करता।"

चित्रलेखा ने कहा, "तुम मुझसे प्रेम नहीं करते ! कैसे सम्भव है यह ? क्या एक बार हृदय में आकर कोई निकल जाता है। बालकों की-सी बातें तो मत करो योगी !"

कुमारगिरि विचित्र विवशता में पड़ा-सा दिखाई दिया। वह चित्रलेखा को टकटकी लगाकर देखने लगा। चित्रलेखा ने अपनी आँखें उसकी आँखों में डाल दीं। वह विभोर होकर बोली, "इसी तरह से देखो योगी ! इसी तरह से ! मेरे मन को शान्ति मिलती है।"

जैसे चित्रलेखा के यह वचन योगी को चैतन्य कर उठे। वह वहाँ से चलता हुआ बोला, "मैं कहता हूँ तुम यहाँ से चली जाओ।"

किन्तु चित्रलेखा उसी के पीछे चली, उसने कहा, "योगी ! तुम मत समझो कि अब तुम्हारे किसी प्रणय वचन पर मैं तुम्हें धिक्कारूँगी। तुम मुझ पर प्रसन्न हो।"

कुमारगिरि ने कहा, "तुम्हारे धिक्कार ने हृदय को महान् सन्तोष दिया है नर्तकी ! तुमने अपने कठोर वचनों से मेरे उर में महान् ज्ञान का अंकुर जमाया है। किन्तु तुम्हारे यह मधुर वचन तुम्हारे धिक्कार से भी कहीं अधिक विषाक्त हो रहे हैं, इन्हें साथ लेकर तुम मेरे सामने से दूर हो जाओ।"

नर्तकी ने आगे बढ़ते हुए योगी का हाथ पकड़कर खड़ा कर लिया। उसे कुछ रोष आगया। वह तनकर बोली, "मैं चली जाऊँ ! अपने विकल हृदय के तोष के लिये जब तुम मेरे सामने गिड़गिड़ाते थे, क्या उसी का प्रतिशोध ले रहे हो ? मैं नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी। स्मरण करो तो मेरे देव ! तुमने मुझे प्यार के कैसे-कैसे स्वप्न दिखाये हैं। क्या अब तुम्हें मुझसे भय लगने लगा है ?"

योगी ने शान्त स्वर में कहा, "प्रतिशोध ! भय ! तुम अज्ञान की बातें

करती हो नर्तकी ! प्रतिशोध का विचार मेरे लिए घातक है । और भय ! मन की शान्ति में भय का कोई प्रयोजन नहीं रहता ।"

चित्रलेखा ने यह सुनकर उसे हाथ पकड़कर आगे ले चलते हुए कहा, "तो फिर आओ कुमारगिरि ! मुझसे भय न करके मेरे साथ विचरकर मुझे शान्ति दो ।"

कुमारगिरि क्षणमात्र को ठिठका, फिर उसके साथ चलते हुए कहा, "तो चलो, यही सही । तुमने मेरी कौन-सी परीक्षा नहीं ली ? आज मेरे भय की भी परीक्षा सही ।"

नर्तकी ने कहा, "लोग मुझे तुम्हारे साथ देखेंगे ।"

योगी मुस्कराया, "उनकी बातें सुनकर मुझे प्रसन्नता होगी ।"

वह तब चंक्रम पर खड़े थे । उससे उतरकर नीचे आये । आश्रम-द्वार से उन्हें मधुपाल और विशालदेव आते दीख पड़े । उनके साथ किसी धनी व्यक्ति के परिचारक थे । वह अपने सिरों पर बहुत-सा सामान लिये हुए चले आरहे थे । योगी ठिठक गया । उसने पुकारा, "विशालदेव !"

विशालदेव उसके समीप आया । मधुपाल परिचारकों को लेकर आगे बढ़ा । योगी ने उससे भी कहा, "तुम भी ठहरो मधुपाल ! मैं पूछता हूँ यह सब किसने भेजा है ?"

विशालदेव ने कहा, "श्रेष्ठि सुकाल ने देव !"

"क्या उन्हें अब भी हममें श्रद्धा है ?" कुमारगिरि ने पूछा ।

विशालदेव कुछ कहे इससे प्रथम ही मधुपाल बोल उठा, "श्रद्धा क्या अपने आप होती है गुरुदेव ? अरे, हम लोग किसलिये हैं ? क्यों ? है न विशालदेव !"

किन्तु विशालदेव मधुपाल की प्रगल्भता के कारण भीतर ही भीतर उद्विग्न हो रहा था । उसने मधुपाल की बात सुनकर कहा, "बात यह है देव कि श्रेष्ठि ने कहा, आश्रम में चातुर्मास्य व्यतीत करने अनेक साधु-सन्त आयेंगे, उन्हीं के लिये यह देता हूँ ।"

मधुपाल झट से बोला, "मैं पूरी बात बताता हूँ । बात यह है गुरुदेव कि श्रेष्ठि ने आपके चरित्र पर कुछ आक्षेप लगाया, हमने उसे काट दिया ; उसे

जड़मूल से उखाड़ फेंका। वह प्रसन्न हो गये और उन्होंने हमारे ऊपर कृपा की।"

योगी ने सुना। वह चिल्लाया, "कृपा! कैसी कृपा की? बोलते क्यों नहीं विशालदेव? मैं विश्व के समस्त भोग अपने योग-बल से यहाँ इसी स्थल पर उपस्थित कर सकता हूँ। तुम उनके पीछे भागते हो।"

विशालदेव कुछ प्रकृतिस्थ हुआ। उसने कहा, "आपके योगबल पर मुझे विश्वास है भगवन्! किन्तु लोक में फैला हुआ अपयश क्या उससे दूर हो सकेगा? जो लोग असत्य धारणा लेकर बात करते हैं......"

कुमारगिरि ने बात काटते हुए कहा, "नहीं विशालदेव! उनकी धारणा असत्य नहीं है, वह झूठी बात नहीं करते। तुम उनके सामने जाकर असत्य बात क्यों करते हो? श्रेष्ठि मुकाल की इस कृपा को लौटा दो।"

यह सुनकर मधुपाल ने उन परिचारकों के सिर पर लदे हुए बोझ की ओर ललचाई हुई दृष्टि से देखा, फिर उसने कुमारगिरि से कहा, "किन्तु गुरुदेव! अब तो उन्होंने हमारी बात पर विश्वास कर लिया है।" आगे चित्रलेखा की ओर संकेत करते हुए उसने बात बढ़ाई, "वह समझ गये हैं कि देवि चित्रलेखा ने ही देव पर आसक्त होकर इस अपयश का जाल फैलाया है। देवि की कामना जब आपने ठुकरादी तभी ऐसा भीषण प्रतिशोध लिया गया; यशोधरा को आपके साथ संयुक्त करके आपका अपयश फैलाया गया और अब भी तो यह आपके पीछे फिरती हैं।"

योगी विकल होकर चिल्लाया, "तो तुमने यह कहा कि चित्रलेखा ने मेरे सामने काम याचना की और मैं निर्लिप्त था। इस असत्य के प्रसाद को मैं ग्रहण नहीं करूँगा, इसे लौटा दो।"

फिर उसने चित्रलेखा की ओर देखा, उससे कहा, "आओ चित्रलेखा! मुझे लोक में झूठा प्रचार करके कोई यश नहीं कमाना। मुझे तो देखना है मैं अभी सद्राह पर आ भी सका हूँ या नहीं।"

मधुपाल उदास हो गया।

विशालदेव ने परिचारकों से कहा, "इन्हें ले जाओ। कहना, योगिराज ने इन्हें स्वीकार नहीं किया।"

मधुपाल ने कहा, "तुम भी ऐसा कहते हो विशालदेव !"

"हाँ ! इन्हें तुम यह सब उठवादो।"

मधुपाल ने चुपचाप आज्ञा पालन की। श्रेष्ठि के सेवक जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार गठरियाँ और टोकरी उठाकर चले गये।

विशालदेव अपनी कुटी की ओर जाने लगा। मधुपाल ने सहसा उसके पास आकर कहा, "मैं अभी आता हूँ विशालदेव !"

विशालदेव ने उसकी ओर देखा। मधुपाल के हाथ पीछे थे, उसने उन्हें आगे करके कहा, "इन फलों पर मेरा मन चल आया, पर अब सोचता हूँ सब व्यर्थ है ; इन्हें लौटा आऊँ। अभी वह लोग दूर नहीं गये होंगे।"

विशालदेव ने उस पर तीव्र दृष्टिपात किया। उसके भरे हुए हाथों की ओर देखा और फिर उससे बिना कुछ कहे वहाँ से चला गया। मधुपाल श्रेष्ठि के सेवकों को खोजने दौड़ा। उसने उन्हें घाट पर ही पा लिया। हाथ में लगे फलों को उन्हें देकर उसने कहा, "जब योगिराज ने इतना सामान ही लौटा दिया है तो इन तुच्छ फलों का ही क्या करूँगा। इन्हें भी ले जाओ।"

सेवकों ने उसे विस्मय से देखा। उनकी समझ में नहीं आया कि यह फल मधुपाल के हाथ में कैसे पहुँच गये। उन्होंने एक दूसरे को देखा।

मधुपाल ने यह देखकर कहा, "अरे जाओ न यहाँ से। यह योगविद्या है।"

फिर तुरन्त ही वह वहाँ से चला। सहसा सरिता-तट पर कहीं से आकर फैलते हुए संगीत को सुनकर वह ठिठक गया। उसने शोण-वक्ष पर दृष्टि डाली—एक नौका वहाँ सन्तरण करती थी। उस पर योगी कुमारगिरि चित्रलेखा सहित दिखाई पड़ता था। उस समय चित्रलेखा नृत्य करती थी, कुछ गाती भी थी—मन्द-मन्द संगीत वहाँ तक चला आ रहा था।

कुछ काल तक खड़ा रहकर मधुपाल उस दृश्य को देखता रहा, फिर आश्रम की ओर दौड़ा। विशालदेव को पकड़कर वह वहीं लाया। विशालदेव ने उन्हें देखा। नौका दूर पर चली जा रही थी। और कुमारगिरि और चित्रलेखा आमने-सामने बैठे थे।

सन्ध्या हो चली थी। विशालदेव वहाँ अधिक समय तक न रुककर लौट आया।

प्रहर-भर रात्रि बीत चली, किन्तु योगी नहीं लौटा। विशालदेव और मधुपाल ने एक घड़ी और व्यतीत हो जाने पर उसकी कुटी में जाकर पुनः देखा, किन्तु योगी उस समय भी नहीं लौटा था।

वह बाहर चबूतरे पर आकर खड़े हुए। ऊपर देखा—आकाश में कुछ-कुछ बादल दिखाई पड़ते थे, उनके बीच लगता था, जैसे चन्द्र तीव्र गति से दौड़ रहा हो। किन्तु क्या ऐसा था? उसकी तो अपनी गति जो थी, वही थी, बादल चल रहे थे।

अकस्मात् उनके कानों में एक मधुर ध्वनि आकर पड़ी। आश्रम की आरक्षा करते-से खड़े हुए खण्डहरों से चित्रलेखा का गायन उठ रहा था। विशालदेव ने ऊपर की ओर पुनः देखा, फिर उसके मुख से निकला, "हे भगवान्! क्या होने वाला है?

मधुपाल गायन सुनकर जैसे विमुग्ध हो रहा था। उसने कहा, "कितना मधुर कण्ठ है विशालदेव! चित्रलेखा सचमुच अप्सरा है।"

विशालदेव ने कुछ नहीं कहा, वह धीरे-धीरे आश्रम से निकलकर उधर ही बढ़ा, जहाँ से उस संगीत की सृष्टि हो रही थी।

धीरे-धीरे वह उस ढूह पर चढ़ता गया; कण्ठ की मधुरता और भी स्पष्ट होती गई। दिशा भी निर्दिष्ट होती गई। वह उधर ही चला। उनके समीप होने लगा। कुछ काल में उसे योगी और चित्रलेखा दोनों ही दीख पड़े। वह ऊपर खड़े थे। गायन बन्द हो गया था। वह उनकी आँखों से दूर रहकर ही उनके समीप होने की चेष्टा करने लगा। वह घूमता हुआ जब एक स्तम्भ की ओट में खड़े होकर उन्हें देख पाने योग्य हुआ तो उसे दिखाई पड़ा—चित्रलेखा ने योगी के चरणों में सिर रख दिया था और योगी शान्त भाव से खड़ा था।

कुछक्षण में योगी कुमारगिरि ने नर्तकी चित्रलेखा की दोनों भुजायें पकड़-कर उठाते हुए कहा, "विश्वास करो चित्रलेखा! मेरे लिए आज तुम्हारा यह रूप, यह गायन किसी भी मायाजाल से अधिक और कुछ नहीं। दिन के पीछे

रात्रि का निवास है, मैं नित्य देखता हूँ ; प्रकाश के पीछे अन्धकार, इससे मेरा हर क्षण का परिचय है ; जीवन का अन्त मृत्यु से होता है, काल उसे भी स्पष्ट करता है। फिर तुम बताओ, क्या मैं पुनः भ्रम में पड़ जाऊँ ? जिस अन्धकार में, उसे जीवन समझकर भटक गया था, उसी में पुनः पड़ जाऊँ। नर्तकी ! मेरे और तुम्हारे विश्वास अब अलग-अलग हो गये हैं।"

"मैं उन्हें एक कर देना चाहती हूँ।"

"यह असम्भव है। एक दिन तुमने कहा था, इस सृष्टि का कण-कण उसकी प्रत्येक ध्वनि से निकलता हुआ संगीत और इसी विश्व के बीच इसी के शृङ्गार को लपेटकर अवतीर्ण होने वाले उसी प्रभु की लीलाओं का गान क्या है ? तुम्हारे मोह में जकड़ा हुआ मैं कोई उत्तर न दे सका; किन्तु नर्तकी ! आज मैं कहूँगा, यह सब कुछ वही तो है, उसका अपना खेल, अपना शृङ्गार। वह कैसे भी खेले। जब यही न होगा तो उसकी महिमा के सम्मुख कौन शीश झुकायेगा ? मैं तो उसकी माया को उसी के लिये छोड़ कर उसी को पा लेना चाहता हूँ। तुम व्यर्थ ही किसी दुराशा से मेरे साथ पड़ गई हो।"

चित्रलेखा उससे सटकर खड़ी थी। उसी की आँखों में आँखें डाले थी। कुमारगिरि का हाथ दबाकर उसने कहा, "यदि वह दुराशा ही है, तो भी मुझे उसके साथ मिट जाने में सुख मिलेगा। तुम्हारी कठोरता के नीचे पिस जाने में मुझे स्वर्ग मिलेगा !"

कुमारगिरि कुछ क्षण तक उसे शान्त भाव से देखता रहा, फिर बोला, "नर्तकी ! मेरे लिये आगे बढ़ चलने की प्रेरणा बनकर तुमने ही तो मुझे अपना परिचय दिया कि तुम भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं; जिसको देखकर मैं न जाने कैसे कल्पना के वितान पर चढ़ गया, वह तुम्हीं तो हो चित्रलेखा ! जब तुम्हीं ने उसे नष्ट कर दिया तो अब कैसे समझूँ कि वह क्षण भंगुर नहीं था; मैं वहाँ से गिर पड़ा हूँ। और दूसरों के लिये मुस्कराती-सी अन्य भोग-वस्तुओं के समान नित्य, मेरे लिये तुम क्या हो, यह ज्ञान तुम्हीं ने तो दिया देवि ! अब कहती हो कि वही सब कुछ कठोर है।" कुमारगिरि कुछ क्षण को चुप हुआ, फिर उसने चित्रलेखा से दृष्टि हटाकर कहा, "चित्रलेखा ! मेरी वासना का प्रवाह बदल गया है। किसी की वासना के अद्भुत खेल

इस सृष्टि-सौन्दर्य्य के बीच मैं उसे डुबा देता हूँ। मुझे अब उस मायावी के अतिरिक्त और किसी से प्रयोजन नहीं रहा। तुम व्यर्थ ही मेरे पीछे पीड़ित होती हो।"

चित्रलेखा अनेक क्षणों तक योगी को देखती रही।

विशालदेव ने भी योगी को मन ही मन शीश झुकाया।

तभी कुमारगिरि ने चित्रलेखा से कहा, "आओ देवि! अब बहुत रात्रि हो गई है। चलें।"

चित्रलेखा इसे क्या समझे? उसकी बुद्धि से जैसे परे की बात थी। योगी क्या चाहता है? कहीं उसने उसके मन के मर्म को जानकर उसे दुख देने का मार्ग तो नहीं निकाला। उसका हृदय तप्त वेदना से भर गया; हिंस्र उत्तेजना आँखों में भड़क उठी। उसने बलपूर्वक योगी का हाथ पकड़ लिया, उसे उसी प्रकार सहसा दबा उठी। कुमारगिरि ने पूछा, "क्या है?"

चित्रलेखा के पास इसका क्या उत्तर था। उसने स्वयं को सम्हाल लिया।

वह दोनों वहाँ से चल दिए।

विशालदेव भी अपनी जगह से हटा, पीछे कुछ शब्द हुआ। उसने चौंककर देखा—मधुपाल! फिर कहा, "मधुपाल तुम!"

मधुपाल ने सिर हिलाया।

विशालदेव ने कुछ नहीं कहा, उसके आगे-आगे चल दिया।

—:::—

कुमारगिरि ने प्रभात से ही समाधि लगा ली थी। चित्रलेखा उसी के सामने बैठी हुई उसी की ओर देखती थी। उसे किसी तरह भी विश्वास नहीं होता था कि योगी के हृदय में उठी हुई कामपिपासा ठण्डी पड़ चुकी है। उसे उसकी बातों पर मन ही मन हँसी आती थी; वह सोचती थी, कुमारगिरि ने अब विशेष रूप से दम्भ अपनाया है।

फिर वह क्या करे? क्या हारकर यहाँ से चली जाय?

नहीं!—उसने सिर हिलाकर जैसे अपने इन विचारों को दूर कर दिया।

मधुपाल और विशालदेव दूसरी कुटी के चंक्रम पर बैठे थे। वह परस्पर कोई बात नहीं करते थे। विशालदेव आँखें बन्द किये था और मधुपाल दूर से ही चित्रलेखा को देखता था। सहसा वह चित्रलेखा को ही देखते हुए हाथ बढ़ाकर विशालदेव को अपनी ओर आकर्षित करके बोला, "विशालदेव! विशालदेव!!"

"हाँ! क्या है?" विशालदेव ने आँखें खोलकर उसी को देखते हुए कहा।

विशालदेव को अपनी ओर देखते देखकर मधुपाल ने चित्रलेखा को दिखाते हुए कुछ मुँह सिकोड़ा और दोनों हाथ हिलाकर जैसे उसे बाहर निकाल देने का संकेत किया। फिर बोला भी, "इसकी यहाँ क्या आवश्यकता?"

विशालदेव भी चित्रलेखा को ही देखने लगा। उसके इस भाव को देखकर मधुपाल ने भी आकृति पर जैसे कुछ लाने का-सा यत्न करके चित्रलेखा को ही देखना आरम्भ किया।

कुछ काल में जब कुमारगिरि की समाधि भंग हुई तो विशालदेव ने उसके समीप जाकर कहा, "योगिराज! क्या नर्तकी को मुझे आश्रम से निकाल देना चाहिए?"

चित्रलेखा तब दूर तुलसी के पौधों में जल दे रही थी। योगी ने उसे देखते हुए कहा, "प्रलय के उपरान्त क्या होता है विशालदेव?"

"शान्ति !"

"नहीं ! महाशान्ति !"

"हाँ !" विशालदेव ने कहा।

"फिर क्या उस समय भी उसमें किसी प्रभञ्जन की गति कार्य करती है ?"

"नहीं।" विशालदेव ने कहा।

"तो फिर तुम्हें कैसा भय ? चित्रलेखा जहाँ चाहे, वहाँ रहे।" कुमारगिरि ने कहा।

विशालदेव ने अन्य कार्यों में मन लगाया।

चित्रलेखा आश्रम में कुन्दमना-सी रही आई।

सायंकाल में आश्रम के द्वार पर बीजगुप्त का रथ आकर रुका। चित्रलेखा कुमारगिरि की कुटी के चंक्रम पर घुटनों में सिर दिये बैठी थी। उसने शब्द सुनकर सिर ऊँचा किया। देखा—बीजगुप्त रथ से उतर कर आश्रम में आ रहा था। वह उठ खड़ी हुई। उसने अभिमान भरी दृष्टि से बीजगुप्त को देखा, प्रणाम किया। बीजगुप्त ने भी उसका अभिवादन स्वीकार करते हुए हँसकर कहा, "तुम तो तपस्विन हो गई हो देवि ! अपने प्रेमियों को तुमने इस मार्ग पर आकर बड़ा सन्ताप दिया है।"

चित्रलेखा ने कहा, "तुम्हें इससे क्या आर्य बीजगुप्त ! तुम्हें तो मुझसे कोई प्रेम नहीं है न !"

प्रत्युत्तर में बीजगुप्त कुछ मुस्करा दिया, फिर गंभीर हो गया। वह चित्रलेखा के व्यंग्य बाण को समझा। उसने बात बदलकर कहा, "तुम तो कई दिन से पाटलिपुत्र नहीं गईं।"

"हाँ।"

"क्या योगिराज आश्रम में नहीं हैं ?" बीजगुप्त ने दूसरी बात पूछी।

"हैं तो ! पर वह अपने शिष्यों सहित सन्ध्योपासना में लगे हैं।"

इसके पश्चात् उन दोनों में कुछ काल तक फिर कोई वार्तालाप नहीं हुआ। चुपचाप हुए जैसे वह एक दूसरे को भी नहीं देखते थे। चित्रलेखा ने कुछ ठहरकर बीजगुप्त को आसन दिया, कहा, "बैठो।"

बीजगुप्त ने आसन ग्रहण किया। फिर कुछ मन्द स्वर में कहा, "चित्रलेखा!"

चित्रलेखा बोली, "बीजगुप्त!"

दोनों एक दूसरे की आँखों में झाँक उठे। बीजगुप्त ने कहा, "क्या तुम्हारे जीवन का यही उद्देश्य है?"

चित्रलेखा उत्तर देने के लिये जैसे कुछ सोचती रही, या न जाने बीजगुप्त को यों ही देखती रही, फिर वह बोली, "मैं नहीं जानती! फिर तुम्हें उससे क्या?"

बीजगुप्त ने पूछा, "क्या मुझसे इस प्रकार बात करके तुम्हें शान्ति मिलती है?"

"मेरी शान्ति से भी तुम्हें क्या प्रयोजन आर्य बीजगुप्त?"

बीजगुप्त उसकी ओर देखता हुआ मुस्कराता ही रहा। साँझ की धुंधली आभा में चित्रलेखा का मुख जैसे तप रहा था। वह दूसरी ओर देखती थी। बीजगुप्त ने कहा, "क्या तुम्हारा क्रोध अभी भी ठण्डा नहीं हुआ?"

"मेरा क्रोध! और कैसा क्रोध! मैं किस पर क्रोध करूँ बीजगुप्त! क्रोध करने योग्य मुझे ईश्वर ने बनाया कहाँ है?"

बीजगुप्त ने कहा, "तो फिर इस आश्रम में तुम क्यों पड़ी हो? कुमारगिरि के प्रति कुपित हुई तुम, उसे किस गर्त में डाल देना चाहती हो?"

चित्रलेखा ने बीजगुप्त को देखा, फिर कहा, "तुम्हें कुमारगिरि के प्रति सहानुभूति जगी है या यशोधरा के प्रति! क्या उससे विवाह करने को कोई प्रस्तुत हुआ?"

बीजगुप्त ने सहसा चित्रलेखा का हाथ उत्तेजित होकर पकड़ लिया। उसने कहा, "मुझे किसी से कोई प्रयोजन नहीं चित्रलेखा! मुझे किसी से कोई प्रयोजन नहीं।"

"तो फिर यहाँ क्यों आये हो? क्या मुझे जलाने के लिये? क्या यह देखने के लिये कि मैं सफल हुई या नहीं! मैं फिर कहती हूँ आर्य बीजगुप्त! तुम देखोगे—कुमारगिरि अपनी योग साधना को भूल, मेरी संयोग कामना में विदग्ध हुआ, मेरे पीछे घूमेगा और मैं उस पर थूकूँगी भी नहीं; यशोधरा

या तो आत्महत्या कर लेगी और या तुम उसे भी बचा लेने में सफल होगये तो वह मेरी तरह नगरवधू के आसन की प्रतिष्ठा करेगी !"

"यशोधरा के अपयश-विस्तार में तुमने कमी भी क्या की है चित्रलेखा ? कुमारगिरि के पीछे तुम पड़ी ही हो ! पर मुझे उससे क्या ? और तुम्हें भी उससे क्या लाभ मिलेगा मेरी समझ में नहीं आता !" बीजगुप्त ने कहा।

"तुम्हारी समझ में क्यों आयेगा आर्य ? अपनी प्रेम साधिका की दशा देखकर मेरी ही भाँति तुम्हारा मर्म भी दग्ध हो रहा होगा; जिस योगी की प्रतिष्ठा को तुमने बचाया है, वह धूल में मिल रही होगी, तब तो समझ में आयेगा !" चित्रलेखा बैठी हुई थी, उठ खड़ी हुई। वह वहाँ से चलने को भी उद्यत हुई।

बीजगुप्त ने उसे रोकते हुए कहा, "तुम कहाँ भूल गई हो चित्रे ? क्यों इतनी क्षुद्र हो उठी हो ? संसार के लिये तुम न जाने क्या हो, यह क्यों नहीं सोचतीं ? अपने मन के द्वन्द्वों में फँसकर जैसे यह जानना ही नहीं चाहतीं। तुम्हारा मोह लेकर सब हँसें, बोलें; तुम तो सौन्दर्य्य की जगमग और इन दुर्बल अंगों की हिलकोर से लोक के हृदय में उथल-पुथल मचा देने वाली प्रेरणा हो। धरती की साक्षात् कला बनी हुई तुम स्वयं कोई स्पृहा लेकर क्यों भटकती हो ? क्यों इस प्रकार जलती हो ?"

"उसके कारण तुम हो बीजगुप्त !" कहकर वह वहाँ से तीव्र गति से चली गई।

बीजगुप्त अन्धकार में विलीन हो जाती हुई-सी उस रमणी को देखता रहा, फिर जैसे शून्य में ही अनेक क्षणों तक उसकी आँखें लगी रहीं। उसका हृदय क्षणमात्र को कण्ठ तक भर आया। मुख पर कोई वेदना का भाव छा गया, किन्तु फैले हुए अन्धकार के बीच वह दिखाई नहीं पड़ता था। अन्त में वह वहाँ से चलने के लिए खड़ा हुआ, तभी उसे योगी कुमारगिरि का स्वर सुनाई पड़ा, "आर्य बीजगुप्त पधारे हैं !"

बीजगुप्त ने जैसे चौंककर योगी कुमारगिरि के हाथ जोड़ दिये। कुमारगिरि ने दक्षिण हाथ उठाकर उसे आशीस देते हुए कहा, "कैसे कृपा की आर्य ?"

बीजगुप्त ने हँसकर कहा, "देवि चित्रलेखा के दर्शन करने आया था, अब चलता हूँ।"

कुमारगिरि ने कहा, "अच्छा! तुम इस कुसमय में आये हो, इस कारण मैं नहीं रोकूँगा!"

बीजगुप्त ने कहा, "मैं फिर कभी देव के दर्शन करूँगा।"

कुमारगिरि किंचित मुस्कराया। वह कुटी के भीतर चला। बीजगुप्त ने वहाँ से प्रस्थान किया। चित्रलेखा कुछ दूर पर अँधेरे में खड़ी थी, वह विमूढ़-सी खड़ी ही रही। मधुपाल दीपक लेकर वहाँ होकर आया। दीपालोक चित्रलेखा के मुख पर पड़ा; वहाँ जैसे संतप्त-सी साक्षात उदासी हो, दारुण रेखाएँ हों। चित्रलेखा ने मधुपाल को देखा। वह वहाँ से हटी। कुछ काल तक वह आश्रम के आंगन में आकर खड़ी हो ऊपर आकाश की ओर देखती रही।

मधुपाल कुमारगिरि की कुटी में प्रकाश करके बाहर निकला। वह चित्रलेखा के समीप आया। चित्रलेखा की आँखें ऊपर गगन में लगी थीं, मधुपाल की समझ में उसका वह भाव नहीं आया। वह जैसे यही देखने के लिये कि चित्रलेखा न जाने क्या देख रही है, आकाश की ओर देखने लगा।

चित्रलेखा सहसा रो उठी, "हे भगवान! मुझे उठा क्यों नहीं लेते?"

मधुपाल को उसकी दशा पर बड़ी दया आई। वह उससे क्या कहे? उसे किस प्रकार सान्त्वना दे, जैसे इसी द्विविधा में उसकी ओर करुण दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रहा।

सहसा चित्रलेखा वहाँ से चल दी। वह आश्रम के पीछे होकर साक्षात, अन्धकार-से खड़े हुए द्रुह की ओर बढ़ी। मधुपाल ने यह देखा और भागकर उसके पास पहुँचा। उसने कहा, "कहाँ जाती हो देवि?"

चित्रलेखा जैसे अपने ही हृदय के उत्ताप से व्याकुल थी। उसने नहीं पहचाना कि वह पूछने वाला कौन है? उसने कहा, "मेरे समस्त पापों को जो आच्छादित करले, अब मैं उसी को अपना लेना चाहती हूँ; जो मुझे इस पीड़ा से मुक्त करदे, मैं अब उसी का आलिंगन कर लेना चाहती हूँ।"

मधुपाल ने पूछा, "वह कौन सी वस्तु है देवि?"

"मृत्यु!" चित्रलेखा ने कहा

मधुपाल जैसे चौंका, "मृत्यु !........जाओ ! जाओ !"

वह वहीं ठिठक गया। चित्रलेखा को दूह पर चढ़ते हुए देखता रहा। फिर सहसा दौड़कर उसके पास पहुँचा। उससे बोला, "मेरी समझ में तुम मृत्यु को अपनाने मत जाओ।"

चित्रलेखा ने दूह पर और आगे चलते हुए कहा, "आज तक मैंने क्या किसी दूसरे की समझ को समझा है जो आज ही तुम्हारी समझ मान लूँ ? मैंने सदैव दूसरों को क्लेश दिया है, उन्हें पीड़ा दी है। एक बार यह कुल-कलंकिनी न जाने और क्या पा जाने के मोह में न मर सकी; दूसरी बार भी हृदय के किसी अलभ्य रत्न को इसी दूह पर से गिरते देखकर भी महामूर्च्छा को प्राप्त न कर सकी। मैं सभी को संतप्त कर देने के लिये उतरी हूँ, अपनी भी पीड़ा अब मुझ पर सम्हलती नहीं। मेरा इस लोक से उठ जाना ही अच्छा है।"

मधुपाल बोला, "अरे ! यह सब किससे कह रही हो तुम ? मैं न कुमारगिरि हूँ न बीजगुप्त।"

मधुपाल आगे नहीं बढ़ा। चित्रलेखा रुकी नहीं। उसने कहा, "मैं किसी से नहीं कह रही कुछ। मैं अपने आप से कह रही हूँ। मैं बहुत दुःखी हूँ, अब मैं यहाँ नहीं रहना चाहती।"

मधुपाल व्यग्रभाव से उसकी ओर कुछ क्षण तक देखता रहा, फिर आश्रम की ओर भाग चला।

वह कुमारगिरि की कुटी में जाकर चिल्लाया, "गुरुदेव ! वह मरना चाहती है। वह इस दूह से गिरकर अपने प्राणों का अन्त कर देना चाहती है। उसे बचाओ।"

कुमारगिरि ने आँखें खोलकर देखा। कहा, "तू पागल तो नहीं हुआ है मधुपाल !"

"मैं सत्य कहता हूँ गुरुदेव !" मधुपाल ने और भी उद्विग्न होकर कहा, "मैं उसके पीछे-पीछे दूह तक गया था, मुझे तो वहाँ जाने में भय लगता है। चित्रलेखा मरना चाहती है, उसे बचाइये देव ! उसे बचाइये !"

कुमारगिरि उठ खड़ा हुआ। उसने उद्विग्न होकर कहा, "क्या करूँ भगवन् !"

और वह बाहर चबूतरे पर आकर उस द्रुह की ओर मुँह करके चिल्लाया, "चित्रलेखा !"

मधुपाल भी बाहर निकलकर विशालदेव के पास पहुँचा। वह भी कुटी से बाहर आगया था। मधुपाल उससे लिपट कर रो उठा। विशालदेव ने कहा, "क्या हुआ मधुपाल ? तू रोता है !"

मधुपाल ने कहा, "और क्या, रोऊँ नहीं तो क्या देखूँ ? एक व्यक्ति मरना चाहता है और मैं न रोऊँ।"

वह पुनः रो उठा।

उधर कुमारगिरि ने तीव्रगति से द्रुह की ओर पाँव बढ़ाये। उसने तीव्र स्वर में पुकारा, "चित्रलेखा !"

वह ध्वनि चारों ओर गूँज गई; किन्तु कोई प्रत्युत्तर नहीं।

गगन में बादलों की घुमड़ ने भी गम्भीर शब्द किया; किन्तु अवनी पर जैसे कोई पुलक नहीं। भयावना अन्धकार फैला था।

विशालदेव ने एक दीर्घश्वास खींची। वह भी योगी के पीछे-पीछे चला।

कुमारगिरि द्रुह पर चढ़ता जाता था और बार-बार पुकारता था—चित्रलेखा।

वह ध्वनि बार-बार चारों ओर गूँजती थी। मेघ-दुन्दुभी कभी-कभी उसे आत्मसात् कर लेती। कुछ-कुछ बूँदें भी पड़ने लगी थीं।

कुमारगिरि चारों ओर दौड़ता था। सहसा चमक जाने वाली विद्युत में में उसे अपने पाँव रखने की जगह मिलती थी। एक स्थान पर वह अचानक विशालदेव से टकराया, विद्युत-प्रकाश में उसने उसे पहचाना। उससे कहा, "तुम उधर ढूँढो विशालदेव ! जहाँ से बीजगुप्त गिरा था उधर !"

और वह कभी इधर, कभी उधर दौड़ता हुआ पुकारने लगा, "चित्रलेखा !"

किन्तु व्यर्थ।

उसकी श्वास जोर-जोर से चल रही थी। चारों ओर अन्धकार घिरा

खड़ा था, जल का वेग बढ़ गया था, कुछ भी दिखाई देता नहीं था। वह चलता हुआ हिरण्यवाहेश्वर मन्दिर के सामने जा पहुँचा। उसके मण्डप से मन्दालोक निकलकर बाहर पड़ रहा था। उसने मन्दिर में प्रविष्ट होते ही पुकारा, "चित्रलेखा!"

वह भीतर मण्डप में जा खड़ा हुआ। उसने देखा—विग्रह के सामने पञ्चमुखी दीप जलता था, और देहली पर कोई पुजारिन झुकी हुई भगवान को शीश नमाती थी। कुमारगिरि के जी में जी आया। उसने कहा, "चित्रलेखा!"

परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला।

पुजारिन ने शीश उठाकर देवता की ओर देखा। उसने प्रार्थना की, "मेरी यही कामना है देवाधिदेव! मैंने मन, वचन और कर्म से यदि उनके अतिरिक्त और किसी को इस हृदय में स्थान दिया हो तो मैं महानरक में गिर पड़ूँ। मुझे उनके चरणों के सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। या फिर और भी उपकार करो तो बस मृत्यु।"

कुमारगिरि उसके निकट पहुँचा, धीरे-से कहा, "चित्रलेखा!"

"योगिराज! मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।"

योगी ने प्रणाम करने वाली को विस्फरित दृष्टि से देखा—वह यशोधरा थी। विवश-सी वाणी उसके मुख से निकली, "यशोधरा तुम!"

यशोधरा उठ खड़ी हुई, बोली, "हाँ योगी! क्या चित्रलेखा के लिये इतने व्यग्र हो कि आशीष ही नहीं देना चाहते?"

योगी जैसे सम्हल गया। उसने एक दीर्घश्वास खींची और दक्षिण हाथ उठाकर कहा, "प्रसन्न रहो देवि!"

सुनकर यशोधरा तिरस्कारपूर्ण भाव-से हँस पड़ी। उसने कहा, "प्रसन्न रहूँ। अब इस आशीष से क्या होगा? तुम्हारे दर्शन हुए हैं, मैंने केवल इस कारण तुम्हें प्रणाम किया है, आशीर्वाद भी इसी कारण ग्रहण करूँगी। किन्तु योगी तुम वास्तव में इतने पतित होगे, मुझे ज्ञात नहीं था। मेरी आँखों के सामने से चले जाओ।"

कुमारगिरि ने कहा, "मैं जाऊँगा ही देवि! तुम्हारे मुख से कटुवचन

निकलने ही चाहिए। मैं तुम्हें दोष नहीं देता।"

यशोधरा बोली, "दोष कैसे दोगे योगी ? समाधि का खेल रचकर मुझे न जाने क्या दिखाने लगे। मुझे भयभीत कर दिया। और कामी की तरह अपने चरणों में पड़ी मुझ निरीह को उठाकर मेरी आँखों में झाँकने लगे।"

योगी तिलमिला उठा। उसने आर्त स्वर में कहा, "विश्वास करो यशोधरा········!"

उसकी बात यशोधरा ने काट दी। उसने कहा, "कुछ भी मत कहो योगी ! अपराध मेरा ही था। विद्वेष की अग्नि में जलने वाली मैं तुमसे क्यों पूछने चली थी कि चित्रलेखा का अंत क्या है ? तुम्हारा कोई अपराध नहीं।"

कुमारगिरि ने कहा, "नहीं यशोधरा ! वासनाओं के फेर में पड़कर मैंने ही पाप किया। चित्रलेखा का अन्त क्या है, मेरे भी मन की कोई विकलता जैसे तब यह जान लेने को विकल हो उठी ; और तब क्या जाने, कहीं दुर्बल मन के मोह ने ही तो मुझे नहीं ठग लिया। मैंने तुम्हारे प्रति कोई दुष्कामना नहीं रक्खी।"

यशोधरा वहाँ से चलने लगी थी। योगी एक ओर हट गया। यशोधरा ने बाहर होने वाली वर्षा को देखा, फिर कुमारगिरि के निकट ही ठहर कर वह बोली, "यह कैसे विश्वास करूँ योगिराज ? आज भी तो तुम एक साधारण व्यक्ति की तरह चित्रलेखा के पीछे भागते हो ; उसे पुकारते हो। फिर भी मैं इतना जानती हूँ कि मन जिससे प्रेम कर उठता है, लाख चेष्टा करने पर भी उसके बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता ; चित्रलेखा के महामोह में तुम पड़े हो, पर वह तुम्हारे साथ प्रणय के खेल खेलकर भी जिसका ध्यान करेगी, उसी का करेगी।"

कुमारगिरि ने कुछ नहीं कहा। उसने नेत्र बंद कर लिये। फिर एक दीर्घ-श्वास खींचकर जैसे स्वयं से ही बोला, "कितनी विचित्र परिस्थिति है ! इन क्षणों में इसके अतिरिक्त और किस पर कोई विश्वास करेगा ?"

उसने आँखें खोलीं। देखा—यशोधरा वहाँ से जा चुकी थी। और चित्र-लेखा गर्भगृह से निकलकर मण्डप में आ रही थी। उसने उसकी ओर कई

क्षणों तक देखा, वह दृष्टि झुकाये थी। कुमारगिरि उससे कुछ न कहकर वहाँ से चला। विशालदेव भीगा हुआ उसके पीछे खड़ा था। कुमारगिरि ने उसका हाथ पकड़कर दबाया और कहा, "चलो विशालदेव !"

"लोग चित्रलेखा के साथ आपका सम्बन्ध जोड़कर अनेक प्रकार की बातें करते हैं, साथ में यशोधरा का भी नाम लेते हैं। कहते हैं, आपने अपने अपयश के कारण चित्रलेखा को अपने से दूर कर दिया........।"

बीजगुप्त कहीं बाहर जाने को प्रस्तुत हो रहा था। उसने स्वर्ण-मुकुट धारण करते हुए श्वेतांक को कुछ इस तरह से देखा कि उसके मुँह की बात मुँह में रह गई। उसने कहा, "लोग यह कहते हैं, लोग वह कहते हैं; श्वेतांक! जो कुछ वह कहते हैं वह उनके विचारने के लिए है। इस पर उन्हें सोचना चाहिए। हमारे पास तो विचारने को यही बहुत है कि हम किसी के विषय में क्या कहते हैं?"

श्वेतांक चुप हो गया। उसने आगे कुछ नहीं कहा। बीजगुप्त ने वहाँ से चलते हुए कहा, "मैं आर्य मृत्युञ्जय के यहाँ जा रहा हूँ।"

श्वेतांक उसके साथ गृह-प्रांगण तक आया। बीजगुप्त रथारूढ़ होकर वहाँ से चला।

कुछ काल में ही वह रथ मृत्युञ्जय के भवन में जाकर रुका। सेवक ने भीतर जाकर बीजगुप्त के आने की सूचना मृत्युञ्जय को दी। वह सन्ध्योपासना से निवृत्त होकर उठे ही थे। बीजगुप्त के आगमन का समाचार जानकर वह तुरन्त ही बाहर आये। उन्होंने हँसकर उसका अभिनन्दन किया। भीतर प्रकोष्ठ में ले जाकर बैठाया। बीजगुप्त ने आसन ग्रहण करके पूछा, "कुशल तो है आर्य!"

इस पर मृत्युञ्जय हँस गये। उन्होंने कहा, "जो कुछ भी सामने उपस्थित है उसे कुशलता के अतिरिक्त और क्या समझा जा सकता है? कैसे आगमन हुआ तुम्हारा?"

बीजगुप्त ने उनके मर्म को अनजान में ही छू दिया, यह बात उसने तत्क्षण ही अनुभव की। मृत्युञ्जय की बात सुनकर उसके हृदय में वेदना हुई। उसने सिर झुकाकर कहा, "क्या अभी तक यशोधरा का विवाह आप निश्चय नहीं कर सके हैं आर्य?"

"नहीं बीजगुप्त ! मैं अब जैसे अवसन्न-सा हो गया हूँ ; कुछ दिन के लिये या सदैव को ही यशोधरा को साथ लेकर तीर्थवास को जाना चाहता हूँ ।" मृत्युञ्जय ने हृदय की विकल वेदना से अभिभूत होकर कहा, फिर आगे बोले, "पर छोड़ो इस बात को । तुम कैसे पधारे ?"

बीजगुप्त ने कुछ नहीं कहा । वह चुप हो रहा । जो बात वह कहने आया था, उसे मुँह से निकालने के लिये उसे जैसे अवसर ही नहीं मिल रहा था । मृत्युञ्जय को उसे इस प्रकार गम्भीर हो जाते देखकर विस्मय हुआ । वह उसकी ओर देखने लगे । कुछ क्षण में उन्होंने ही पूछा, "क्या कोई असाधारण बात है आर्य ?"

बीजगुप्त ने कहा, "नहीं । असाधारण कुछ भी नहीं । मैं यशोधरा के विषय में ही कुछ कहने आया था ।"

मृत्युञ्जय सुनने को उत्सुक हुए ।उन्होंने उसी भाव से उसकी ओर देखा, पूछा, "क्या श्वेतांक यशोधरा से विवाह करने को प्रस्तुत है ?"

"नहीं ।"

"फिर ?"

बीजगुप्त ने कुछ संकुचित होकर कहा, "आर्य ! आपने यशोधरा की वर्षगाँठ पर उसका पाणिग्रहण करने को मुझसे कहा था ।"

मृत्युञ्जय का हृदय धड़क उठा । उन्होंने कुछ नहीं कहा । वह उसकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगे । उनके रोम खड़े हो गये थे ।

"आपने उसका उत्तर मुझसे नहीं माँगा ।"

मृत्युञ्जय ने कुछ नहीं कहा । आँखों में कुछ मुदित भाव झलक तो आया, किन्तु हृदय की धड़कन और बढ़ गई । वह और भी उत्सुक होकर उसकी ओर देखने लगे।

बीजगुप्त ने कहा, "यदि आर्य की इच्छा में कुछ परिवर्त्तन न हुआ हो तो मैं यशोधरा का पाणिग्रहण करने को प्रस्तुत हूँ ।"

मृत्युञ्जय की आँखें आश्चर्य से पुलक उठीं । वह जैसे स्तब्ध रह गये । इस बार प्रसन्नता के आवेग में सहसा उनके मुख से कुछ न निकल सका । फिर उन्होंने कहा, "मैं क्या सुन रहा हूँ आर्य बीजगुप्त ?"

"आप ठीक सुन रहे हैं आर्य ! मैं यहाँ यशोधरा के लिये याचना करने आया हूँ ।"

मृत्युञ्जय ने बीजगुप्त का हाथ अपने हाथ में ले लिया । उन्होंने कहा, "आर्य बीजगुप्त ! तुम्हें मैं क्या कहूँ ? मैं कुछ नहीं कह पा रहा ।"

बीजगुप्त उठ खड़ा हुआ । उसने कहा, "क्या मुझे आप कन्यादान करेंगे आर्य ?"

"क्यों नहीं बीजगुप्त ?" मृत्युञ्जय ने कहा ; हर्ष के आवेग में उनके मुख से आगे कुछ नहीं निकल सका । उसकी पूर्ति आँखों ने की, उनमें अश्रु बिन्दु झलक आये । वह उठ खड़े हुए ।

बीजगुप्त भी उठकर खड़ा हो गया । तब मृत्युञ्जय ने उसके हाथ पकड़ कर कहा, "ठहरो तो बीजगुप्त !"

और उसका हाथ पकड़कर उन्होंने उसे पुनः आसन पर बैठा दिया । फिर वह दौड़कर भीतर पहुँचे । यशोधरा पर्य्यङ्क पर लेटी थी । वह पिता को इस प्रकार आते देखकर उठ बैठी, खड़ी हो गई । मृत्युञ्जय ने उसे हृदय से लगा लिया और उनकी आँखों से आँसू बह चले ।

यशोधरा ने समझा, सम्भवतः वह सहसा ही उसका ध्यान करके संतप्त हो उठे हैं । वह भी रो उठी ।

मृत्युञ्जय बोले, "तू क्यों रोती है यशू ? आज तो तुझे प्रसन्न होना चाहिए ।"

यशोधरा की समझ में पिता की बात नहीं आई । वह और वेग से रोने लगी । तभी एक वृद्ध परिचारिका ने आकर कहा, "आर्य बीजगुप्त चले गये स्वामी ! न जाने मुझसे विनोद करते थे क्या ? कहते थे, इस भवन में इस प्रकार से अकेले बैठना तो आर्य का सम्बन्धी हो जाने के उपरान्त ही शोभा देगा । इसलिए चलता हूँ ।"

मृत्युञ्जय और यशोधरा दोनों ही परिचारिका को देख उठे । यशोधरा की आँखें सहसा सूख गईं । उसने पिता की ओर देखा । फिर उसने दृष्टि नीची कर ली ।

मृत्युञ्जय बाहर चले ।

यशोधरा ने यह देखा और आँखें बन्द करलीं। प्रसन्नता के आवेग को हृदय पकड़कर सम्हाल लेना चाहा और मुख से निकला, "हे देव! तुम कितने दयालु हो!"

तभी बाहर प्रांगण में रथ-ध्वनि उठी। उसने दौड़कर गवाक्ष से झाँका। देखा—बीजगुप्त का रथ जा रहा था। हृदय में न जाने कितना मोह लेकर वह उसे देखने लगी। धीरे-धीरे वह तोरण से बाहर निकल गया।

बीजगुप्त लौटकर अपने भवन पर पहुँचा। अपने प्रकोष्ठ में पहुँचकर उसने देखा—श्वेतांक और चित्रलेखा कुछ बातें कर रहे थे। वह चित्रलेखा को देखते ही चौंका। उसने मुदित भाव से कहा, "किसी शुभ कार्य का आरम्भ हो और मंगलामुखी के दर्शन हों, कैसा अच्छा शकुन है देवि चित्रलेखा?"

सुनकर चित्रलेखा हँस गई। उसने पूछा, "कौन-से शुभ कार्य में हाथ डाला है आर्य?"

बीजगुप्त ने मुकुट उतारकर चौकी पर रखते हुए कहा, "वह मैं पीछे बताऊँगा। पहले तुम कहो, कैसे कृपा की?"

चित्रलेखा ने कहा, "क्या अपने देव की चरणरज लेने के लिये यहाँ आने पर इस दासी की कृपा समझी जायगी?"

बीजगुप्त को विस्मय हुआ। चित्रलेखा में आमूल परिवर्तन सहसा कैसे हो गया? उसने एक आसन पर बैठते हुए कहा, "क्या तुम योगी के आश्रम से चली आईं?"

तब श्वेतांक वहाँ से जाने के लिये उठने लगा था। चित्रलेखा ने उसका हाथ पकड़कर बैठाते हुए कहा, "बैठो! नहीं तो तुम्हें बाहर खड़ा रहना पड़ेगा।"

श्वेतांक का मुख निष्प्रभ हो उठा। चित्रलेखा ने बीजगुप्त की बात का उत्तर दिया, "हाँ।"

"तुमने अच्छा ही किया।" बीजगुप्त ने कहा।

सुनकर चित्रलेखा गम्भीर होगई। वह बोली, "सो मैं नहीं जानता। मुझे तो ऐसा लगता है आर्य कि मेरा जीवन अन्धकारमय है; कहीं भी प्रकाश

की किरण नहीं दिखाई देती।"

बीजगुप्त हँस गया। उसने कहा, "चित्रलेखा! क्या निराश हो जाने से भी हृदय को शान्ति मिल जाती है?"

"इस पर विचारने की अब इच्छा नहीं होती बीजगुप्त! किन्तु किसी गगन-स्फुल्लिंग से दग्ध हुए हृदय को यदि निराशा भी मिले तो क्या वह उसके कम सौभाग्य की बात होगी?" चित्रलेखा ने कहा।

बीजगुप्त उसकी ओर एकटक हो देखने लगा। उसने कहा, "तुम ठीक कहती हो चित्रलेखा! किन्तु उससे मनुष्य को सन्तोष हो जाय तब तो।"

चित्रलेखा हँस गई। उसने कहा, "इन बातों को छोड़ो बीजगुप्त! इनसे मुझे कोई लाभ नहीं। मन की बातें और होती हैं और उसे समझाने वाली बातें और।"

बीजगुप्त चुप रहा। उसने भी चित्रलेखा की बात के मर्म को समझा!

चित्रलेखा ने कहा, "मैं एक प्रार्थना लेकर आई हूँ आर्य! यदि विचार करो तो कहूँ।"

बीजगुप्त को कोई विस्मय नहीं हुआ। उसने प्रश्नात्मक दृष्टि से चित्रलेखा की ओर देखा। चित्रलेखा ने समझकर कहा, "तुम यशोधरा से विवाह करलो।"

अब बीजगुप्त के विस्मित हो जाने की बारी थी। चित्रलेखा ने उसे समझा; किन्तु उससे प्रथम कि वह कुछ कहे, बीजगुप्त ने हँसकर कहा, "क्यों?"

"क्योंकि वह पवित्र है; उसका अपयश असत्य है।"

बीजगुप्त ने कहा, "किन्तु इतने से ही तो काम नहीं चल जायगा देवि! लोक दृष्टि को देखना भी तो आवश्यक है।"

"ठीक है। परन्तु मैं प्रेम को सबसे ऊपर समझती हूँ; ईश्वर से भी ऊपर। यशोधरा तुमसे प्रेम करती है।" चित्रलेखा ने कहा।

"परन्तु मुझे तुम्हारे मत से क्या?"

चित्रलेखा क्षण मात्र को चुप रही, जैसे अपने हृदय पर हुए प्रहार की वेदना को सम्हाला हो। फिर बोली, "यह तुम्हारे मन की बात है। मैं आज

तुम्हारे किसी कटुवचन का बुरा मानने योग्य नहीं रही।"

और वह वहाँ से चलने को उद्यत हो गई; उठ खड़ी हुई।

बीजगुप्त ने उसका हाथ पकड़ लिया। उसने कहा, "बैठो तो देवि! मैं तुम्हारी बात अवश्य मानूँगा।"

चित्रलेखा उदास तो हो ही रही थी, बीजगुप्त की बात सुनकर उसका मुखमण्डल न जाने क्यों जैसे रक्तविहीन हो गया। क्या बीजगुप्त यशोधरा से विवाह करने को प्रस्तुत ही बैठा था? उसका हृदय धड़क उठा।

बीजगुप्त ने कहा, "चित्रलेखा! मैं सीधा आर्य मृत्युञ्जय के यहाँ से आ रहा हूँ।"

चित्रलेखा ने उस पर से आँखें नहीं हटाईं। श्वेतांक भी उसे और आग्रह से देख उठा।

बीजगुप्त ने बताया, "मैं वहाँ यशोधरा के विवाह की बात करने गया था।"

सुनकर चित्रलेखा के मुख पर कोई भाव नहीं आया। श्वेतांक को कुछ विस्मय हुआ। बीजगुप्त ने अपनी बात आगे बढ़ाई, "मृत्युञ्जय मुझे कन्या दान करने को प्रस्तुत हैं और मैं यशोधरा का पाणिग्रहण करने की बात पक्की करके ही लौटा हूँ।"

चित्रलेखा न जाने क्यों और निर्जीव हो उठी। वह उस बात को सुनकर किसी प्रकार भी प्रसन्न नहीं हो सकी। उसके हृदय पर न जाने कैसी ठेस लगी कि वह सहसा भूल गई कि बीजगुप्त से वह भी तो वैसी ही प्रार्थना करने आई थी। बीजगुप्त ने कहा, "अब तो प्रसन्न हो चित्रलेखा!"

चित्रलेखा के मुख पर जैसे यत्न करने पर मुस्कराहट आई। और जैसे कठिनता से ही उसके मुख से निकला, "बहुत।"

साथ ही वह उठ खड़ी हुई।

बीजगुप्त ने कहा, "बैठोगी नहीं क्या?"

चित्रलेखा ने मन्द स्वर में कहा, "अब बैठकर क्या होगा?"

बीजगुप्त ने उसे नहीं रोका।

चित्रलेखा लौट चली। उसके हृदय की दशा कुछ विचित्र हो रही थी।

बार-बार यत्न करके भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था—क्यों? जिस बात के लिये उत्सुक होकर वह बीजगुप्त के पास आई थी, उसी को साक्षात् सामने देखकर न जाने कैसी पीड़ा से उसका मन भर गया, न जाने कैसी एँठन से उसका हृदय पूर्ण हो गया। उसे लगा जैसे कुछ असम्भावित बात हो गई।

रथ में वह पाषाण-प्रतिमा-सी बैठी थी।

कई दिन तक उसकी यही दशा अपने गृह की दीवारों के बीच भी रही। जहाँ बैठ जाती, बैठी रहती। बार-बार मन को समझाती, "वही तो हो रहा है, जो वह चाहती है।"

'वह चाहती है?'

'वह क्या चाहती है?'

अन्त में जब उसे इस प्रश्न का उत्तर न मिल पाता तो सहसा वह बीजगुप्त के चित्र के सम्मुख जा खड़ी होती, उसी से पूछती, "तुम्हीं बताओ मेरे नाथ, मैं क्या चाहती हूँ?"

सुनयना से पूछती, "बता तो सुनयना! मैं क्या चाहती हूँ? वह यशोधरा से विवाह कर रहे हैं! ठीक है न।"

सुनयना कहती, "प्रसन्नता की तो बात ही है चित्रे! और तेरे लिये तो बहुत ही। जिसमें बीजगुप्त सुखी हों वही तो तेरे प्रेम की साध है!"

चित्रलेखा के मन में जैसे दूसरा प्रश्न उदित होता, "क्या यही है मेरे मन की साध?"

वह कभी गवाक्ष पर खड़ी होकर राजमार्ग की ओर देखती रहती; यों ही, अन्यमनस्क-सी। फिर सहसा न जाने कहाँ से उसके सूने-से मन में प्रश्न उठता, "क्या यही है मेरे मन की साध?"

वातायन पर आकर खड़ी हो जाती, कहती, "और क्या हो सकती है?"

आजकल वह अपने प्रेमियों का हृदय खोलकर अभिनन्दन करती। न जाने उसे अपूर्व प्रसन्नता थी, इस कारण, या न जाने, वह कुछ भूल जाना चाहती थी इस कारण। नृत्य करती थी तो जैसे पतंगों को प्रतीत होता, उसने उन्हें झूम-झूम कर दग्ध कर दिया। गाती थी तो जैसे उस अभिमन्त्रण में

लोग खो जाते। कान उधर लगे रह जाते, आँखें उसके सौन्दर्य पर, नृत्य पर।

जैसे मनुष्य कुछ खोकर पाश्चात्ताप करता है, कभी-कभी उसके मोह को बलपूर्वक तोड़ देना भी चाहता है; किन्तु कोई तो उस मोह में निमग्न है कोई समझाने आता है, भीतर ही भीतर जैसे द्वन्द्व होता हो। कुछ भी समझने के लिये जैसे कोई रह नहीं रही हो, कुछ भी छोड़ देने की बात जैसे अपने वश से बाहर हो। चित्रलेखा उस दिन विभोर होकर नाचती थी, गाती थी। कोई सामन्त वहाँ बैठा उसके नृत्य पर झूमता था, उसकी सौंदर्यसुधा का नेत्रों से पान करता था और उसके कंठ से प्रवाहित होने वाली रागिनी जैसे उसके हृदय से तप्त स्वासें खींच लाती थी। व्यथा का संचार होता था।

उसका नृत्य और गायन समाप्त हुआ तो उसने चित्रलेखा का हाथ पकड़ कर अपने समीप बैठा लिया। उससे पूछा, "क्या तुम्हारे हृदय में भी ऐसी ही टीस है? ऐसी ही कसक है चित्रलेखा!"

सुनयना पास ही बैठी थी। उत्तर चित्रलेखा की ओर देखते हुए उसी ने दिया, "क्या किसी गणिका के हृदय भी होता है आर्य? कहीं सुना है आपने!"

उस सामन्त ने कहा, "होता कैसे नहीं है देवि? वह शरीर का ही नहीं, हृदय का भी व्यापार करती हैं।"

चित्रलेखा के हृदय में यह बातें जैसे गड़ गईं। उसके चले जाने पर उसने सुनयना से पूछा, "सुनयना! क्या सचमुच ही गणिका के हृदय नहीं होता?"

सुनयना बोली, "हाँ! यही मान्यता है।"

चित्रलेखा ने सुना, फिर सहसा कह उठी, "तो फिर सुनयना! मैं गणिका नहीं हूँ।"

सुनयना चित्रलेखा की अज्ञानता पर हँस पड़ी। उसने उसका हाथ पकड़ कर कहा, "परन्तु यह सच नहीं है चित्रे! तू गणिका है। अपने हृदय की

बात छोड़ दे। यह असत्य नहीं है कि हम शरीर का ही नहीं हृदय का भी व्यापार करती हैं।"

सुनकर चित्रलेखा विकल हो उठी। वह चिल्लाई, "नहीं! नहीं! मैंने हृदय का व्यापार नहीं किया है! मेरा सब कुछ लुट गया है।"

सुनयना स्तब्ध-सी हो उठी।

चित्रलेखा जैसे बिलखती-सी अपने पर्य्यङ्क पर जा लेटी। रोती रही। सुनयना भी उसके पास आकर बैठ गई। चित्रलेखा ने उसकी गोद में मुँह छिपाकर कहा, "सुनयने! मेरा संसार नष्ट हो गया है, मेरे लिये यहाँ कुछ भी नहीं रहा। मेरा अपना कोई नहीं है, मेरा जीवन व्यर्थ है। अब कोई आशा नहीं, कोई कामना नहीं।"

सुनयना ने चित्रलेखा का भाव देखकर कुछ भी नहीं कहा। वह ऐसी दशा में थी, जिसमें कुछ भी समझाना व्यर्थ होता है।

धीरे-धीरे चित्रलेखा ने सुनयना की अंक से अपना सिर उठाया, फिर दूर शून्य में देखने लगी; वातायन के पार उसकी दृष्टि बाहर फैले हुए अन्धकार में जम गई।

"मुझे दीक्षा दो योगिराज !"

कुमारगिरि ने अपने चरणों में आकर गिर पड़ी-सी चित्रलेखा को देखा, फिर सामने हो रही वर्षा को। चित्रलेखा अपने सभी विभव को उतार फेंक आई थी। उसका रुचिर वेश कुछ और ही प्रकार का हो रहा था; जैसे कोई तपस्विनी हो। योगी को विस्मय हुआ। उसने पूछा, "क्या हुआ नर्तकी ?"

"मेरा सब कुछ नष्ट हो गया है देव ! मैं उस व्यापार को छोड़ आई हूँ, वहाँ मेरा कुछ नहीं रहा।" कहकर चित्रलेखा ने कुमारगिरि के मुख की ओर देखा, और आगे कहा, "मुझे अपनी शरण में लीजिये देव !"

समीप ही बैठे विशालदेव और मधुपाल को भी चित्रलेखा के व्यवहार पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने एक दूसरे की ओर देखा।

कुमारगिरि जैसे कुछ सोचने लगा।

चित्रलेखा ने कहा, "मुझ पर शंका मत कीजिए। मुझसे किसी प्रकार का भय मत करो गुरुदेव। मैं समझ गई हूँ कि जिसके लिए मैं मरी मिटती हूँ, वह सब व्यर्थ है, मेरा अभिमान झूठा है। मुझे सद्राह बताइये।"

कुमारगिरि ने कहा, "मुझे तुम पर कोई शंका नहीं देवि ! मुझे तुमसे किसी प्रकार का भय नहीं; यदि संसार के मोह को छोड़कर किसी और ही रंग में रंग जाना चाहती हो तो मैं तुम्हें उपदेश दूँगा।"

चित्रलेखा ने कहा, "हाँ गुरुदेव ! मैं यहाँ के झूठे माया-मोह से मुक्ति पा लेना चाहती हूँ, मुझे उपदेश दीजिए ! मैं जिस प्रकार से अपने पंकिल जीवन का प्रायश्चित कर सकूँ वही बताइए।"

कुमारगिरि ने पूछा, "क्या तुमने अनुभव किया है कि सब मिथ्या है ?"

चित्रलेखा ने आँखें बन्द करके शान्त भाव से कहा, "हाँ।"

जैसे उसके सामने उसका अतीत विचरने लगा।

वह किसे सत्य समझे ? सभी ने तो उसे भरमाया है; अपने झूठे रूप-रंग से उसका मन मोहित किया है, उसे ठगा है। नहीं अपनी ही कामनाओं ने

उसे ठगा है। वह जिस ओर भी भागी है, किसी को अपना समझकर चल पड़ी है; सोचा है, उसके इस मोह का मान होगा ही; पर सब व्यर्थ। अपनी ही कामनायें मिथ्या हैं।

उसने एक गंभीर श्वास खींची।

कुमारगिरि ने कहा, "चित्रलेखा! यहाँ सब कुछ अनित्य है, हर एक भोग नश्वर है।"

"हाँ गुरुदेव!" चित्रलेखा के मुख से स्वतः ही निकला। कुमारगिरि की वाणी जैसे उसे अद्भुत शान्ति प्रदान करती थी।

वह किस भोग को नित्य समझे? सभी जैसे क्षणमात्र को आते हैं, कोई पीछे दौड़ने पर भी पकड़ में नहीं आता, बस एक मृग-तृष्णा के आधीन होकर चारों ओर भटकते-भटकते वह तो जैसे निर्जीव हो गई है।

योगी ने कहा, "नर्तकी! संसार असार है, सब कुछ माया है।"

नर्तकी के मुख से निकला, "मैं ऐसा ही अनुभव करती हूँ देव!"

चित्रलेखा जैसे स्वयं में लीन होती जा रही थी। उसके हृदय-प्रदेश पर न जाने क्या-क्या आकर जमने लगा था। क्या किसी में कुछ सार है? नहीं!

योगी बोला, "किसी से कुछ भी आशा करना व्यर्थ है, कोई भी तृष्णा हृदय को शान्ति नहीं देती। इस पर विचार किया है देवि?"

चित्रलेखा कुछ नहीं बोली। उसका ध्यान भीतर आ-आकर जमने वाले चित्रों पर अटक गया। वह उन्हीं में घूम उठी। बीजगुप्त से उसने कोई भी आशा क्यों की? उसके मोह में पड़कर वह किसी तृष्णा में क्यों जलती रही? क्यों वह अपने मन के अहम् के वशीभूत हुई कुछ अपना बनाने दौड़ी, लड़ी, उलझी? वह जैसे पछताने लगी।

तुम्हारे विवेक में महान शक्ति है। कुमारगिरि ने कहा, "मानव में दुर्बलतायें स्वाभाविक हैं, यह किसी दिन तुम्हीं ने कहा था। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के बोझ, स्वभाव से प्रेरित हुए हम न जाने क्या-क्या करते हैं! यह सच भी है देवि! किसी स्वभावजन्य दुर्बलता का महाबन्धन यह हमारा अहम् न जाने किस दुर्धर्ष मोह के सहारे हमारे साथ क्या-क्या छल किया करता है क्या तुमने उसकी कामनाओं से मुक्ति पा ली है? क्या तुम उसे दूर

फेंक देने को तत्पर हो ?"

चित्रलेखा अपने ही मन में डूब रही थी। उसने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया। योगी ने कहा, "देवि ! परिवर्तन और गति यही यहाँ का नियम है; अपने को कुछ और ही कर लेने में तुम्हें कोई कष्ट नहीं होना चाहिए।"

किन्तु चित्रलेखा ने कुछ क्षण तक कोई उत्तर नहीं दिया, फिर जैसे अपने से ही बोली, "बीजगुप्त ! तुम कितने महान हो ! अपनी मूर्खता में मैं ही मरी।"

कुमारगिरि ने उसकी ओर देखा, फिर विशालदेव से उसकी आँखें मिलीं। और अन्त में उसने उन्हें मूँद लिया।

विशालदेव और मधुपाल आश्रम के आँगन में देखने लगे। जल बरस रहा था। उसी की अनेक धारायें जिधर ढलकाव पा रही थीं, उधर ही चली जा रही थीं।

चित्रलेखा का मन कहीं और चला गया था। उसे जैसे ध्यान नहीं था कि वहाँ उसके अतिरिक्त भी कोई है। जैसे वह भूल रही थी कि वह कहाँ बैठी है ? जब उसने आँखें खोलीं, तो देखा—मधुपाल और विशालदेव वहाँ से उठकर चले जा रहे थे। कुमारगिरि की ओर देखकर उसने कहा, "गुरुदेव !"

बाहर विशालदेव ने उसका स्वर सुना। वह उसके पास आया, उसने कहा, "देवि ! योगिराज ने समाधि लगाली है।"

नर्तकी ने कहा, "किन्तु उन्होंने तो मुझे अभी कोई उपदेश ही नहीं दिया !"

विशालदेव ने कुछ नहीं कहा। चित्रलेखा कुटी के काष्ठस्तम्भ से लगकर बैठ गई।

विशालदेव वहाँ से चलकर बाहर पहुँचा; आँगन में मधुपाल ने उसके अपने पास आजाने पर कहा, "कहीं इस मायाविनी की यह कोई दूसरी माया तो नहीं है विशालदेव ?"

विशालदेव ने ऊपर आकाश की गहन कालिमा में दृष्टि स्थिर करते हुए कहा, "वही जाने !"

आकाश मेघ रहित हो चला था। पवन मेघ समूह को उड़ाये चला जाता था। विशालदेव ने यह देखकर कहा, "संभवतः आज रात्रि को पानी नहीं आये मधुपाल!"

मधुपाल ने भी ऊपर की ओर देखकर कहा, "वही जाने।"

फिर उसी क्षण दोनों की आँखें मिलीं। विशालदेव हँस गया।

चित्रलेखा न जाने कितने समय तक बैठी-बैठी कुमारगिरि को देखती रही; फिर उसकी आँखों में कब नींद उतर आई, उसे ज्ञात नहीं। वह वहीं कुशासन पर लुढ़क रही।

कुमारगिरि की समाधि जब खुली, उसने देखा—चित्रलेखा का भोला-सा सौन्दर्य्य निर्विकार भाव से पड़ा हुआ जैसे उसी के सामने जगमग-जगमग कर रहा था। कुटी में जलते हुए दीप के मन्दालोक ने उसका शृङ्गार किया जान पड़ता था। उस भोली प्रतिमा से वह अनेक क्षणों तक दृष्टि न हटा सका। फिर एक दीर्घनिश्वास त्यागकर वह उठ खड़ा हुआ; सोती हुई चित्र-लेखा के समीप आकर वह खड़ा होगया। उस रूप की मुस्कान न जाने आँखों में कितना अमृत उड़ेलती थी। किन्तु उसके भीतर प्रच्छन्न हृदय क्या जाने किस व्यापार के चक्र में अभी भी चल रहा हो। वह वहाँ से चल दिया।

बाहर आया।

पक्षियों की चहचहाहट फैली थी। ऊषा काल था। पूर्व की लाली मेघ-रहित-से आकाश पर पुलक रही थी।

थोड़ा ठहरकर मधुपाल ने कुटी में प्रवेश किया। नर्तकी को सोती हुई देखकर कुछ क्षणों तक वह जैसे कुछ द्विविधा में पड़ा रहा, फिर उसने वहीं एक ओर कोने में पड़ी झाड़ू उठाकर अपना नित्य का कार्य आरम्भ किया। कुटी को चारों ओर से झाड़ लाने के उपरान्त वह चित्रलेखा के पास आकर बैठ गया। वह उसे कैसे जगाये? बार-बार विचारने पर भी उसकी बुद्धि में नहीं आता था। अन्त में उसे जब कुछ नहीं सूझा, तब उसने उसके कान में धीरे-धीरे फूँक मारी; चित्रलेखा ने दूसरा करवट बदला, और उसका खुला हुआ कान छिप गया, दूसरा भी उत्तरीय से ढँका था। अब मधुपाल ने उसके उत्तरीय को हटाने के लिये हाथ बढ़ाया, पर कुछ सोचकर बीच में ही उसने

उसे रोक लिया। और वह उसके जगाने का यत्न न करके भित्ति का सहारा लेकर बैठ गया। हाथ में झाड़ू लगी ही रही। कुछ समय में ही वह ऊँघने लगा। न जाने कितने समय तक वह ऊँघता रहता, पर ज्योंही उसकी नाक में कुछ घुसा, उसने झाड़ू वाला हाथ उठाकर मुँह पर मार लिया; आँखें खुल गईं। देखा—विशालदेव उसके सामने खड़ा हँस रहा था और दूसरा एक और हँसने वाला कुटी के एक द्वार में खड़ा था। मधुपाल ने उसे पहचाना -श्वेतांक! बाहर आंगन में देखा—वहाँ सूर्योदय की सूचना देती हुई धूप फैली थी। उसे बड़ी लज्जा आई।

हँसी रुकने के पश्चात् विशालदेव ने श्वेतांक की ओर देखकर कहा, "श्वेतांक चित्रलेखा अभी भी सो रही हैं। क्या मुझे उन्हें जगा देना होगा?"

श्वेतांक भीतर चला आया, "हाँ! कार्य बहुत आवश्यक है। अब स्वामी के विवाह के दिन ही कितने रहे हैं।" उसने अँगुली पर गणना की, "बस दो दिन बीच में हैं; आज द्वादशी है न! मैं बहुत व्यस्त हूँ, न तो अधिक रुक ही सकता हूँ और न दुबारा ही आ सकूँगा।" फिर पूछा, "योगिराज कहाँ हैं?"

कुमारगिरि ने उसी क्षण वहाँ प्रवेश करते हुए कहा, "मैं उपस्थित हूँ।"

श्वेतांक ने करबद्ध होकर उसे प्रणाम किया। कुमारगिरि ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, "कैसे कष्ट किया श्वेतांक?"

उसी क्षण चित्रलेखा ने भी अँगड़ाई ली। वह उठ बैठी। सबको देखा, फिर श्वेतांक की ओर देखकर पूछा, "आर्य श्वेतांक! तुम यहाँ कैसे?"

श्वेतांक ने कहा, "पूर्णिमा को आर्य बीजगुप्त का विवाह है न! मैं उसी का निमन्त्रण लेकर आया हूँ—तुम्हारे लिये और योगिराज के लिये।"

योगी ने विस्मय से कहा, "क्या सामन्त बीजगुप्त विवाह कर रहे हैं?"

उत्तर चित्रलेखा ने दिया, "हाँ गुरुदेव! वह यशोधरा का पाणिग्रहण कर रहे हैं।"

कुमारगिरि का मुखमण्डल प्रसन्नता से पूर्ण हो उठा। उसने श्वेतांक की ओर देख कर कहा, "बड़ी प्रसन्नता की बात है आर्य श्वेतांक! मैं आने की

चेष्टा करूँगा।"

श्वेतांक ने कहा, "हम धन्य होंगे।" फिर चित्रलेखा की ओर देखते हुए वह आगे बोला, "क्या देवि कृपा नहीं करेंगी? कल तुम्हारे भवन पर स्वामी स्वयं गये थे।"

चित्रलेखा का हृदय जैसे अवसन्न हो उठा था। उसने खड़े होते हुए कहा, "इससे अधिक प्रसन्नता का अवसर क्या मेरे जीवन में कभी आयेगा आर्य श्वेतांक! मैं अवश्य आऊँगी।"

श्वेतांक चला गया।

उसके जाने के उपरान्त चित्रलेखा ने कुमारगिरि की ओर देखा और कुमारगिरि ने चित्रलेखा की ओर। दोनों की ही दृष्टि में जैसे कुछ मर्म छिपा था।

कुमारगिरि ने कहा, "कितनी प्रसन्नता की बात है चित्रलेखा! यशोधरा का विवाह हो रहा है, उसकी कामना पूर्ण हो रही है।"

चित्रलेखा ने भी उसी तरह से कहा, "योगिराज! इससे अधिक प्रसन्नता की और क्या बात होगी। बीजगुप्त का विवाह हो रहा है। उनकी भी कामना पूर्ण हो रही है।"

योगी का हृदय उल्लास से पूर्ण था, उसके स्वर में महान हर्ष था।

चित्रलेखा का हृदय संतप्त था, उसकी वाणी में वेदना थी, पीड़ा थी। जैसे सहसा ही पड़ गये ठण्डे कण्ठ से निकलकर कुछ बाहर आया हो।

कुमारगिरि ने चित्रलेखा की विक्षिप्तावस्था के कारण का कुछ-कुछ अनुमान लगाया।

बीजगुप्त के निमन्त्रण ने चित्रलेखा के हृदय में विचित्र उथल-पुथल मचा दी थी। 'उनकी भी कामना पूर्ण हो रही है।' सहसा अपने ही मुख से निकल गये इन शब्दों ने उसके मन में और भी खटक उत्पन्न कर दी थी।

'बीजगुप्त विवाह कर रहा है।' यह बात उसे न जाने क्यों कचोटे डाल रही थी। और 'यशोधरा से उसका विवाह हो रहा है!' यह बात उसके लिए न जाने क्यों असह्य हो रही थी।

कभी वह अपने मन को समझाती, 'तू भी तो बीजगुप्त के पास यशोधरा से विवाह कर लेने की प्रार्थना लेकर गई थी।'

तब जैसे मन में दूसरी बात आकर जम जाती, 'परन्तु उनके मन में तो उससे विवाह कर लेने की पहले ही से लगी थी।'

इस बात का उसे समाधान मिलता, पीछे की अनेकों बातें उसके सामने आ जातीं, और वह कहती, "तभी उन्होंने न्यायाधिकरण के सामने मुझे लज्जित किया, यशोधरा के अपयश पर प्रज्वलित हो उठे।"

यह विचार उसके लिए घोर दुख के कारण बन रहे थे।

उसी दिन सन्ध्या समय वह आश्रम के आंगन में धीरे-धीरे टहलती हुई अपने आप से कह उठी, "किन्तु उन्होंने तो मुझसे कहा था, मैं किसी से प्रेम नहीं करता।"

विशालदेव उसी के समीप होकर जा रहा था। उसके कान में भी चित्रलेखा की बात पड़ी। उसने कहा, "वह झूठ था नर्तकी।"

चित्रलेखा ने उसकी ओर देखा। उसकी आँखों में सहसा आँसू छलक आये। वह दुखित होकर बोली, "मुझे बीजगुप्त ने ठग लिया है विशालदेव!"

विशालदेव ने गम्भीर भाव धारण कर लिया था। वह एक ओर चला गया।

जैसे-जैसे बीजगुप्त के विवाह की घड़ी निकट आ रही थी, चित्रलेखा का हृदय जैसे बैठता जा रहा था।

पूर्णिमा आगई थी।

चित्रलेखा स्थाणु के सहारे टिक कर बैठी थी। बैठी रही। जैसे उसने हृदय में महान शान्ति को स्थिर कर लिया हो। कुमारगिरि भी समीप ही बैठा था; मधुपाल और विशालदेव भी वहीं बैठे हुए सामने देखते थे। ऊपर घिरी हुई घटाओं से चारों ओर अन्धकार छाया था। विशालदेव ने कुमारगिरि की ओर देखकर पूछा, "आर्य बीजगुप्त के विवाह में सम्मिलित होने की इच्छा है क्या देव?"

मधुपाल ने भी सुना। उसने कुमारगिरि की ओर देखते हुए उदर पर हाथ फेरा।

चित्रलेखा ने भी सुना। आँखें नहीं खोलीं, किन्तु कान उधर ही लगाये। हृदय को जैसे सावधान किया।

कुमारगिरि ने कहा, "अब हमें इस संसार से क्या प्रयोजन विशालदेव ? मेरी तो इच्छा कहीं जाने की नहीं होती।"

उसी क्षण ऊपर तने हुए घटामण्डप में घुमड़ उठी। विद्युत चमकी; गड़गड़ाहट पर गड़गड़ाहट होने लगी।

"फिर आज तो प्रकृति का भी कुछ कोप होना चाहता है।" कहकर योगी ने चित्रलेखा को देखा, आगे कहा, "संभवतः देवि चित्रलेखा वहाँ जायेंगी, तुम चाहो तो इनके साथ जाकर बीजगुप्त के निमन्त्रण की रक्षा करना।"

विशालदेव और मधुपाल की दृष्टि चित्रलेखा पर लगी।

चित्रलेखा ने कुमारगिरि की बात सुनकर आँखें खोल दीं। उसने शान्त स्वर में कहा, "नहीं ! मैं वहाँ नहीं जाऊँगी।"

कुमारगिरि को विस्मय हुआ। उसने पूछा, "नहीं जाओगी ! क्यों ?"

चित्रलेखा ने कुछ तीव्र स्वर में कहा, "मुझे वहाँ नहीं जाना।"

योगी ने आगे कुछ नहीं कहा।

सब चुप हो गये। बाहर कुछ-कुछ बूँदें पड़ने लगी थीं। वहाँ उन्हीं का शब्द सुनाई पड़ने लगा।

कुछ समय बाद सहसा चित्रलेखा ने कहा, "गुरुदेव !"

कुमारगिरि ने उसे देखा।

चित्रलेखा ने कहा, "मेरा हृदय अशान्त हो रहा है। मैं क्या करूँ ?"

कुमारगिरि उसे गम्भीर दृष्टि से देखता हुआ बोला, "नर्तकी ! चारों ओर माया का खेल फैला है, उसे देखने के लिये उसने वैसी ही दो आँखें दी हैं, वैसा ही यह शरीर प्रदान किया है और वैसा ही इस हृदय में मोह उत्पन्न किया है। लगता है जैसे इन आँखों के सामने फैला संसार, इस शरीर के साथ होने वाले खेल और इस अन्तर में उनके कारण व्युत्पन्न मोह, सभी कुछ सत्य हो। किन्तु अपने इन्द्रजाल के पीछे बैठे रहने वाले उस ऐन्द्रजालिक ने इन दीखने वाली आँखों के पीछे भी एक आँख बनाई है, शरीर में चेतन को

व्याप्त किया है और मोहबुद्धि के पीछे ज्ञानबुद्धि को प्रतिष्ठित किया है। तुम उसी को जाग्रत करने के लिए उस अपरम्पार से प्रार्थना करो। वह एक खेल समेटता है, दूसरे का विस्तार करता है।"

चित्रलेखा ने कुछ नहीं कहा। वह कुमारगिरि को देखती रही। योगी दूसरी ओर देखने लगा। चित्रलेखा ने यह देखकर या न जाने योंही, आँखें बन्द करलीं; फिर कुछ क्षण में जब उसने कुमारगिरि पर दृष्टि डालकर कहा, "किंतु गुरुदेव....!"

बात उसके मुँह से पूरी नहीं निकल सकी। उसने देखा—कुमारगिरि नेत्र बन्द करके बैठा था। तभी उससे मधुपाल ने कहा, "गुरुदेव ने समाधि लगाली है देवि।"

चित्रलेखा मधुपाल पर दृष्टि डालती हुई प्रांगण में देख उठी। वर्षा कुछ अधिक होने लगी थी। बार-बार बिजली कड़कती थी; शब्द होता था। सहसा उसी पानी में कोई आता दिखाई पड़ा। उसने देखा—श्वेतांक!

श्वेतांक चित्रलेखा के सामने आकर खड़ा हुआ। उसने आते ही कहा, "चलो देवि! आश्रम द्वार पर रथ खड़ा है, मैं तुम्हें लेने आया हूँ।"

चित्रलेखा स्तब्ध हो उठी। उसने समाधि लगाये हुए योगी की ओर देखा। फिर उसने कहा, "मैं वहाँ नहीं जाऊँगी श्वेतांक! तुमने व्यर्थ ही कष्ट किया?"

श्वेतांक कुछ उद्विग्न हुआ। उसने कहा, "स्वामी को बहुत दुख होगा देवि!"

चित्रलेखा ने क्षणभर श्वेतांक की ओर देखते रहकर व्यंग्ययुक्त स्वर में कहा, "स्वामी को बहुत दुख होगा? क्या मुझे कुछ भी दुख नहीं है! श्वेतांक! तुम जाओ मेरा और तुम्हारे स्वामी का कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा वहाँ जाना व्यर्थ है।"

"ऐसा कैसे सम्भव है देवि? तुम्हारी प्रतीक्षा में स्वामी प्रभात से ही आकुल हैं। अब भी द्वार की ओर आँखें लगाये होंगे।"

"मैंने कह दिया श्वेतांक! मैं नहीं जाऊँगी। मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं, तुम जाओ।" कहकर चित्रलेखा खड़ी हो गई। ऊपर बादलों में बिजली

चमकती थी, चित्रलेखा की आँखें भी उसी तरह चमक जाती थीं। उसने तीव्र स्वर में आगे कहा, "मधुपाल को ले जाओ, विशालदेव को ले जाओ और अपनी समाधि में मग्न योगिराज को उठा ले जाओ। मुझे कहीं नहीं जाना।"

श्वेतांक ने पुनः निवेदन किया, "देवि! इस बरसात में भी स्वामी ने मुझे तुम्हें लिवा ले आने के लिये भेजा है। तुम नहीं जाओगी तो उनकी क्या दशा होगी, कुछ सोचो तो। इतनी कठोर तो न बनो।"

चित्रलेखा उत्तेजित हो रही थी। उसने कहा, "मेरे लिये कौन कोमल बना है श्वेतांक! क्या आर्य बीजगुप्त? उन्होंने मेरे जीवन में जो विष वपन किया है, जो आग लगादी है, उससे दग्ध मैं कठोर हूँ या बड़े-बड़े आदर्शों की बात बताकर मेरी कामना लता पर तुषारपात करने वाले तुम्हारे स्वामी। जाओ श्वेतांक! उन्हें उनकी प्रेमिका मिल रही है, मुझसे उन्हें क्या?"

तभी वहाँ आकर विशालदेव खड़ा हुआ। नर्तकी की उत्तेजनायुक्त वाणी उसके कानों में भी पड़ी। श्वेतांक ने उसकी ओर देखकर उससे कहा, "क्या यहाँ से कोई भी नहीं चलेगा विशालदेव?"

विशालदेव ने कहा, "गुरुदेव तो नहीं जायँगे!"

"तो फिर तुम्हीं चलो।"

"मैंने गुरुदेव से पूछा नहीं है। मधुपाल को तुम ले जाओ।" विशालदेव ने कहा।

मधुपाल तो जैसे इसके लिए प्रस्तुत ही था। उसने श्वेतांक की ओर ललचाई दृष्टि से देखा।

"मधुपाल को तो मैं ले जाऊँगा, पर तुम्हारा चलना भी तो परमावश्यक है विशालदेव! गुरुदेव आये हैं।"

"मैं महाप्रभु के दर्शन विवाहोपरान्त करूँगा।"

श्वेतांक ने आगे कुछ नहीं कहा। वह मधुपाल को लेकर वहाँ से चला गया।

चित्रलेखा कुटी के द्वार पर खड़ी-खड़ी श्वेतांक के रथ को आँखों के सामने से अदृश्य होते हुए देखती रही। वर्षा के जल ने उसे शीघ्र ही छिपा

लिया । किन्तु वह उधर देखती ही रही । उसकी आँखों में हृदय का अभियान तरल बनकर छागया था, और वह जैसे बिलख पड़ना चाहती थी। वह सिसक उठी। उसकी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। वह कब तक रोती रही, उसे ज्ञात नहीं। जब उसकी आँखों के आँसू सूख गये तो वह बैठ गई। फिर रो पड़ी, और रोती रही।

विशालदेव वहाँ से चला गया था। योगी की समाधि लगी थी। उसके अश्रु-प्रवाह को देखने वाला वहाँ कोई नहीं था। अन्त में जब चित्रलेखा की वेदना इस प्रकार भी कम नहीं हुई, तो वह सहसा खड़ी होकर चिल्लाई, "योगी! मैं वहाँ जाऊँगी।"

किन्तु कौन सुने! योगी तो समाधिस्थ था।

चित्रलेखा का हृदय जैसे टूटने लगा। वह पुनः बैठ गई, विवश-सी योगी को देखने लगी। कुछ काल में वह पुनः चिल्लाई, "योगी! मैं वहाँ जाऊँगी!"

किन्तु योगी ज्यों का त्यों रहा।

चित्रलेखा खड़ी हो गई। अब वह जैसे योगी के कान पर मुँह रखकर चिल्लाई, "योगी! मैंने किसी का क्या बिगाड़ा है जो मुझे इस तरह दुख देते हो। मुझे क्यों नहीं बताते मैं क्या करूँ? मैं वहाँ जाऊँगी!"

वह रो पड़ी। फिर जैसे विकल होकर कह उठी, "नहीं! नहीं! मैं बीजगुप्त को यशोधरा से विवाह नहीं करने दूँगी।" फिर चिल्लाई, "मैं बीजगुप्त को यशोधरा से विवाह नहीं करने दूँगी, योगी! मैं जाती हूँ।"

कुमारगिरि की समाधि सहसा भंग हो गई। उसने आँखें खोल दीं। चित्रलेखा को विचित्र रूप में देखकर उसने कहा, "तुम्हें क्या हुआ देवि?"

चित्रलेखा तनकर खड़ी हो गई। उसने कहा, "मुझे कुछ नहीं हुआ योगी! मैं पूछती हूँ योगी! क्या यहाँ सब अपने ही लिए जीवित हैं? अपने ही स्वार्थों में मग्न हैं? पर मैं सब कुछ नष्ट कर दूँगी। यशोधरा का बीजगुप्त से विवाह हो रहा है, तुम प्रसन्न हो न। मैं तुम्हारी प्रसन्नता को समाप्त कर दूँगी। बीजगुप्त ने मुझे ठगा है, मेरे साथ छल किया है, मैं उसका प्रतिशोध लूँगी।'

और वह कुटी के बाहर हो गई।

कुमारगिरि उठ खड़ा हुआ। उसने पुकारा, "ठहरो चित्रलेखा !"

चित्रलेखा ने जहाँ वह पहुँच गई थी, वहीं से कहा, "नहीं ! मैं वहाँ जाऊँगी।"

कुमारगिरि ने देखा—चित्रलेखा आश्रम-द्वार की ओर भाग उठी है; वह भी बाहर निकल आया। उसने बरसते हुए जल में खड़े होकर कहा, "तुम किसी की कामनापूर्ति में विघ्न मत डालो चित्रलेखा ! न जाने कितनी तपस्या के उपरान्त वह उसका फल पा रही है, तुम उसे मत छीनो। ठहर जाओ ! वहाँ मत जाओ !"

"नहीं योगी ! मैं प्रतिशोध लूँगी।" प्रत्युत्तर सुनाई दिया।

किन्तु चित्रलेखा वेग से बरसते हुए जल में छिप गई थी। योगी चिल्लाया, "चित्रलेखा !" वह जानता था कि प्रतिशोध लेने के लिये तत्पर वह स्त्री कितनी भयानक है। वह दौड़कर आश्रम-द्वार पर आया, वहाँ से पुनः पुकारा, "चित्रलेखा !'

योगी का उच्च स्वर विशालदेव की कुटी में भी पहुँचा। वह शीघ्रता से निकल कर बाहर आया। कुमारगिरि की कुटी की ओर भागा, वहाँ देखा—कुमारगिरि और चित्रलेखा दोनों नहीं थे। वह दौड़कर आश्रम-द्वार पर आया। उसे फिर कुमारगिरि का स्वर सुनाई पड़ा, "चित्रलेखा !"

कुमारगिरि चित्रलेखा के पीछे मार्ग पर भाग रहा था। चित्रलेखा उसकी किसी पुकार का उत्तर नहीं देती थी। मार्ग पर बरसते हुए जल का समारोह था, अन्धकार-सा घिर रहा था। धरती पर जल की धारायें शौण नद की ओर बढ़ी चली जा रही थीं। किन्तु चित्रलेखा को नगर की ओर दौड़ने की धुन थी। कुमारगिरि को उसे पकड़ लेने की।

कुमारगिरि ने सहसा चित्रलेखा को पकड़ लिया और उत्तेजित वाणी में बोला, "मत जाओ नर्तकी। मत जाओ ! किसी के संसार में आग लगाने मत जाओ।"

चित्रलेखा ने बलपूर्वक अपने को छुड़ाया। वह गिर पड़ी, योगी भी गिरा। और चित्रलेखा उठकर भागी। उसने कहा; "नहीं ! उन्होंने मेरा सुख

लूटा है, मैं उनका लूटूँगी।"

कुमारगिरि भी शीघ्रता से उठा। चित्रलेखा के पीछे भागा। किन्तु वह जैसे प्राणपण से भाग रही थी। कुमारगिरि आगे पहुँचकर उसका मार्ग रोक कर खड़ा हो गया। उसने हाथ फैला कर कहा, "मैं तुम्हें वहाँ नहीं जाने दूँगा चित्रलेखा!"

"मुझे कोई नहीं रोक सकता।"

सहसा कुमारगिरि को विशालदेव आता दिखाई पड़ा। उसने उससे कहा, "विशालदेव! चित्रलेखा को पकड़ो तो।"

चित्रलेखा ने घबरा कर पीछे से बढ़ने वाले विशालदेव को देखा। फिर इधर-उधर! घाट निकट ही था, वह शीघ्रता से वहीं भागी। कुमारगिरि और विशालदेव उसके पीछे चले।

चित्रलेखा ने घाट पर पहुँचकर देखा—तट से बँधी, जल के वेग में एक नौका डगमगाती थी। वह शीघ्रता से उस नौका पर चढ़ गई। बंधन उसने खोल दिये। उसी क्षण कुमारगिरि ने सोपान पर ठिठक कर कहा, "ठहर जाओ चित्रलेखा!"

किन्तु डोंगी बहाव की ओर चल पड़ी थी। चित्रलेखा ने डाँड़ सम्हाल लिया था। वह बोली, "नहीं योगी!"

कुमारगिरि ने उफनती हुई शोण के वेग को, फिर चित्रलेखा को विवश-सी दृष्टि से देखा। वह घाट के मण्डप से निकलकर किनारे-किनारे चला। विशालदेव विमूढ़-सा देखता था। वह भी योगी के आगे बढ़ जाने पर उधर ही चला।

चित्रलेखा के मार्ग में अब कोई व्याघात नहीं रहा था। उसने एक शान्ति की स्वास खींची; किनारे-किनारे दौड़ते हुए कुमारगिरि की ओर देखा। कुमारगिरि ने उससे आँखें मिलते ही कहा, "वहाँ मत जाओ चित्रलेखा।"

चित्रलेखा ने चिल्लाकर कहा, "वहाँ कैसे न जाऊँ योगी?"

कुमारगिरि ने दौड़ते हुए कहा, "नहीं चित्रलेखा। वहाँ मत जाओ!

तुम्हारी भावना ठीक नहीं है।"

"मेरी भावनाओं को तुम क्या जानो योगी ! मुझे वहाँ जाना है। मेरे प्रीतम ने मुझे बुलाया है, और तुम मुझे रोकते हो।" चित्रलेखा ने उत्तर दिया।

उसकी नौका दूर होती जा रही थी। योगी उसके बराबर-बराबर दौड़ भी नहीं पाता था। उसने जैसे अन्तिम प्रयत्न करने आरम्भ किये ! अनुनय भरे कंठ से उसने कहा, "नौका किनारे से लगाओ नर्तकी ! नद का वेग तीव्र है।"

"मेरा वेग उससे भी अधिक तीव्र है योगी !"

"तुमसे क्या कहूँ चित्रलेखा.... !"

"कुछ भी मत कहो योगी ! आज मेरे जीवन का महान् दिवस है।" चित्रलेखा का मन्द स्वर सुनाई पड़ा। वह डाँड़ से नौका को बीच धार की ओर जाने से रोकती जाती थी और आगे बढ़ती जा रही थी। कुमारगिरि हताश भाव से एक जगह रुका; विशालदेव उसके समीप आ गया था, उसके कन्धे पर हाथ रखकर उसने कहा, "चित्रलेखा भयानक हो रही है विशालदेव ! वह बीजगुप्त से प्रेम करती है, उसका विवाह यशोधरा से नहीं होने देगी ! क्या करूँ ?"

विशालदेव ने कुछ नहीं कहा। कुमारगिरि सामने नद के वक्ष पर वर्षा के पटों में ओझल होती-सी नौका को देखकर किनारे-किनारे फिर भागा; वह उसके यथेष्ट समीप पहुँचकर चिल्लाया, "मत जाओ देवि ! मत जाओ !"

चित्रलेखा ने यह शब्द सुना। उसने पीछे की ओर देखकर उत्तर दिया, "तुम लौट जाओ योगी ! आज मैं महानृत्य करूँगी !"

योगी जहाँ था, वहीं रुक गया। चित्रलेखा उसे अभी भी देख रही थी। और कुमारगिरि भी किसी ओर का ध्यान न करके उसी को देखता था। शोण का तीव्र वेग तट पर प्रहार करता था, शब्द होता था। योगी को जैसे उसका ध्यान नहीं। सहसा जैसे नद की किसी भीम तरंग ने किनारे को हिला

दिया। कुमारगिरि जहाँ खड़ा था, वहीं से विकराल शब्द करती हुई एक ढाह कटकर शौण की अंक में चली।

कुमारगिरि के पीछे-पीछे आता हुआ विशालदेव जैसे बाल-बाल बचा, पर उसे लगा जैसे उसका हृदय सरक गया। वह काँपकर रुक गया, मुख से चीत्कार निकला. "गुरुदेव !"

ढाह के साथ-साथ कुमारगिरि भी शौण की भयानक गोद में चला गया था।

चित्रलेखा ने भी यह देखा, और चीखकर दोनों हाथों से आँखें बन्द कर लीं। डाँड़ छूट गया, नौका धार की ओर वेग से बढ़ी।

विशालदेव आँखें फाड़कर ढह के अवकाश में जल की कुपित क्रीड़ा को देखता था; उसकी महाभयानक ध्वनि के साथ अपने हृदय के चीत्कार को एकाकार करता था। तभी सहसा उसे एक अत्यन्त मद्धिम स्वर सुनाई पड़ा। "बचाओ ! मुझे बचाओ विशालदेव !"

विशालदेव ने उधर शौण की फुंकारती लहरों को देखा। किन्तु चित्रलेखा की नौका कहीं दिखाई नहीं पड़ी।

चित्रलेखा के हाथ से डांड़ छूट गये थे। नौका धार में बढ़ी जा रही थी। उसका वेग भयानक हो उठा था, लहरों की चपेट में उसकी डगमग विकराल हो रही थी। किसी ओर भी किनारा दिखाई नहीं देता था।

विशालदेव भी अपार पीड़ा से अवसन्न-सा होकर वहीं बैठ गया। चित्रलेखा जाती है तो जाये।

चित्रलेखा की नौका बीच धार में पहुँचकर चक्कर काट रही थी। चारों ओर का दृश्य देखकर हृदय फटा जा रहा था। चित्रलेखा ने ऊपर देखकर प्रार्थना की, "हे भगवन् ! मुझे बचाओ।"

डोंगी भयानक आवर्त में पड़ गई थी। जल उसमें भर रहा था और वह वेग से चक्कर काटती थी।

चित्रलेखा मूर्च्छित होकर नाव में गिरी और नाव भीतर जल में चली।

गगन-मण्डल में बार-बार फैल उठने वाला अट्टहास जैसे इस बार और

भी वेग से हुआ। दिखाई पड़ा—अपार जल, शोण का तीव्र वेग, भयानक आवर्त, घनघोर वर्षा, न वहाँ कहीं नौका दीखती थी, और न तट पर भागता हुआ योगी।

सुनाई पड़ता था—किनारे से सिर धुनता हुआ जलनाद, वर्षा का शब्द, बादलों की गड़गड़ाहट। न वहाँ कहीं योगी की पुकार सुनाई देती थी, और न चित्रलेखा का प्रत्युत्तर!

शान्ति

बीजगुप्त के साथ यशोधरा की भाँवरें पड़ गईं।

विवाह-यज्ञ सम्पन्न हो गया।

वर-वधू दोनों ने अतिथि समुदाय में उपस्थित महाप्रभु रत्नाम्बर के चरणों में जाकर शीश झुकाया। उनका मुख प्रसन्नता के आवेग में मुदित हो रहा था। दोनों को हृदय से लगाकर उन्होंने कहा, "तुम दोनों सुखी रहो, परस्पर जीवन के पगों को सम्हाल कर एक दूसरे को सुख प्रदान करो! चिरंजीवी हो।"

बीजगुप्त और यशोधरा ने वह आशीर्वाद एक दूसरे की आँखों में देखकर जैसे स्वीकार किया। उन दोनों ने महाप्रभु को पुनः प्रणाम किया। फिर वह वहाँ से चले। साथ में श्वेतांक था। उसकी ओर देखकर बीजगुप्त ने कहा, "कितना अच्छा होता श्वेतांक? यदि इन मंगल क्षणों में योगी कुमारगिरि से भी हम दोनों को आशीर्वाद प्राप्त होता।'

श्वेतांक ने कुछ नहीं कहा।

बीजगुप्त ने ऊपर गगन में होते हुए शब्द और विद्युत की चमक से ही प्रकृति के विकराल वेश का अनुमान लगाया। उस क्षण बीजगुप्त उदास हो उठा।

प्रभात में श्वेतांक ने उसके समीप आकर कहा, "क्या मुझे योगी कुमारगिरि के आश्रम पर फिर जाना चाहिए?"

बीजगुप्त ने सिर हिलाकर नाहीं की। उसने कहा, "आर्य मृत्युञ्जय से कहो कि वह शीघ्र ही यशोधरा को प्रस्तुत करें। हम योगी का आशीर्वाद उसकी कुटी पर जाकर ही प्राप्त करेंगे।"

इसके पश्चात् बीजगुप्त को कुमारगिरि की कुटी की ओर प्रस्थान करने में विलम्ब नहीं हुआ। उसके साथ यशोधरा थी, श्वेतांक था, महाप्रभु

रत्नाम्बर तथा नगर के अनेक प्रतिष्ठित अतिथि थे।

प्रकृति का कोप शान्त हो गया था, आकाश में मेघ-मंडप तना था, किन्तु जल नहीं बरसता था। मार्ग स्वच्छ था; शोण तट पर योगी के आश्रम की ओर दौड़ते हुए उन लोगों के रथों से नद का दृश्य और भी अपूर्व लगता था; शब्द अत्यन्त प्रिय।

किन्तु बीजगुप्त जैसे अपने ही ध्यान में मग्न था। उसके रथ का सारथित्व श्वेतांक कर रहा था। बीजगुप्त कभी-कभी अपने पार्श्व में बैठी यशोधरा को देख लेता।

वह लोग उस धुलेहुए-से खँडहरों के ढूह के नीचे जाकर रुके। श्वेतांक सबसे आगे आश्रम में चला। बीजगुप्त, यशोधरा तथा महाप्रभु रत्नाम्बर पीछे के लोगों में सबसे आगे। जैसे वह बीजगुप्त और यशोधरा को घेर कर चल रहे थे।

श्वेतांक ने आश्रम में प्रवेश करके चारों ओर देखा—जैसे वहाँ एक भयानक स्तब्धता विराजती थी। उसने पुकारा, "विशालदेव!"

किन्तु वहाँ कोई नहीं बोला।

श्वेतांक ने कुछ आगे बढ़कर फिर पुकारा, "योगिराज!"

फिर भी कोई उत्तर नहीं।

श्वेतांक कुछ और आगे बढ़ा, कुमारगिरि की कुटी के चबूतरे पर चढ़ गया। उसने फिर बुलाया, "नर्तकी!"

बोला फिर भी कोई नहीं।

पीछे आने वाले तब आश्रम के आंगन में आगये थे। श्वेतांक की पुकार का कोई उत्तर न मिलते देखकर उनमें से मधुपाल आगे चला।

श्वेतांक ने कुटी में प्रवेश करके जो कुछ देखा तो सहसा उसके मुख से कुछ निकल नहीं सका। विशालदेव धरती पर औंधा पड़ा था। श्वेतांक ने उसके समीप बैठते हुए उसे झकझोरा, कहा "विशालदेव! विशालदेव!"

"क्या है?" विशालदेव के मुख से निकला।

"तुम्हें क्या हुआ विशालदेव?"

"और तुम्हें क्या हुआ है, जो तुम यहाँ आये हो।"

श्वेतांक को विशालदेव के व्यवहार पर क्रोध आया ? तो भी उसने संयत भाव से ही पूछा, "योगी कहाँ है ? चित्रलेखा कहाँ है ?"

"दोनों शोण की लहरों में समा गये।"

"कैसे ?"

उसी क्षण कुटी के भीतर बीजगुप्त और यशोधरा प्रवेश करने को सचेष्ट हुए। श्वेतांक और विशालदेव का वार्तालाप उनके कान में पड़ा। वह दोनों जहाँ के तहाँ ठिठक गये। पीछे और सभी रुके।

विशालदेव ने कहा, "चित्रलेखा बीजगुप्त से न जाने कैसा प्रतिशोध लेने जब संयान-पथ से भाग खड़ी हुई तो गुरुदेव उससे रुक जाने की प्रार्थना करते हुए उसके साथ-साथ नदी तट पर भागने लगे। उन्होंने अपनी धुन में नहीं देखा कि कहाँ चला जा रहा हूँ, एक जगह तट की ढाह टूट पड़ी, व. उसी के साथ जल में समा गये, उधर चित्रलेखा की नौका भी सम्भवतः किसी आवर्त में पड़कर बैठ गई।"

सुनकर श्वेतांक सहसा कुछ न कह सका। उसने कुछ काल तक विशालदेव की दशा को देखने के उपरान्त बाहर की ओर देखा, फिर विशालदेव से कहा, "फिर तुम क्यों इस तरह पड़े हो ?

यह बात जैसे विशालदेव के मर्म को और छू देने वाली थी। उसने हृदय में उमड़ती वेदना के अभिमान को दबाकर कहा, "रोता हूँ।"

"किसके लिये रोते हो ? क्या उस पापी कुमारगिरि के लिये ? उस नीच चित्रलेखा के लिये !"

विशालदेव ने सिर ऊपर नहीं उठाया, जैसे पड़ा था, उसी प्रकार बोला, "तुम भी ऐसा ही कहते हो श्वेतांक !"

"और क्या कहूँ विशालदेव ? सभी तो जानते हैं !"

"किन्तु जो मैं जानता हूँ, क्या वह व्यर्थ है ?"

"हाँ ! तुम उनके मोह में विकल हो रहे हो।"

"नहीं !" विशालदेव सहसा बैठकर चिल्लाया, "तुम यहाँ से चले जाओ।"

श्वेतांक सहम गया।

विशालदेव उठ खड़ा हुआ, उंगली से कुटी के द्वार की ओर संकेत करते हुए उसने कठोर वाणी में कहा, "तुम यहाँ से चले जाओ श्वेतांक ! एक नीच व्यक्ति के सेवक, तुम और कहोगे भी क्या ? चित्रलेखा को अपने पाश में जकड़ने के लिये जिसने हर क्षण कामुक का-सा व्यवहार किया, लोकधिक्कार के भय से जिसने चित्रलेखा के हृदय पर वज्रपात किया और यशोधरा के पीछे उसके प्रेम का तिरस्कार कर दिया, तुम उसी की तरह नीच न होगे तो क्या होगे ? यहाँ से चले जाओ।"

विशालदेव ने बाहर नहीं देखा, वहाँ कौन-कौन खड़ा था।

श्वेतांक ने उसके कठोर वचनों का उत्तर देना चाहा, पर सहसा महाप्रभु रत्नाम्बर ने भीतर आकर जैसे उसका मुँह बन्द कर दिया। उन्होंने विशालदेव से कहा, "क्या तुम अपना विवेक खो बैठे हो विशालदेव ?"

विशालदेव ने महाप्रभु रत्नाम्बर को देखा तो रो पड़ा। वह उनके चरणों में गिर पड़ा; उसकी हिलकियाँ बँध गईं।

श्वेतांक ने सिर झुका लिया।

बाहर बीजगुप्त खड़ा था, गम्भीर भाव से भीतर कुटी में देखता था। उसकी आँखों में भी आँसू आ गये।

यशोधरा ने कहा, "तुम रो रहे हो नाथ !"

बीजगुप्त ने अपने उत्तरीय से आँसू पोंछते हुए कहा, "रोना पड़ रहा है यशोधरा ? चित्रलेखा कितनी स्नेहमयी थी और कुमारगिरि कितना महान था।"

यशोधरा को विस्मय हुआ।

बीजगुप्त ने एक दीर्घश्वास वायुमण्डल में तिरोहित कर दी। किसी ओर मधुपाल का रुदन-स्वर वहाँ फैलने लगा था।

"तो तुम बीजगुप्त को घृणा करते हो !"

"हाँ गुरुदेव ! वह अपने ही लिए जीवित एक अधम मनुष्य है ।"

"और तुम्हारे हृदय में कुमारगिरि की कोई प्रतिष्ठा नहीं !" महाप्रभु रत्नाम्बर ने श्वेतांक से पूछा ।

"हाँ गुरुदेव ! मुझे उसकी मृत्यु का भी बिलकुल दुख नहीं । वह विषय वासनाओं का दास, जीवन की कठिनाइयों से मुख मोड़कर योग का ढोंग करने वाला कायर था; बहुत बड़ा पापी था ।"

अपने दोनों शिष्यों की बात सुनकर महाप्रभु रत्नाम्बर मुस्कराये । उन्होंने कहा, "तुम दोनों कैसे मोह से आच्छन्न हो गये हो ? जो जिसके पास रहा, वह उसी के गुण गाता है, जिसे जिसके कर्मों का निरीक्षण करते रहने का संयोग मिला, वह उसी को महान कहता है । किन्तु क्या तुम दोनों सत्य कहते हो ?"

"हाँ गुरुदेव !" दोनों ने एक स्वर में कहा ।

"किन्तु सत्य तो दो नहीं होते ।" महाप्रभु रत्नाम्बर ने कहा ।

दोनों शिष्य उनकी ओर देखते थे । आँखों में जैसे कुछ जिज्ञासा झलक आई थी । महाप्रभु न जाने क्या प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, जैसे उनके मन में यही कुतूहल जाग्रत हो उठा था ।

रत्नाम्बर ने गम्भीर दृष्टि से जैसे कहीं शून्य में दूर पर देखते हुए कहा, "तुम दोनों ही भ्रमित हो गये हो, उसी तरह से जैसे भ्रमित हुआ मनुष्य यह मान लेता है कि मैं कर्ता हूँ ।"

श्वेतांक और विशालदेव उसी प्रकार बैठे रहे । निश्चल ! एकटक अपने गुरुदेव को देखते हुए ।

महाप्रभु रत्नाम्बर ने आगे कहा, "अपने-अपने सुख की खोज में यहाँ कौन नहीं भटकता ? सुख प्राप्ति का यत्न करता हुआ कोई जब अपने कर्मपाश में पीड़ित हो उठता है तो जैसे वह उससे मुक्ति पा लेना चाहता है और

किसी विभिन्न प्रकार की कर्मलीला में विचर कर अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने को उद्यत दीखता है। इस प्रकार से मूढ़ात्मा निष्कर्मता को भी प्राप्त हो जाने का ढोंग करते हुए देखे जाते हैं और अहंकारवश कर्ताभाव लेकर घूमने वालों का यहाँ क्या अभाव? किन्तु न तो किसी से कर्मों का त्याग ही संभव है, और कोई कुछ करता है, न यही सत्य है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥*
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥×

यहाँ कोई कुछ भी नहीं करता; वह वह करता है, जिसे करने के लिए वह विवश है। अनेकों संयोग और वियोग मनुष्य के सामने स्वतः ही प्रकट होते हैं, उसके हृदय में उन्हीं के अनुरूप न जाने कितनी इच्छायें उठ खड़ी होती हैं; वह उन्हों के अधीन होकर कर्म करता है। फिर तुम सोचो किसी के किस कर्म को तुम पाप-कर्म कहोगे और किसे पुण्य-कर्म! कौन तुम्हारी दृष्टि में पापी रह जायगा और कौन पुण्यात्मा?"

विशालदेव और श्वेतांक ने एक दूसरे की ओर देखा।

महाप्रभु रत्नाम्बर अपने आसन से उठ खड़े हुए। उन्होंने फिर कहा, "न कुमारगिरि ही पापी था श्वेतांक! और न बीजगुप्त ही अधम विशालदेव! उन्होंने जो कुछ भी किया है, तुमने उन्हें जो कुछ भी करते हुए समझा है, वह विवश हुए-से स्वतः ही चलने वाले प्रकृति के कार्य व्यापार की तरह करते गये हैं।"

उनके दोनों शिष्यों ने यह सुनकर एक दीर्घश्वास खींची और उसे धीरे-धीरे त्याग दिया।

श्रीमद्भगवद्गीता { अध्याय ३, (५)*
अध्याय ३, (२७)×

रत्नाम्बर ने कहा, "विस्मय मत करो ! तुम जिस संसार में रहकर कुछ अनुभव कर आये हो, आज के उपरान्त तुम्हें फिर उसी में भटकना है; अनेक प्रकार के कर्म करने हैं, और विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में विचरना है; न जाने कितने अनुभव करने होंगे तुम्हें वहाँ, और तुम्हारे मन में न जाने कितने प्रकार के विचारों की भीड़ लग जाया करेगी ! हर्ष और शोक, स्नेह और घृणा सभी से परे रहकर तुम उसका समादर करना ! यही मेरा उपदेश है।"

विशालदेव और श्वेतांक, दोनों ने गुरु चरणों में शीश नमा दिया महाप्रभु रत्नाम्बर ने उन्हें आशीर्वाद देने को दक्षिण हाथ उठाया।

* समाप्त *